आपका व्यक्तित्व जितना प्रभावक था वक्तृत्व भी उतना ही प्रभावक था। आपकी वक्तृत्व शैली सरल, सरस व मर्मस्पर्शी थी, श्रोताओ को चुम्बक के समान आकृष्ट करती थी। आप जीवन के हर पक्ष की इस ढग से व्याख्या करते थे कि श्रोताओ को ऐसा अनुभव होता था कि मानो उन्ही के मन का समाधान किया जा रहा है।

आपके प्रवचनो मे गम्भीर सिद्धान्तो को भी अत्यन्त सरल भाषा व सुगम शैली मे समझाया गया है। प्रत्येक प्रवचन प्रभावकारक, प्रेरणा प्रदायक एव रोचक है तथा अत करण को छूता हुआ चलता है। प्रवचन इतने मधुर, सरस व हृदयस्पर्शी है कि एक बार पढना प्रारम्भ कर देने पर तब तक उन्हे छोडने का मन नही होता है जब तक कि वे पूरे पढ नही लिए जाते है। पढते समय पाठक आनन्द मे निमग्न हो जाते है।

आपके प्रवचनो मे जीवन की दु खद-दशाओ एव उलझी हुई गुत्थियो से मुक्ति पाने का पथ-प्रदर्शन बडी ही सरल युक्तियो से किया गया है। उन युक्तियो का सार प्रवचनो के प्रवाह मे यत्र तत्र-सूत्र रूप मे मिलता है। उन्ही सूत्रो व सूक्तियो का सकलन कर उन्हे प्रस्तुत ग्रन्थ का रूप दिया गया है। इन सूक्तियो मे जीवन के व्यापक अनुभवो का सार, नीति वाक्यो का निचोड, ज्ञान का नवनीत सन्निहित है। ये सूक्तियाँ मार्गदर्शन तो करती ही है साथ ही निराशा और विपत्ति के क्षण मे स्फुरणा, प्रेरणा एव प्रबल बल भी देती है। जीवन की जटिल से जटिल समस्याओ को बात की बात मे सुलझा देने की विशेषता भी इन सूक्तियो मे निहित है। सद्ग्रन्थो के सैकडो पृष्ठो को पढने और सदुपदेशक के घण्टो व्याख्यान श्रवण का जितना प्रभाव पडता है उससे भी अधिक प्रभाव डालने मे समर्थ गुरुदेव की सूक्तियाँ है। इनका प्रभाव सीधा हृदय पर पडता है जो तडित-तरग की भाँति सारे तन व मन को झकृत व प्रफुल्लित कर देती है। ये सूक्तियाँ वे बहुमूल्य मणियाँ हैं, जिन्हे हृदय मे सजोये रखने से अवसर आने पर अमूल्य निधि का काम देती है। ये विकारो के विनाश करने में अमोघ औषधि के समान है। ये सूक्तियाँ वे सीढियाँ है जिन पर चढ कर स्वर्ग व अपवर्ग में पहुँचा जा सकता है। वस्तुत. ये सूक्तियाँ जीवन-व्यवहार मे पग-पग और पल-पल पर पथ-प्रदर्शन का काम देने वाली हैं,

पतन के गर्त में गिरने से बचाने वाली है, उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाली है, आशा उत्साह व प्रेरणा का संचार करने वाली है।

प्रस्तुत संकलन में सूक्तियों का विषयवार वर्गीकरण किया गया है तथा इन्हें इस प्रकार क्रम-बद्ध किया गया है कि पाठकों को प्रवाहपूर्ण निबन्ध के पढ़ने जैसी रसानुभूति होती रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सूक्तियों का संकलन अभी तक प्रकाशित दिवाकर दिव्य ज्योति के बीस भागों से ही किया गया है। इन सब भागों का प्रकाशन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय ब्यावर से हुआ है। इन प्रवचन पुस्तकों का सम्पादन समाज के मान्य मूर्धन्य विद्वान श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने बड़ा ही सुन्दर किया है। प्रस्तुत संकलन का सम्पादन व वर्गीकरण समाज के उदीयमान लेखक गम्भीर चिन्तक व अनेक विषयों के विद्वान श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा ने किया है। मैंने तो संकलन सेवा ही की है। मुझे आशा है कि जीवन-निर्माण में यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी व बहुमूल्य प्रमाणित होगा। यह संकलन कैसा बन पड़ा है इसका निर्णय तो पाठक स्वयं कर सकेंगे।

कानपुर
जन्माष्टमी

अकिंचन
—अशोक मुनि

पुण्य-स्मृति में सहयोग

धर्म-प्रेमी श्रावक श्री शोभाचन्द जी मकाना की पुण्य-स्मृति मे, उनकी धर्मपत्नी धर्मानुरागिनी श्रीमती सायरबाई मकाना की ओर से प्रदत्त अर्थ-सहयोग से प्रकाशित ।

शतशः धन्यवाद !

अनुक्रम

ॐ

दिवाकर-रश्मियाँ

दान

१

किसी वस्तु पर से अपनी ममता हटा कर स्व-पर-कल्याण के लिए उसे अर्पित कर देना दान कहलाता है। दान धर्म की महिमा बड़ी विशाल है।

२

जो पहले बोया उसे अभी खा रहे हो और जो अब बोओगे उसे आगे खाओगे। जो बोएगा ही नहीं वह क्या पाएगा? अतएव दान न देते होओ तो अब देना आरम्भ करो और यदि देते हो तो देते समय निहोरा न कराओ। यह मत सोचो कि मैं दान देकर दानपात्र पर एहसान कर रहा हूँ। बल्कि यह विचार करो कि यह दान को ग्रहण करने वाला मुझे पुण्य का अवसर दे रहा है। तुम स्वयं उसके प्रति कृतज्ञ बनो। ऐसी भावना रखने से तुम्हारे दान का फल कई गुणा प्रशस्त हो जाएगा।

३

अरे जो सम्पत्ति आज तुझे मिली है वह एक न एक दिन तो जाने वाली ही है। सदा तेरे पास नहीं रहेगी। फिर उसे दान देकर भविष्य में पाने का अधिकारी क्यों नहीं बनता? परलोक में पूंजी को साथ ले जाने का एक ही तरीका है और वह यही कि तू उदार भाव से प्रेमपूर्वक दान दिये जा।

४.

वर्णमाला मे ५२ अक्षर है। उनमें से एक अक्षर नरक का विरोधी है और दूसरा मोक्ष का विरोधी है। वह दो वर्ण है—"द" और "ल"। दान दो, वस्त्र दो, मकान दो और अभय दो ···· ··यह सब नरक के विरोधी है और "लाओ" "लाओ" मोक्ष का विरोधी है अर्थात् धन लाओ, वस्त्र लाओ, स्त्री लाओ, इस 'लाओ' की लालसा मे मोक्ष का विरोधी होता है।

५.

भाइयो ! यह बात समझने योग्य है कि दान देना उधार देना है और पाप करना कर्ज लेना है। इन दोनो का ही बदला मिलता है। जितना-जितना दान-पुण्य करोगे, उतना-उतना ही पाओगे और जितना-जितना पाप करोगे, उतना-उतना ही चुकाना पड़ेगा।

६.

दान मे ममत्व के त्याग की एव परोपकार की भावना ही मुख्य रूप से होनी चाहिए। कीर्ति की कामना से प्रेरित होकर, वाह-वाह लूटने के लिए, जो दान दिया जाता है, वह दान अशुद्ध हो जाता है। जो अपने दान का अधिक से अधिक विज्ञापन चाहते है, अखबारो मे मोटे-मोटे टाइपो मे अपना नाम छपा देख कर फूले नही समाते। उनका इस प्रकार कीर्ति और प्रतिष्ठा के लिये दिया हुआ दान वैसा फल प्रदान नही करता जैसा कि करना चाहिए।

७.

सच्चा दान देना तो ममता का त्याग करना है। ममता का त्याग कर दिया तो फिर उसका बदला पाने की कामना क्यो करते हो ? अगर कामना करते हो तो तुम्हारा दान अशुद्ध है, वह सच्चा दान नही है। देने पर मिलेगा तो अवश्य ही, मगर पाने की कामना करने से उतना नही मिलेगा जितना कि मिलना चाहिए। अतएव विवेकवान् पुरुष ऐसा विचार नही करते।

८

भाइयो ! यों तो सभी दान उत्तम हैं किन्तु इन सब में जीवन की दृष्टि से आहार-दान का विशेष महत्व है। संसारी जीवों के प्राणों का आधार आहार है। आहार देना एक प्रकार से जीवन देना है। आहार के अभाव में जीवन नहीं टिक सकता और धर्म क्रियाएँ करने का भी अवकाश नहीं रहता।

९

ज्ञानी जन समस्त दानों में अभय दान को उत्तम कहते हैं। अभय दान की तुलना में न गायों का दान ठहरता है न भूमि का दान ठहरता है और न अन्न का दान ही ठहर सकता है।

गाय भूमि और अन्न आदि सब वस्तुएँ प्राणों के लिए हैं। प्राण रह जाएँ तो इन सब वस्तुओं का मूल्य है, प्राण न रहें तो सब वृथा है। अतएव स्पष्ट है कि प्राणी के सामने प्राण ही प्रधान वस्तु है और इसलिए प्राण रक्षा करना अथवा किसी को अभयदान देना ही सबसे बड़ा दान है।

१०

अभयदान सब प्रकार के दानों में उत्तम दान माना गया है। प्राणों की रक्षा अभयदान है और प्राण सबको सबसे अधिक प्रिय होते हैं। जो वस्तु जितनी प्रिय है उसका दान उतना ही अधिक महत्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि भगवान ने स्वयं अभयदान को सब दानों में उत्तम कहा है।

११

धन-धान्य आदि पदार्थों का संग्रह करना पाप है। उस पर उसकी ममता भी होती है। अतएव ममता का त्याग करना प्रत्येक के लिए उचित है। उन पदार्थों के उपार्जन और संरक्षण आदि में आरम्भ समारम्भ आदि से उत्पन्न हुए पापों का प्रक्षालन करने के लिए भी दान धर्म का सेवन करना आवश्यक है।

१२

कृपण और लोभी के हाथ से दान नहीं दिया जाता। दान उदार

रता का लक्षण है। जिसमे यह लक्षण होगा, उसमे धर्म के अन्यान्य लक्षण भी स्वत. आ जाते है। उदारता के साथ क्षमा, निर्लोभता आदि गुण स्वय खिचे चले आते है।

१३.

शास्त्रो का दान देना, निर्ग्रन्थ प्रवचन अथवा दूसरे ग्रन्थो का दान देना, जिससे जनता का अज्ञान दूर हो सके, ज्ञानदान कहलाता है। बहुत-से लोग लड्डू, बताशा, नारियल आदि की प्रभावना करते है; मगर सच्ची प्रभावना जिन-शासन के सम्बन्ध मे फैले हुए अज्ञान को दूर करने मे है।

१४.

दान देकर न पश्चात्ताप करना योग्य है, न अभिमान करना और न ऐहसान समझना ही उचित है। वास्तव मे अभिमान या ऐहसान की वात भी क्या है ? किसान खेत मे वीज वोकर अभिमान क्यो करे, ऐहसान किस पर करे ! उसने अपने ही लाभ के लिए वीज वोया है।

१५

दानी जगत को अपने वश मे कर लेता है। दाता देवता को भी अपनी मुट्ठी मे करके उससे इष्ट कार्य करा लेता है। अतएव दान देना मनुष्य का वडा भारी गुण है।

१६

जैसे वड का छोटा-सा बीज जमीन मे वोया जाता है, किन्तु पानी का सयोग पाकर कालान्तर मे वह हजारो को छाया देने वाला विशाल वृक्ष वन जाता है, उसी प्रकार आहार दान देने से पुण्य का वीज भी विशाल रूप ग्रहण करके फल देता है।

१७

दान देने से आपको किसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पडता हो तो भी मैं यही कहूँगा कि आप उस कठिनाई को सहन करके भी दान दीजिए। दान के प्रभाव से आपकी कठिनाइयाँ उसी प्रकार विलीन हो जाएँगी जिस प्रकार प्रवल आँधी के वेग से मेघ की घटाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती है। याद रखिए, दान महान् फलदायी होता है।

१८

जो लोग धर्मात्मा को सहायता नहीं देते और पापियों के सामने अपनी थैलियों के मुँह खोल देते हैं वे क्या कर रहे हैं? याद रखो वे पत्थर की नाव पर बैठे हैं और उनके डूबने में देर नहीं लगेगी। उनका कहीं पता भी नहीं चलेगा।
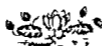
शील

१.

जिस कार्य से शीतलता की प्राप्ति हो, वही शीलव्रत है। जो कुशील को सेवन न करता हुआ सुशीलता को धारण करता है, वह सहज ही आवागमन की परम्परा रूप भवाटवी को उल्लघन करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

२.

किसी प्राणी के साथ द्रोह या वैर-विरोध न करना निवृत्ति है और अनुग्रह करना तथा दान करना प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति और निवृत्ति के मेल से शील का स्वरूप परिपूर्ण होता है। शील रूपी रथ के यह दो चक्र हैं। इन्ही से शीलरथ अग्रसर होकर शीलवान् को अपने लक्ष्य तक पहुँचाता है।

३

जैसे कल्पवृक्ष सभी चिन्तित और अभिलपित पदार्थो का दाता है, उसी प्रकार शील से भी सभी इष्ट पदार्थो की प्राप्ति होती है।

४.

इस ससार मे शील के समान शान्ति और विश्रान्ति देने की शक्ति किसी मे भी नही है। इस लोक मे भी और परलोक मे भी शील से अनन्त शान्ति प्राप्त होती है।

फटक सकते । इस दवा का सेवन करने से निरजन पद की प्राप्ति होती है और अनन्त, अक्षय एव अव्याबाध आनन्द भी प्राप्त होता है ।

७.

लोग समझते है कि आग मे वस्तुओ को जला देना यज्ञ है, परन्तु नही, यज्ञ तपश्चर्या का नाम है, जिसमे पापों को जलाकर भस्म किया जाता है और जिससे आत्मा निर्मल हो जाती है ।

८.

जिसने मूर्खतावश भग पी ली है, वह उसके नशे से बचना चाहे तो दुनिया मे ऐसी भी चीजे मौजूद है, जिनके सेवन से नशा नही चढता । इसी प्रकार बद्ध कर्मो को निष्फल बनाने के लिए भी भगवान् ने एक उपाय बतलाया है और वह उपाय है—तपश्चरण करना ।

९.

कई लोग जप करते है और कहते है—महाराज, हमे जप करते-करते इतने वर्ष हो गये, मगर अभी तक कोई सिद्धि प्राप्त नही हुई । मगर उसे समझना चाहिये कि उसने जप तो किया है मगर जप के साथ तप नही किया । तप के बिना सिद्धि कैसे हो सकती है ? दुनिया मे इसीलिये जप तप के साथ लगा है ।

१०

ससार मे जितने भी महात्मा हो गये है और जिनकी महिमा का जगत मे विस्तार हुआ है उन सबने तपश्चरण किया था । तपश्चरण के बिना आज तक कोई भी पुरुप महात्मा नही बन सका तो परमात्मा बनना तो दूर रहा ।

११.

किसी भी महापुरुप का जीवन लीजिए—आपको सब मे एक ही बात मिलेगी । मानो सबकी जीवनी एक ही चक्र पर घूमती है । वह चक्र है तपस्या का । प्रत्येक महापुरुप के जीवन मे तप का ही तेज उद्भासित होता है । महापुरुप का परिचय अर्थात् तप की शक्ति का परिचय । तपस्या के प्रताप से महापुरुप का जन्म होता है । तप के प्रताप से ही वह अलौकिक कृत्य करके दिखलाते है ।

१२

प्राचीन उदाहरण सैकड़ो की ही नही, सहस्रो की संख्या में मौजूद हैं। पर तपस्या के प्रभाव को आज भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कलकत्ता में और दूसरे स्थानों में गांधीजी ने अपने जीवन में कई बार उपवास किये। उन्होंने भोजन त्याग दिया। उसके प्रभाव से कठोर से कठोर और पापी से पापी मनुष्यो के हृदय भी पिघल गये। उन्हें भी तपस्या के सामने झुकना पड़ा।

१३

स्वेच्छापूर्वक, पारमार्थिक दृष्टि से कष्टों को सहन कर लेना तप है। तप का बहिष्कार करने का मतलब यह होगा कि जब कोई कष्ट आवे तो उसे स्वेच्छापूर्वक सहन न किया जाय। सहन न करने मात्र से कष्टो का आना तो रुक नहीं जायगा, तप को त्याग देने से सहन करने की शक्ति अवश्य नष्ट हो जायगी। ऐसी स्थिति में जीवन कितना क्लेशमय और दीनतामय हो जायगा यह कल्पना ही बड़ी भयावह है!

१४

भगवान ने उपवास की तपस्या को महत्व देने के लिए बाह्य तपो में अनशन तप को सबसे पहले गिना है। गृहस्थो के लिए भी अष्टमी चतुर्दशी और पक्खी के दिन उपवास करने का विधान है। अनशन करने से आत्मा की शुद्धि होती है, कर्मों की निर्जरा होती है, इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, मन पर काबू प्राप्त किया जा सकता है, खान पान से होने वाले प्रमाद को दूर किया जा सकता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर भगवान तीर्थंकर ने अनशन तप पर विशेष रूप से बल दिया है।

१५

तपस्या में लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार का फल प्रदान करने की प्रबल शक्ति है। लौकिक प्रयोजन के लिए की गई तपस्या लौकिक कार्य को सिद्ध करती है और लोकोत्तर आध्यात्मिक प्रयोजन के लिए की जाने वाली तपस्या से लोकोत्तर प्रयोजन की सिद्धि होती है। घोर तपस्या कभी निष्फल नहीं जाती है।

भावना

१.

जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है।

२.

भाइयो ! जो चित्त की चपलता का निरोध कर देता है, मन को इधर-उधर नही भटकने देता और जो आत्मा के गुणो मे ही रमण करता है, वह मनुष्य ससार-सागर से पार हो जाता है।

३.

मानसिक विचार ही मनुष्य को डुबोने वाले और उबारने वाले है। अगर आपका विचार शुद्ध होगा तो उच्चार भी शुद्ध होगा और विचार एव उच्चार शुद्ध होगा तो आचार भी शुद्ध होगा।

४.

दान, शील और तप के साथ भावना को जो अन्त मे स्थान दिया गया है, वह इसीलिए कि दान आदि का फल अन्त मे भावना के अनुसार ही प्राप्त होता है। 'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी' जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। सद्भावना के बिना कोई भी क्रिया पूर्ण फलदायक नही होती।

५.

मन चिन्तामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान् है। क्योकि चिन्तामणि चिन्तित पदार्थ की पूर्ति करती है परन्तु चिन्तन तो मन से ही किया जायगा ! मन न होगा तो किससे इष्ट पदार्थ का चिन्तन करोगे ? चिन्तामणि की उपयोगिता की पहचान कराने वाला भी मन ही है। अतएव मन उससे भी अधिक मूल्यवान् सिद्ध होता है। वह भाग्योदय से आपको सहज ही प्राप्त है फिर भी उसका दुरुपयोग क्यो करते हो ? मन का दुष्प्रणिधान करना चिन्तामणि से कपाल ने की अपेक्षा भी अधिक मूर्खता है।

११.

अगर सचमुच भलाई चाहते हो तो दिल को साफ करो। हृदय को पवित्र भावनाओ के जल मे स्नान कराओ। तुम चाहे कही किसी भी तीर्थ मे जाकर नहालो, गंगा, यमुना या पुष्कर मे गोते मार आओ, किन्तु जब तक दिल साफ नही है तो आत्मा का कल्याण होने वाला नही।

१२.

मन के द्वारा किया हुआ पाप ही पाप कहलाता है। मन के सहयोग के विना केवल शरीर द्वारा किया गया आचरण पाप नही। लोक व्यवहार मे ही देखो। शरीर से जिस प्रकार प्रियतमा का आलिगन किया जाता है, उसी प्रकार पुत्री का भी आलिगन किया जाता है। शारीरिक क्रिया से कोई अन्तर नही होता, किन्तु मन मे अन्तर होता है। यही कारण है कि दोनो की भावना मे अन्तर होने से एक क्रिया लोक मे दूसरी दृष्टि से देखी जाती है और दूसरी क्रिया दूसरी दृष्टि से। दोनो मे कितना अन्तर है? यह अन्तर मनोभावना के कारण ही है।

१३

वैद्य समझता है कि अगर यह वीमार व्यक्ति अन्न खाएगा तो इसका रोग वढ जायगा ऐसा समझ कर वह रोगी को अन्न नही खाने देता। दूसरा आदमी द्वेषभाव से, भूखा रख कर मार डालने के विचार से किसी मनुष्य को अन्न नही खाने देता। मोटे तौर पर दोनो का काम समान मालूम होता है। पर दोनो अन्न खाने से रोकने वालो की भावना मे वडा अन्तर है। एक जीवित रखने की भावना से रोकता है और दूसरा मार डालने की भावना से रोकता है। जवकि दोनो की भावनाएँ विलकुल भिन्न-भिन्न है, एक-दूसरी से एकदम विपरीत है, तो क्या दोनो को समान फल की प्राप्ति होगी? नही, ऐसा कदापि नही हो सकता। प्रकृति के राज्य मे ऐसा अंधेर नही है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है। मुनिजन कल्याण भावना से प्रेरित होकर, पाप-कर्मो के त्याग का उपदेश देते

१६

भाइयो ! याद रखो कभी किसी का अनिष्ट न करो और न सोचो। दूसरो का अनिष्ट करना अपना ही अनिष्ट करना है। दूसरो का अहित सोचने से उनका अहित हो ही जायगा, यह कौन कह सकता है ? परन्तु सोचने वाले का अहित होने मे लेश मात्र भी शका नही है। श्री कृष्ण को मारने के लिए कस ने कितने प्रयत्न किये परन्तु कृष्ण जी का बाल भी बाँका न हुआ। जिसे मारने का प्रयत्न किया था, उसी के हाथो से कस मारा गया अतएव कभी किसी का बुरा मत सोचो।

२०.

अशुभ विचार करने से विचार करने वाले का ही अहित होता है। बिल्ली के कहने या चाहने से छीका तो टूट नही सकता। किसी के चाहने से कोई दरिद्र या दु खी नही हो सकता। इसके विपरीत दूसरो का बुरा चाहने वाला अपना बुरा स्वय ही कर लेता है।

२१.

आर्त्तध्यान करोगे तो क्या पाओगे ? प्रथम, तो दुःख भोगते समय ही आर्त्तध्यान के कारण वह दु ख अत्यन्त दुस्सह प्रतीत होगा, उसकी उग्रता बढ जायगी। दूसरे, तुम्हारी सहन शक्ति का ह्रास हो जायगा। तीसरे, भविष्य के लिए पुन अशुभ कर्मो का बन्ध होगा। अतएव जब दु ख सहना अनिवार्य हो तो हिम्मत रखो, दृढता रखो, समभाव को मत खोओ।

२२.

जगत के प्रत्येक जीव के साथ पुण्य और पाप लगे हुए है और पुण्य-पाप का मुख्य आधार जीव के परिणाम है। अतएव इस बात का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि बुरे विचार कभी उत्पन्न न हो सकें।

२३

मनुष्य का जीवन यथार्थ मे उसकी आन्तरिक भावनाओ से ही

२८.

जीव की जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है।

२९.

जिसे अपनी गति सुधारनी है उसे अपनी मति सुधारनी चाहिए और जिसे मति सुधारनी है उसे अपना जीवन सुधारना चाहिए।

३०

असली लाल रंग चढेगा तो वढिया मलमल पर ही चढ़ेगा। उत्तम मलमल केसरिया रग मे डालते ही सुन्दर रंगी हुई दिखने लगती है, उसी प्रकार स्वच्छ हृदय वाले पर धर्म का सुन्दर रग चढता है। जो मलमल के समान प्राणी है उन पर वीतराग देव की वाणी रूप केसरिया रग तत्काल ही चढ जाता है। किन्तु जैसे मलिन वस्त्र पर रग नही चढता उसी प्रकार मलिन चित्त मनुष्य का मन भी धर्म के रग में नही रंगता। वडा मुश्किल हो जाता है उनके चित्त पर धर्म का रग चढना। इस रग मे रंगने के लिए पुण्य की आवश्यकता होती है।

३१.

त्रिफला की फाँकी लेना सुखद नही जान पडता किन्तु जब पेट स्वच्छ हो जाता है और भोजन की रुचि वढ जाती है और तवीयत हल्की महसूस होती है तो कितनी प्रसन्नता होती है! इसी प्रकार अन्त.करण को शुद्ध करने के लिए त्रिफला के समान जब रत्नत्रय का सेवन किया जाता है, तपस्या और सयम की आराधना की जाती हे तव कष्ट होता है किन्तु उस कष्ट को कष्ट न समझकर जो समभाव रखते है उन्हे केवलज्ञान आदि फल की प्राप्ति होने पर कितना आनद मिलता है!

३२.

मन मन्त्र पर सवार रहता है, परन्तु मन पर सवार होने वाला कोई विरला ही माई का लाल होता है। मगर धन्य वही है और सुखी भी वही है जो अपने मन पर सवार होता है।

भावना जितनी उच्चकोटि की होगी, मुख-मण्डल का सलोनापन भी उसी उच्चकोटि का होगा।

३८

अपने मन मे जैसे विचार होंगे, वैसे ही दूसरे के विचार हो जाएँगे। अगर आपके हृदय मे जगत् के समस्त जीवो के प्रति मैत्री का भाव उत्पन्न हो गया है और शत्रुता के लिए किसी भी कोने मे जरा भी अवकाश नही रहा है तो समझ लीजिए कि सारा जगत् आपको भी मित्र भाव से देखेगा। आपको किसी से भय खाने की आवश्यकता नहीं है।

३९

भलाई के विचार वडी कठिनाई से आते है, लेकिन बुरे विचार आने मे देर नही लगती। महल बनाने मे वर्ष वीत जाते है, मगर गिराने मे क्या देर लगती है ?

४०

भावना के प्रभाव से केवलज्ञान और मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। अतएव जो वने सो करो और जो न वन सके उसके लिए भावना रक्खो तो भी आपका कल्याण होगा।

४१

यद्यपि पानी मे कटुकता नही है, नशा उत्पन्न करने का गुण नही है और मारने की शक्ति भी नही है फिर भी अफीम के संसर्ग के कारण उसमे यह सव उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार दान, शील, तप, भावना, व्रत, प्रत्याख्यान आदि स्वभावतः अशुद्ध नही है, किन्तु अशुद्ध श्रद्धा के कारण ससर्ग-दोप मे उनमे अशुद्धता आ जाती है।

४२.

जिसकी धारणा जैसी वन जाती है, वह सभी घटनाओ को और सभी तथ्यो को उसी रूप मे ढाल लेता है। जिसकी आँखो पर जैसे रंग का चश्मा लगा होगा उसे सव वस्तुएँ उसी रंग की दिखाई देने लगेंगी।

४३

प्रायः लोग भय से ग्रस्त होकर ही अपने मन में भूत-प्रेत की कल्पना कर लेते हैं और उनकी भावना का भूत ही उन्हें क्षति पहुँचाता है। भावना में बड़ी शक्ति है। यह भूत न होने पर भी भूत को खड़ा कर लेती है, मनुष्य को विक्षिप्त बना देती है और ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है जैसी कि वास्तविक भूत भी नहीं पैदा कर सकता। यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता ही है।

४४

पाप कर्म का उपार्जन मन से ही किया जाता है, तन से नहीं। जिस प्रकार से पापों का आलिंगन किया जाता है, उसी प्रकार से पुण्यों का भी आलिंगन किया जाता है। मगर दोनों के आलिंगन में भावना का कितना महान् अन्तर होता है!

४५

खोटे काम सूझते हैं जब खोटे दिन आ जाते हैं।

अहिंसा

१.

दया धर्म के बिना धर्म कैसा ? सब धर्मो का मूल दया है। जहाँ दया नही वहाँ धर्म नही। दया के विकास के लिए ही अन्य सब धर्मो का विधान है।

२.

जैसे आप सुख चाहते है वैसे ही अन्य प्राणी भी सुख चाहते हैं और जैसे आप दुःख से बचना चाहते है, उसी प्रकार अन्य समस्त प्राणी भी दुःख से बचना चाहते है—ऐसा समझकर अन्य प्राणियों के प्रति व्यवहार करो। यही अहिसा धर्म है। यही शाति का मार्ग है।

३.

मन से, वचन से और शरीर से किसी को पीडा मत पहुँचाओ। निश्चित रूप से समझ लो कि दूसरो को पीडा पहुँचाना अपने लिए दुःखो का बीज बोना है और दूसरो का दुःख मिटाना अपना दुःख मिटाना है।

४

अगर स्वय सुखी बनना चाहते हो तो दूसरो को सुखी बनाओ। दुःख से बचना चाहते हो तो दूसरो को दुःख से बचाओ। अपना कल्याण चाहते हो तो दूसरो का कल्याण करो।

५

हे भव्य जीवो ! यदि तुम सुखी रहना चाहते हो तो किसी के सुख मे बाधक मत बनो। यदि तुम अपने लिए दुःख को अनिष्ट समझते हो तो दूसरो को दुःख न पहुँचाओ। जिस प्रकार स्वय जीवित रहना चाहते हो, उसी प्रकार सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। कोई मरना नही चाहता। अतः किसी के प्राणों का वियोग मत करो।

है । वह दुनिया मे हिकारत की निगाह से देखा जाता है । उसे लोग घृणास्पद समझते है । क्या तुम ऐसे वनाना चाहते हो ?

११.

मृत्यु को वही जीत सकता है जो मृत्यु से डरता नही है और जो जीवन और मरण को समान भाव से अपनाने के लिए तैयार रहता है । मृत्यु को वही जीत सकता है जो छोटे-बड़े समस्त प्राणियो की अपने निमित्त से होने वाली मृत्यु से वचता रहता है जो स्वय मर कर भी दूसरो को मृत्यु से वचाता है, वही मृत्यु-विजेता वन सकता है । मौत की कल्पना से ही काँपने वाला कव मौत से वच सकता है ? जो अपने प्राणो की रक्षा के लिए दूसरे के प्राण हरण करता है, वह अपनी मौत को न्यौता देकर निकट बुलाता है । उसे एक वार नही, वार-वार मौत का शिकार वनना पडता है ।

१२.

किसी को अधिकार नही कि वह तुम्हारे प्राण रूपी परम धन को लूटे, उसी प्रकार तुम्हे भी अधिकार नही कि तुम किसी के प्राणो के ग्राहक वनो । सव इस नीति का अनुसरण करोगे तो सभी सुखी रहोगे । इसके विरुद्ध व्यवहार करोगे तो भूतल कत्लखाना वन जायगा । ससार अशान्ति का घर हो जायगा । हिसा चाहे पेट पालने के लिए की गयी हो, चाहे जिह्वा-लोलुपता के वशीभूत होकर की गयी हो, चाहे धर्म के नाम पर की गयी हो हर हालत मे पाप है और हिस्य तथा हिसक दोनो को अशान्ति और व्यथा देने वाली है ।

१३.

भाइयो । पर-प्राणी के प्राणो को अपने ही प्राणो के समान समझो । किसी के प्राण मत लूटो । जीओ और जीने दो । इस सुनहरे सिद्धान्त को यदि ससार स्वीकार कर सके तो जगत् मे अपूर्व शान्ति का सचार हो जाय । फौज, पुलिस, कारागार, न्यायालय और वकील की आवश्यकता ही किसी को न रह जाय ।

१४.

जैसे आग से आग शान्त नही होती, उसी प्रकार हिंसा से हिंसा

२१.

आप अपने अन्त.करण मे करुणा का विमल स्रोत वहाओ और श्रद्धा रक्खो कि दूसरे प्राणियो पर की हुई करुणा वस्तुत. अपनी ही करुणा है ऐसा करने से आपका कल्याण होगा, आप गुणी वनेगे । अव-गुणो से वच जायेंगे, प्रभु के समीप पहुँचेगे और भगवान की शरण मे पहुँच कर, अन्त मे स्वय ही भगवान वन जाएँगे ।

२२.

जो प्राणी मात्र पर करुणा भाव रखता है वह मनुष्य के रूप मे देवता है । जो मनुष्य, मनुष्य-मात्र पर दया करता है वह मनुष्य है। जो मनुष्य होकर भी मनुष्य पर दया नही रखता उसमे मनुष्यता नही है वह मनुष्य के रूप मे पशु से भी वदतर है । और जो मनुष्य, मनुष्य से घृणा-द्वेप रखता है, उसके विपय मे क्या कहा जाय ?

२३

भाइयो ! जव किसी दु खी को देखो तो उसका दु ख दूर करने की शक्ति भर कोशिश करो अन्यथा वड़े होने का क्या सार निकला ?

२४.

सच्चा अहिसक वीरता दिखलाने के अवसर पर कायरता का आश्रय नही लेता । कायर मे अहिंसा की सच्ची भावना होती ही नही है । वह तो अपनी कायरता को अहिसा के पर्दे मे छिपाने का प्रयास करता है ।

२५.

अपनी हथेली पर धधकता हुआ अगार लेकर दूसरे पर फेकने की इच्छा रखने वाला पुरुप मूर्ख है । क्या पता है कि दूसरे पर वह गिरेगा भी या नही ? मगर जो गिराना चाहता है उसकी हथेली तो जले विना रहेगी नही । इसी प्रकार दूसरो का वुरा सोचने वाला भी मूर्ख है । वह दूसरो का वुरा करने से पहले ही अपना वुरा कर लेता है । दूसरे के अपशकुन के लिए अपनी नाक कटवाना वुद्धिमत्ता का काम नही है ।

२९.

दया के विना ससार का त्राण नही है। शान्ति की सैकडों योजनाएँ बनाई जाएँ, मगर वे विफल ही होंगी, अगर उनके मूल में दया नही होगी। क्योंकि शान्ति का मूल आधार दया ही है।

३०.

कीचड को कीचड से धोने का प्रयास मत करो। खून के दाग को खून से धोने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है। इसी प्रकार हिंसा-जनित पाप कर्म के फल से बचने के लिए हिंसा को मत अपनाओ। दया-माता की करुणामयी मुद्रा को अपने सामने रख कर ही कुछ करो। दया को विसार कर काम करोगे तो अच्छा करने चलोगे और बुरा फल पाओगे। वकरा और पाडा जैसे पचेन्द्रिय जीवो की हत्या से किसी का कल्याण होना सभव नही है।

३१

अहिंसा के शस्त्र से वैरी का नही, वैर का सहार किया जाता है और जब वैर का सहार हो जाता है तो वैरी मित्र बन जाता है। हिंसा वैरी का नाश करके वैर को वढाती है। यह वैर की अपरिमित परम्परा को जन्म देती है।

३२

जब आप दूसरे का बुरा चाहेगे और बुरा करेगे तो आपका भला कैसे हो सकता है ? अतएव अगर अपना भला चाहते हो तो दूसरो का भला चाहो। हराम का माल खाने की इच्छा मत करो और धर्मादे की सम्पत्ति भी हड़पने की इच्छा न रखो। गरीबो को मत सताओ।

३३

कई लोग अपने दुख का प्रतीकार करने के लिए हिंसा का आश्रय लेते है। 'यदि मेरा लडका जीवित रह जायगा तो एक पाडा मारूँगा अथवा वकरा चढाऊँगा'—इस प्रकार की मनौती मनाता है। अपने हाथ से हिंसा करने में ग्लानि होती है तो दूसरे से कह कर करवाता है।

घोपणा है। ऐसी हालत मे हिंसा करके धर्म की कामना करने वाले लोग दया के पात्र नही है।

३७.

मनुष्य भी प्राणी है और पशु-पक्षी भी प्राणी है। मनुष्य की बुद्धि अधिक विकसित है। इस कारण उसे सब प्राणियो का बडा भाई कहा जा सकता है। पशु-पक्षी मनुष्य के छोटे भाई है। क्या मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने कमजोर भाई के गले पर छुरा चलावे ? नही, वड़े भाई का काम रक्षण करना है, भक्षण करना नही।

३८

अफसोस है कि जिन क्षत्रियो की वीरता जगत् मे विख्यात थी और जो रणभूमि मे शस्त्रहीन शत्रु पर भी आक्रमण नही करते थे, उन्ही के वंशज आज वकरो और पाडों पर शस्त्र चलाते हुए शर्मिन्दा नही होते और फिर भी अपने क्षत्रिय होने का अभिमान करते है ? कितना अध पतन हो गया है ? क्षत्रिय वीर अपनी वीरता को विस्मृत कर वैठे है और कायरता के काम करके अपनी वहादुरी जतलाने मे सकोच नही करते।

३९.

अगर मास, मदिरा आदि चीजे अच्छी होती तो मन्दिरो मे क्यो नही चढाई जाती ? ये खराव चीजे है, इसी कारण तो इन्हे मन्दिरो मे नही जाने दिया जाता। भाइयो ! जव यह चीजे मन्दिरो मे भी नही घुस सकती तो इनका सेवन करने वाला वैकुण्ठ मे कैसे घुस सकेगा ? थोड़ी देर के लिए वैकुण्ठ की वात जाने दीजिये। यह चीजे इतनी अधिक हानिकारक है कि इस शरीर को भी नष्ट कर डालती है। इनका सेवन करने वाले नाना प्रकार की वीमारियो से पीडित होकर दु ख भोगते हुए मरते है। भाइयो ! यह अभक्ष्य चीजे है। छोडने योग्य है।

४०

जो अण्डे खाते है, कबूतर जैसे सीधे-साधे, भोले प्राणियो का भी माग खा जाते है, वकरे को पेट मे डाल लेते है, मछली को हजम

बात समझाना चाहते है, वे स्वयं संसार मे डूबेगे और उनकी बात मानने वाले भी डूबेगे। दया-माता ही बेडा पार करने वाली है।

४४.

जो लोग मुर्दे को तो कब्र मे दफनाते है और बकरे को मार कर उदर मे दफनाते है, उनका जीवन कभी पवित्र नही बन सकता।

४५.

हाय! मनुष्य जिस पेट को चार रोटियो से भर सकता है, उसी पेट के लिए पचेन्द्रिय जीवो का घात करने मे सकोच नही करता। वह मांस का भक्षण करके जगली जानवरो की कोटि में चला जाता है। अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दूसरे प्राणी के जीवन को लूट लेना कितना भारी अत्याचार है।

४६.

अगर किसी ने चारो वेद पढ लिये है, विविध शास्त्रो को कण्ठस्थ कर लिया है और ऊँचे दर्जे की विद्वत्ता प्राप्त कर ली है, मगर उस ज्ञान को आचरण में परिणत नही किया, जीवो पर दया नही की, तो उसकी विद्वत्ता वृथा है। उसने पुस्तके रट-रट कर माथापच्ची की है, उनसे कोई असली लाभ नही उठाया। ज्ञान का फल दया है और जिसने जीवदया का पालन करके अपनी दया पाली है, वही वास्तव मे पण्डित है।

४७.

संसार मे जितने भी प्राणी है, उन्हे अपनी आत्मा के समान समझो। भेद-भाव मत रखो। कदाचित् कोई बालक अनीति से उत्पन्न हुआ है तो वह अनीति उसके माँ-बाप ने की है। पाप किया है तो माँ-बाप ने किया है उस उत्पन्न होने वाले बच्चे का इसमे क्या दोष है। उसका कोई अपराध नही है। उसे क्यो नष्ट होने देते हो? उसकी रक्षा करो। उसके साथ निर्दयता का व्यवहार मत करो। समभाव रखो।

५२.

जगत् मे भाँति-भाँति के जीव-जन्तु है। उन सब में मनुष्य की बुद्धि अधिक विकसित है। उसे सबसे अधिक समझदार होना चाहिए। अन्य प्राणियों का रक्षक बनना चाहिए। ऐसा करने मे ही मनुष्य की बुद्धिमत्ता और विवेक की विशिष्टता है।

५३.

दूसरो की शान्ति मे ही तुम्हारी शान्ति है। अगर तुम्हारे देश-वासी, तुम्हारे पडोसी सुखी होगे तो तुम भी सुखी रह सकोगे। अगर तुम्हारे चारो ओर अशान्ति की ज्वालाएँ भभक रही होगी तो तुम्हे भी शान्ति नसीब नही हो सकती। इस प्रकार अपनी निज की शान्ति के लिए भी दूसरो को शान्ति पहुँचाने की आवश्यकता है। इन बातो को कभी मत भूलना कि दूसरो को अशान्त रखकर कोई शान्ति नही पा सकता।

५४.

स्वार्थ मे अन्धे मत बनो। गरीबो को अधिक गरीब बना कर अपनी अमीरी बढाने के तरीके छोड दो। मत समझो कि हमारा पेट भरा है तो दुनिया का पेट भरा है। उनकी असली स्थिति पर विचार करो। हृदय मे दया की भावना रखो। गरीबो की कुटिया मे जाकर देखो, उन्हे छाती से लगाओ और उनके अभावो को दूर करो। ऐसा करने मे गरीबो का ही नही तुम्हारा भी हित है।

५५

कई लोग कहा करते है कि अगर हम साँप, बिच्छू, शेर, बाघ आदि विषैले और हिंसक जीवो को मार डाले तो क्या हर्ज है? वे दूसरे जीवो को मारते है, अतएव उन्हे मार देने से हिंसा रुक जायगी। परन्तु यह विचारधारा अत्यन्त भ्रमपूर्ण हे और उल्टी है। ऐसे लोगो से पूछना चाहिए कि दूसरे प्राणियो को मार डालने के कारण अगर सिंह आदि मार डालने योग्य हैं तो सिंहादि को मार डालने के कारण मनुष्य भी मार डालने योग्य क्यो नही साबित हो जायगा? इस प्रश्न का वे क्या उत्तर देंगे?

सौभाग्य के अक्षय भडार का मगलमय द्वार खोल देगा। तव आपको मालूम हो जायगा कि यह सौदा घाटे का सौदा नही है।

६०

भाइयो! जो जैसा करेगा, वैसा ही पायेगा। जैसे वीज वोयेगा, वैसे फल चखने को मिलेगे। दया किये विना कुछ भी मिलने को नही है। अतएव प्राणियो पर दया करना अपने पर दया करना है। अतएव अपनी भलाई के लिए, अपने कल्याण के लिए प्राणियो पर दया करो।

६१

भाइयो! किसी की रोजी पर लात मारना अच्छा नही है। यह वडा घोर और अधम कृत्य है। आजीविका ग्यारहवाँ प्राण गिना जाता है, क्योकि आजीविका के अभाव मे दसो प्राण खतरे मे पड जाते है।

६२

कोई आदमी रग-रूप मे सुन्दर हो, छैल-छवीला हो, पढा-लिखा हो, चलता-पुर्जा हो अगर उसके दिल मे दया नही है तो जानवर का और उसका जन्म वरावर ही है।

६३

जो शरावी को शराव पीने से रोक रहा है वह शरावी का भला चाहता है। ऐसी स्थिति मे वह हिसा के पाप का भागी नही हो सकता। कोई अज्ञान वालक जहर की शीशी उठा कर पीने को उद्यत हुआ है और एक समझदार आदमी उसे पीने से रोक देता है तो वह पाप नही कर रहा है। इसी प्रकार साधुगण झूठ वोलने वाले, चोरी करने वाले और व्यभिचार करने वाले को उपदेश देकर रोकते है, तो इसमे हिसा मानना उचित नही है।

६४

दया-माता ही वास्तव मे ससार के समस्त प्राणियो की माता है, क्योकि दया के प्रताप मे ही उनकी रक्षा हो रही है, उनका जीवन ·· रन वना हुआ है। जन्म देने वाली माता के हृदय मे भी दया

होने के कारण वह अपनी सन्तान का पालन-पोषण करती है। अगर मानुषी माता में से दया निकल जाय तो मानव शिशु का क्या हाल हो जाय? इस बात पर गहरा विचार करने से दया माता की महिमा अच्छी तरह समझ में आ जायगी और यह भी समझ में आ जायगा कि वास्तव में दया ही प्राणी मात्र की असली माता है।

६५

दया माता का स्मरण करने से सभी कष्टों का निवारण हो जाता है। दूसरे जीवों को सुख पहुँचाओगे तो स्वयं सुख पाओगे और दूसरों को पीड़ा दोगे तो स्वयं पीड़ा के पात्र बनोगे। यह दया माता का नियम है और तीन काल तथा तीन लोक में कभी कोई भी बदल नहीं सकता।

६६

दया धर्म ही सच्चा धर्म है और दया बिना कोई भी धर्म धर्म नहीं कहला सकता।

सत्य

१.

ससार मे जो सत्य है, वही आत्मा है। सत्य और आत्मा एक ही है। सत् उसे कहते है जिसका कभी नाश नही होता। अतएव आत्मा सत्य है और सत्य आत्मा है।

२

सत्य के बीज से अन्त करण के प्रदेश मे एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति का उदय होता है जिसे पाकर मनुष्य अजेय और अप्रतिहत हो जाता है। सत्य के प्रवल प्रताप से इसी लोक मे परम मगल की प्राप्ति होती है।

३

संसार के सभी धर्म-शास्त्रो मे सत्य को ऊँचा स्थान दिया गया है। भिन्न-भिन्न धर्म और-और बातो में भले ही मतभेद रखते है, किन्तु सत्य के विपय मे किसी का मतभेद नही है। यह सत्य की सवसे वडी महत्ता और विजय है।

४

सत्य के अभाव मे कोई भी धर्म नही टिक सकता। अन्यान्य धर्म अगर वृक्ष, डाली, टहनी और पत्ता है तो सत्य को उन सवका मूल मानना होगा। जैसे मूल के उखड जाने पर वृक्ष धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के अभाव मे सभी धर्मो का अभाव हो जाता है।

५

झूठ बोलने वाला एक वार झूठ वोल कर अपना काम वनाने का प्रयत्न तो अवश्य करता है, परन्तु उसके हृदय मे खटका वना रहता है। वह अपने असत्य को छिपाने के लिए जाल रचता है और डरता रहता है कि कही मेरी पोल न खुल जाय ? उसे एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ गढने पडते है। उसकी आत्मा गिरती है। वह सदैव बेचैन रहता है, सशंक रहता है और आप ही अपनी नजरो मे गिरा रहता है।

सत्य

१.

ससार मे जो सत्य है, वही आत्मा है। सत्य और आत्मा एक ही है। सत् उसे कहते है जिसका कभी नाश नही होता। अतएव आत्मा सत्य है और सत्य आत्मा है।

२

सत्य के वीज से अन्त करण के प्रदेश मे एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति का उदय होता है जिसे पाकर मनुष्य अजेय और अप्रतिहत हो जाता है। सत्य के प्रवल प्रताप से इसी लोक मे परम मगल की प्राप्ति होती है।

३.

ससार के सभी धर्म-शास्त्रो मे सत्य को ऊँचा स्थान दिया गया है। भिन्न-भिन्न धर्म और-और बातो मे भले ही मतभेद रखते है, किन्तु सत्य के विपय मे किसी का मतभेद नही है। यह सत्य की सवसे वडी महत्ता और विजय है।

४.

सत्य के अभाव मे कोई भी धर्म नही टिक सकता। अन्यान्य धर्म अगर वृक्ष, डाली, टहनी और पत्ता है तो सत्य को उन सबका मूल मानना होगा। जैसे मूल के उखड जाने पर वृक्ष धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के अभाव मे सभी धर्मो का अभाव हो जाता है।

५

झूठ वोलने वाला एक वार झूठ वोल कर अपना काम वनाने का प्रयत्न तो अवश्य करता है, परन्तु उसके हृदय मे खटका वना रहता है। वह अपने असत्य को छिपाने के लिए जाल रचता है और डरता रहता है कि कही मेरी पोल न खुल जाय ? उसे एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ गढने पडते है। उसकी आत्मा गिरती है। वह सदैव बेचैन रहता है, सशक रहता है और आप ही अपनी नजरो मे गिरा रहता है।

६

असत्य अविश्वास का मूल कारण है। जिसे लोग असत्यवादी समझ लेते हैं उसका विश्वास नहीं करते। उसकी सच्ची बात भी झूठी समझी जाती है। असत्य खोटी वासनाओं का घर है और समृद्धि में रुकावट डालने वाला है।

७

भाइयो! असत् दोषारोपण करना बड़ा ही भयानक पाप है। जिसको झूठा कलंक लगाया जाता है विचार करो कि उसे कितनी मानसिक व्यथा होती होगी? प्राण लेने वाला शत्रु एकदम प्राण ले लेता है परन्तु कलंक लगाने वाला जिसे कलंक लगाता है उसे आजीवन पीड़ा पहुँचाता है। यह कोई साधारण पाप नहीं है।

८

नाम रखने का उद्देश्य किसी के गुणों को प्रकट करना नहीं है वरन् व्यवहार में पहचान में सुविधा पैदा करना है। अतएव दुबले पतले अधमरे आदमी के लिए नाहरसिंह नाम के अनुसार शब्द प्रयोग करने से असत्य का दोष नहीं लगता है क्योंकि यह कथन नाम सत्य है।

९

शतरंज के मोहरों में राजा वजीर हाथी ऊंट, घोड़ा और प्यादा की स्थापना कर ली जाती है। उन मोहरों को राजा वजीर आदि शब्दों से कहते हैं। ऐसा कहना दूषित नहीं है क्योंकि वह स्थापना सत्य है।

१०

किसी ने प्रश्न किया—समुद्र कैसा है? उत्तर दिया गया—पानी से भरे हुए कटोरा जैसा। यह कथन उपमा सत्य है।

११

जैसे दो और दो चार होते हैं—*यह ध्रुव सत्य था, है और रहेगा* उसी प्रकार तीर्थंकरों ने जो मार्ग बतलाया है वह भी ध्रुव सत्य है।

१२

लोगों का यह भ्रम मात्र है कि असत्य का सेवन करने से किसी

प्रकार का लाभ हो सकता है। युधिष्ठिर अपने सत्य पर आरूढ रहे तो क्या महाभारत मे उन्हे विजय प्राप्त नही हुई ? अवश्य हुई।

१३

सत्य सदैव दवा नही रहता। वह एक न एक दिन अवश्य उभरता है। कोई भी मेघ सदा के लिए सूर्य को नही छिपा सकता। घना से घना कोहरा भी आखिर फटता है और सूर्य अपने असली रूप मे चमकने लगता है, सत्य भी ऐसा ही है। वह कभी न कभी प्रकाश मे आये विना नही रहता।

१४

हिंसाकारी वचन सत्य की कोटि मे नही है।

१५

थोड़े समय के लिए भी जिसने असत्य या अब्रह्मचर्य का सेवन किया, उसने अपना जीवन मिट्टी मे मिला लिया। क्या एक बार जहर खाने वाला मरता नही है ? अवश्य मरता है। इसी प्रकार एक वार सत्य का परित्याग करने वाला भी अपना धर्म गँवा देता है।

१६

भाइयो ! सत्य भी वडी भारी चीज है। अगर सम्पूर्ण सत्य का आचरण न कर सको तो जितना कर सकते हो उतना करो। दुनिया मे कहावत है—नहाए जितनी गगा। जितना वन पड़े उतना ही लाभ है। अतएव अगर एकदेश से आशिक रूप से सत्य का आचरण कर सकते हो तो भी करो, मगर करो। अपने जीवन को सत्य से सर्वथा शून्य मत रहने दो। जितनी और जैसी करनी करोगे, उतना और वैसा ही फल पाओगे। जितना गुड डालोगे उतना ही मीठा होगा।

१७.

दुकान को लोग गणेशजी की पेटी या शिवजी की पेढी कहते हैं, लेकिन कर्त्तव्य क्या करते है ? दुकान पर बैठे-वैठे गप्पे मारते है, झूठा नामा लिखते है, गरीबो का गला काटते हैं। भोला-भाला गरीव ले जाता है पाँच और लिख लेते हैं पचास। अरे गपोडशंख ! नाम तो भगवान का रखता है और ऐसी अनीति करता है। तभी तो दुनिया सुखी नही होती। सचाई के विना सुख कैसे मिल सकता है ?

१

ईश्वर भक्त कभी चोरी नही कर सकता। चोरी छिपे छिप की जाती है। ईश्वर भक्त समझता है कि मैं छिप कर कोई काम नही कर सकता। भगवान सर्वदर्शी हैं। वे सबको देख रहे है। उनसे मेरी कोई प्रवृत्ति छिप ही नही सकती। अजी चोरी करने की बात जाने दीजिये भक्त चोरी करने का सकल्प भी अपने मन मे नही कर सकता। भला जिसके चित्त म ईश्वर का वास है उसके चित्त मे चोरी करने की या और कोई भी पाप करने की भावना ही किस प्रकार उदित हो सकती है? ईश्वर का भक्त सभी पापो से अलिप्त रहता है।

२

अपने कर्तव्य को ईमानदारी के साथ अदा न करने वाला चोर कहलाता है। चाहे वह किसी भी जाति का हो कोई भी धधा करता हो। चोर की कोई जात-पात नहीं होती जो चोरी करे वही चोर है। डाका डाले वही डाकू, रडी के यहाँ जाव वही रडीबाज और जो बुरा काम करता है वही बदमाश कहलाता है। इन सब दुर्गुणो का सबध किसी जाति से नही होता है। कई लोग ऊँची जाति म उत्पन्न होकर भी चोर और बदमाश हो सकते हैं और कई नीची समझी जाने वाली कौम में जन्म लेकर भी प्रामाणिकता और नीति के साथ अपना निर्वाह करते हैं।

३

न्यायाधीश का कर्तव्य है कि वह छान-बीन करके सच्चा न्याय दे—दूध का दूध पानी का पानी कर दे। इसके विपरीत अगर वह किसी के लिहाज मे आकर किसी के दबाव में पड़कर लोभ-लालच मे फँसकर या रिश्वत लेकर अन्याय करता है सच्चे को झूठा और झूठ

को सच्चा ठहराता है तो वह चोर है वह अपने कर्त्तव्य का चोर है, धर्म का चोर है, सरकार का चोर है और प्रजा का चोर है। इसी प्रकार कोई दूसरा कर्मचारी भी अगर अपने वास्तविक कर्त्तव्य से गिरता है तो वह चोरी के अन्धे कुए मे गिरता है।

४.

चोरी करके कमाया हुआ पैसा मोरी मे ही जाने वाला है। उससे आत्मा का भी हनन होता है। चोरी करने वाला व्यापारी अन्त तक अपनी साख कायम नही रख सकता। एक न एक दिन उसकी साख खत्म हो जाती है और व्यापारी की साख उठ जाना एक प्रकार से व्यापार उठ जाना है।

१
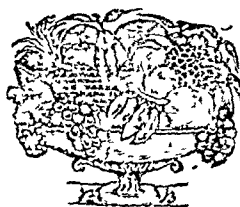
ब्रह्मचय का अथ केवल स्पर्शेन्द्रिय का सयम नही, वरन् समस्त इन्द्रियों का सयम है। इतना ही नही किन्तु समस्त इन्द्रियों का सयमन करके ब्रह्म अर्थात आत्मा मे चर्या करना अर्थात विचरना सच्चा ब्रह्मचय है। ब्रह्मचय की यह परकाष्ठा प्राप्त करने के लिए स्पशन्द्रिय के सयम से शुरुआत करनी पडती है।

२

आत्मा का आत्मिक गुणो मे ही रमण करना आत्मा के अतिरिक्त जितने भी पर-पदाथ हैं उनमे रमण न करने देना उनकी ओर न जाने देना ब्रह्मचय कहलाता है।

३

आत्मा के मुस्वाभाविक सुख के सामने नारी का सुख उपहासास्पद है और आत्मा के सौन्दय के आगे नारी का सौन्दय विद्रूप है।

४

कामभोग विष से अधिक विषम हैं। विष की बात की जाय, विष को हाथ मे लिया जाय, आँखो से देखा जाय या विष सम्बन्धी बात कानो से सुनी जाय तो विष हानि नही पहुँचाता, लेकिन कामभोगो का विष इतना तीव्र होता है कि उनकी बात कहने-सुनने से, स्मरण करने और दशन से भी अपना प्रभाव डाले बिना नही रहता। फिर और-और विषो का प्रभाव तो अधिक से अधिक वतमान जीवन को ही प्रभावित करता है मगर भोगो का विष जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा को प्रभावित करता है।

५

जब दिव्य कामभोग भी इच्छा की पूर्ति नही कर सकते तो फिर साधारण मानुषिक कामभोग क्या तृप्ति कर सकेंगे? भोगो की अभि

लाषा भोग भोगने से उसी प्रकार बढती जाती है, जिस प्रकार ईधन झौकने से आग बढती ही चली जाती है। इन भोगो से अन्त मे दु ख के सिवाय और क्या पल्ले पड़ता है ? तो क्या रखा है इन भोगों मे ? संसार के सभी पौद्गलिक पदार्थ आत्मा के लिए हितकारी नही है। थोड़े दिनो रहकर वे आत्मा को मूढ बना कर दूर हो जाते है।

६

ब्रह्मचर्य के अभाव मे मूलभूत प्राण-शक्ति का ह्रास हो जाता है। तो बाहरी उपचार क्या काम आएँगे ? दीपक मे तेल ही नही होगा तो लाख प्रयत्न करो, वह प्रदीप्त नही होगा। इसी प्रकार शरीर मे वीर्यशक्ति नही है तो कोई भी औपध, रसायन, भस्म आदि काम नही आ सकती। इसके विपरीत यदि आपने अपने वीर्य की रक्षा की है तो आपको स्वत नीरोगता प्राप्त होगी, आपका जीवन आनन्द-दायक होगा।

७

कामवासना आग है। इस आग की विशेपता यह है कि इसमे जल कर भी लोग जलन का अनुभव नही करते, बल्कि शान्ति समझते है। यह आग सबसे पहले प्राणी के विवेक को ही नष्ट करती है और जब उसका विवेक नष्ट हो जाता है, तो फिर उसे हित-अहित का भान ही नही रहता।

८

जिसके हृदय मे कामवासना उद्दीप्त होती है वह पुरुप आँखे रहते भी अन्धा और कान होते हुए भी बहिरा हो जाता है। उसे हिताहित का भान नही रहता।

६.

मनुष्य के मन मे जब दुर्वासना उत्पन्न होती है तो उसे बिगडते जरा भी देरी नही लगती। चित्त का विकार मनुष्य को अधा कर देता है। उचित-अनुचित क्या है, नीति क्या है, अनीति क्या है, इत्यादि विचार ऐसे मनुष्य से दूर ही रहते है। कई राजा दासियो के भी दास बन जाते है और कई रानियाँ अपने दासो की दासियाँ बन जाती है। वास्तव मे यह काम-विकार बडा ही अनर्थकारी है।

१०

उल्लू दिन में नहीं देखता और कौवा रात्रि में नहीं देख सकता, किन्तु कामान्ध पुरुष उल्लू और कौवा से भी गया बीता होता है। उसे न रात को दिखाई देता है न दिन को दिखाई देता है। वह रात दिन अंधा ही बना रहता है।

११

कामवासना के कारण जिसका विवेक विलुप्त हो जाता है, वह विनय शील, सन्तोष, भद्रता लज्जाशीलता कुलीनता आदि सभी का त्याग कर निर्लज्जता उद्दण्डता आदि बुराइयों का शिकार हो जाता है। अपने पुरखों की कीर्ति को कलंकित करने में संकोच नहीं करता।

१२

जिसने ब्रह्मचर्य की महिमा नहीं समझी और इस कारण अपने वीर्य का दुरुपयोग किया समझ लो उसने अपने हाथों से अपने सिर कुल्हाड़ा चला लिया। उसने अपने जीवन को भ्रष्ट और नष्ट कर डाला। वह अपना आत्मा का भयानक शत्रु है। अपने देश और समाज का भी वह हानि पहुँचा रहा है। वह निर्वीर्य पुरुष निकम्मा है। वह जीता है तो भी मृतक के ही समान है।

१३

क्या आप उस मूर्ख मनुष्य को विवेकवान् समझेंगे जो बहुमूल्य इत्र को गटरों में डाल देना चाहता है? मनुष्य-जन्म और ब्रह्मचर्य अनमोल रत्न हैं। उन्हें यों लुटा देना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

१४

वीर्य का नाश करना जीवन का नाश करना है और वीर्य की रक्षा करना जीवन की रक्षा करना है।

१५

काम-वासना समस्त दुर्गुणों का प्रतीक है और काम को जीत लेना समस्त विकारों को जीत लेने का चिह्न है। जिसने काम को

जीत लिया, उसने सभी दोषो को जीत लिया समझिए। वास्तव मे काम को जीतना बड़ा ही कठिन कार्य है।

१६

धर्म की आराधना की पहली शर्त विषय-वासना को जीतना है और विषय-वासना मे काम-वासना सबसे जबर्दस्त है। इसे जीते बिना चित्त मे निराकुलता नही उत्पन्न हो सकती। अतएव जिसे अपना जीवन सफल बनाना है, अपना भविष्य कल्याण-पूर्ण बनाना है, जिसे शान्ति की कामना है और जो असीम सुख का अभिलाषी है, उसे कामवासना पर विजय प्राप्त करनी ही चाहिए।

१७.

नारी घी के घड़े के समान है और पुरुष तपे अगार के समान है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह घृत और आग को एक जगह न रखे।

१८.

जैसे गेहूँ के आटे मे भूरा कोला रखने से उसका बन्ध नही होता अथवा चावलो के पास कच्चा नारियल रख देने से उसमे कीड़े पड जाते है, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष अगर एक आसन पर बैठे तो उनका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।

१९.

पति-पत्नी के शब्द या हँसी-मजाक की बाते सुनने से मन मे विकार उत्पन्न होने की पूरी सम्भावना रहती है। जैसे मेघ की गर्जना सुनने से मोर बोलने लगता है, उसी प्रकार काम-विकार सम्बन्धी बातें सुनने मे विकार जागृत होता है।

२०.

जो स्त्री आदि के साथ एक मकान मे रहता है अथवा स्त्रियो की चर्चा-वार्ता करता है, उसका ब्रह्मचर्य बिगड जाने की पद-पद पर सम्भावना बनी रहती है। जहाँ ऐसी बाते हो, समझना चाहिये कि वहाँ खाली म्यान है, तलवार नही है। पुरुष के लिए स्त्री का ससर्ग

और स्त्री के लिए पुरुष का सामीप्य सिवाय हानि के और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता।

२१

कोई यह कहता है कि स्त्रियों के विषय में बातचीत करने में क्या रक्खा है? बातें करने से कैसे ब्रह्मचर्य बिगड़ जायगा? परन्तु ऐसी बात नहीं है। इमली या नींबू का नाम लेते ही मुँह में पानी भर आता है। इसी प्रकार स्त्रियाँ सम्बन्धी बातचीत करने से मन ठिकाने नहीं रहता है।

२२

ब्रह्मचारी पुरुष स्त्री के अंगोपांग का अवलोकन न करे। कोई कह सकता है कि विकार तो चित्त में होता है आँखों में नहीं। फिर स्त्री के अंगोपांगों को अगर देख भी लिया जाय तो क्या हानि है? इस शंका का समाधान यह है कि जैसे सूर्य की तरफ बार-बार देखने से आँखों की शक्ति का नाश होता है, इसी प्रकार स्त्रियों के अंगोपांगों को देखने से ब्रह्मचारी पुरुष के ब्रह्मचर्य का विनाश होता है।

२३

जैसे आग के स्पर्श से पाँच हजार का शाल खाक हो गया, शाल खराब हो गया, उसकी कोई कीमत नहीं रही, इसी प्रकार स्त्री के स्पर्श से संयमी भी खराब हो जाएँगे। आपके ब्रह्मचर्य का क्या मूल्य रह जायगा?

२४

जैसे व्यापारी जहाज पर सवार होकर व्यापार के निमित्त समुद्र के परले पार जाता है उसी प्रकार जो ब्रह्मचर्य रूपी जहाज में बैठेगा वह संसार रूपी समुद्र के परले पार जायगा।

२५

कामभोग शल्य के समान हैं। जैसे शरीर के भीतर घुसा हुआ शूल मार्मिक कष्ट पहुँचाता है उसी प्रकार यह कामभोग भी आत्मा को गहरी कष्ट पहुँचाने वाले हैं।

२६.

अगर माता-पिता ब्रह्मचर्य का ध्यान रक्खे तो बचपन मे बालको को प्राय दवा की आवश्यकता ही न रहे। उनको भी जल्दी बुढापा नही आवे। क्योकि वीर्य शरीर का राजा है। जिसका राजा ही बिगड जाय, उसकी प्रजा कब ठीक रह सकती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिगड जाने पर शरीर भी बिगड जाता है। आज ब्रह्मचर्य की ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया जाता, इसी कारण नस्ल निर्बल, निस्तेज, रुग्ण और अल्पायुष्क होती है।

२७.

जो लोग बलवर्धक और उन्मादकारी भोजन करते है और कभी तपस्या नही करते, वे अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा नही कर सकते।

२८

ब्रह्मचर्य की साधना का सबध जैसे आँख और कान के साथ है, उसी प्रकार जीभ के साथ भी है। आँखो और कानो पर कितना ही नियत्रण क्यो न रक्खा जाय, अगर जीभ पर नियत्रण न किया तो साधना किसी भी समय मिट्टी मे मिल सकती है। पौष्टिक, मादक और उत्तेजक भोजन करने वाला ब्रह्मचर्य की आराधना नही कर सकता।

२९

ब्रह्मचारी को रूखा-सूखा भोजन भी परिमाण से अधिक नही खाना चाहिए। सेर की हँडिया मे सवा सेर भर दिया जाय तो फूटे बिना नही रहेगी।

३०

यदि किसी का मन सबल नही है तो वह वर्ष मे एक दिन छोड कर ब्रह्मचर्य पाले। यह भी नही बनता तो महीने मे एक दिन अपवाद रख कर ब्रह्मचर्य का पालन करे। अगर इतना भी न हो सके तो कफन सिरहाने रख कर सोओ। शरीर का राजा वीर्य है। अगर राजा बिगड गया या नष्ट हो गया तो प्रजा का पता लगाना ही कठिन

है। शरीर या राजा बिगड जाता है तो फिर जल्दी ही लक्कड इकट्ठे करने पडते हैं।

३१

जो गृहस्थ रूखा-सूखा भोजन करते हैं उनका भी चित्त ठिकाने नही रहता, ऐसी स्थिति मे अगर साधु प्रतिदिन गरिष्ठ माल मसाले खायेगा तो उसकी साधुता ठिकाने लगने म क्या कसर रह जायगी ? किसी आदमी को त्रिदोष की बीमारी हो जाय और फिर उसे मिश्री तथा दूध पिला दिया जाय तो वह नीलाम ही बोल जायगा—मर जायगा। इसी प्रकार जो रोज माल खायगा वह ब्रह्मचर्य से च्युत हो ही जायगा।

३२

जैसे पवन का समुद्र म निग्रह सभव नही उसी प्रकार पौष्टिक भोजन करने वालो के लिए इन्द्रियों का निग्रह करना सभव नही। इन्द्रियों को प्रबल बनाने वाला उन्माद उत्पन्न करने वाला, उत्तेजक भोजन विषय वासना की ओर प्रेरित करता है। ऐसा भोजन करके काम विजय करना सभव नही है।

३३

स्त्री अगर ब्रह्मचारी पुरुष के लिए विष के समान है तो ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए पुरुष भी विष के ही समान है। स्त्रियो को पुरुषों के सान्निध्य-ससर्ग से बचना चाहिए और ब्रह्मचर्य पालने के लिए पुरुषों को जो नियम बतलाये गये है व स्त्रियो के लिए भी समझना चाहिए। आशय यह है कि पुरुष म भी कम माया नही है। हम तो रानो के खरे-खरे गीत गाते हैं। हम घूस लेनी नही है पैसे लेने नही हैं कि किसी की खुशामद करके व्याख्यान दें।

३४

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता है उसे अपने रहन सहन और खान-पान के प्रति विशेष सावधान रहना चाहिये। जीवन मे उसे सादगी धारण करनी चाहिए। बाल जमाना सुगधित साबुन लगाना इत्र लगाना सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करना और भाँति

भाँति का शृङ्गार करना यह सब कामदेव को निमत्रण देने की ही तैयारी करना है। अतएव अपने मन को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। मन को जीते विना विषय-विकार को जीतना कठिन ही नही अशक्य भी है।

३५

काम रूप विकार स्वाभाविक नही है। वह आत्मा का सहज गुण नही है। पर-पदार्थो के सयोग से ही इस विकार की उत्पत्ति होती है। जो विकार आत्मा की अपनी निर्वलता और भूल से उत्पन्न हुआ है, उसे आत्मा विनष्ट भी कर सकती है।

३६

जो मनुष्य शान्ति का इच्छुक है, कान्तिमान् बनना चाहता है, स्मरण-शक्ति बढाने की अभिलाषा रखता है, बुद्धि की वृद्धि चाहता है, शरीर को रोगो से वचाना चाहता है और उत्तम सन्तान चाहता है उसे ब्रह्मचर्य रूप महान् धर्म का आचरण करना चाहिये।

३७

ब्रह्मचर्य से तन और मन वलवान वनते है। ब्रह्मचर्य से आत्मा निर्मल होती है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से सव प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य वल, विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, तेजस्विता, स्वस्थता, दीर्घायु और सुख प्रदान करने वाला है।

३८

ब्रह्मचर्य का पालन करने से अनेक भयकर वीमारियाँ जैसे क्षय, तपेदिक आदि भी दूर हो जाती है और कामासक्ति की अधिकता से अनेक प्राणहारी रोगो का उद्भव होता है। मुजाक, गर्मी और प्रमेह आदि गदी, लज्जाजनक, जान लेने वाली और जिन्दगी को भारभूत एव दु खमय वनाने वाली वीमारियाँ वीर्य के अनुचित विनाश से उत्पन्न होती है।

३९

स्त्री या पुरुष, जो व्यभिचारी होता है प्राय क्षय जैसे भयकर

राज रोगो के शिकार बनते हैं। राजयक्ष्मा से बचने का सर्वोत्तम उपाय शरीर के राजा वीर्य की रक्षा करना ही है। यदि राजा नहीं बचा तो बताओ प्रजा की क्या दुर्दशा होगी ?

४०

भाइयो ! जैसे ब्रह्मचर्य सब व्रतो में उत्तम है उसी प्रकार व्यभिचार सब पापो में बड़ा है। इसके कई कारण हैं। उनमें से एक कारण यह भी है कि और-और पापो की तरह यह पाप तत्काल समाप्त नहीं हो जाता किन्तु इसकी परम्परा लम्बी चली जाती है।

परस्त्री-गमन

१

परायी स्त्री को भी जूठन की उपमा दी गई है। अतएव उस पर ललचाने वाले कुलीन जन नही हो सकते कुत्तो के समान नीच जन ही उसकी अभिलाषा करते है। परस्त्री-गमन भयानक अपराध और घोर पाप है। अनेक दु खो का कारण है।

२.

कहो कहाँ केसर और कहाँ विष्ठा ! मगर मक्खी का ऐसा स्वभाव है कि वह केसर के पास नही जाती। उसे विष्ठा ही प्यारी लगती है। इसी प्रकार जो स्त्री, अपने विवाहित पति को छोड कर परपुरुष के पास जाती है, वह मानो केसर को छोडकर विष्ठा पर जाने वाली, गन्दगी को पसन्द करने वाली मक्खी के समान है। यह बात पुरुष के लिए भी है। परस्त्री का सेवन करने वाला पुरुष जूठन चाटने वाले कुत्ते के समान गर्हित है।

३

रावण क्या ढोल बजा कर सीता को ले गया था ? नही, वह भी छिप कर अकेले मे ही ले गया था। फिर भी बात छिपी नही रही। इसी प्रकार लाख प्रयत्न करने पर भी तुम्हारा पाप छिपा नही रहेगा। वह एक दिन अवश्य प्रकट होगा और तुम्हे निन्दा एव घृणा का पात्र बना देगा।

४

रावण कितना शक्तिशाली और तेजस्वी वीर पुरुष था। परस्त्री की स्वीकृति के बिना उसका सेवन न करने की उसकी प्रतिज्ञा थी। फिर भी परस्त्री का अपहरण करने मात्र से उसे कितनी हानि उठानी पडी ? उसे राज्य से हाथ धोने पडे, प्राणो का परित्याग करना पडा,

कुल का क्षय हो गया। जब रावण जैसे शक्तिशाली पुरुष की भी यह दुर्दशा हो सकती है तो साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या है?

५

वीर रावण का विनाश क्यों हुआ? उसने परस्त्री-गमन नहीं किया सिर्फ परस्त्री-गमन करना चाहा था। अब आप विचार करो कि जिस पाप का सेवन करने की इच्छा-मात्र से रावण जैसे महान् सम्राट को अपने राज्य से ही नहीं अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा उस पाप के सेवन से साधारण मनुष्य की क्या हालत न होगी?

६

जो परस्त्री-लम्पट हैं और वेश्यागामी हैं वे भी रावण को पत्थर मारने दौड़ते हैं, मगर यह नहीं सोचते कि जिस दोष के कारण रावण की यह दशा हुई वही दोष मुझ में और भी ज्यादा है तो मेरी क्या दशा होगी?

७

रावण का पुतला जलाने वाले! जरा अपनी तरफ तो देख! तू स्वयं रावण का बाप बना बैठा है और रावण को जलाने चला है! अरे, पहले तू अपनी दुर्वासनाओं को जला, जो तुझे रावण से भी गया बीता बना रही हैं, पतित कर रही हैं और तब रावण के विषय में विचार करना।

८

सचाई सूर्य के समान है जो मिथ्या के मेघों में सदा के लिए छिपने की नहीं है। वह तो अन्तत प्रकट होने वाली ही है। सीता के सतीत्व पर कलंक लगाया गया था किन्तु क्या वह कलंक अन्त तक स्थिर रह सका? नहीं। सत्य आग को पानी बना कर प्रकट हो गया और उस सती को कलंक लगाने वाले ही कलंकित हुए।

९

दुश्चरित्र औरत को राक्षसी की उपमा दी गई है। उसके दोनों स्तन दो फाड़े हैं। जो ऐसी स्त्रियों के फंदे में फँस जाता है उसकी

वडी दुर्दशा हो जाती है। आरम्भ मे वे अपनी मोहक चेष्टाओ द्वारा पुरुप को अपनी ओर आकृष्ट करती है और जव पुरुष उनके चगुल मे फँस जाता है तो फिर उससे गुलाम जैसा व्यवहार करती हैं। ऐसे पुरुप के लिए जीवन भारभूत हो जाता है।

१०.

वेश्या का अधर क्या है? लुच्चो और गुण्डो के थूकने का ठीकरा है। जो अपनी प्रतिष्ठा को समझता है, वह भूल कर भी इस गलत रास्ते पर नही जाता।

११.

जिन लोगो को वेश्यागमन की गदी आदत पड जाती है, वे गर्मी, सुजाक आदि भीपण व्याधियो के शिकार हो जाते है और गल-गल कर मरते है। वे जीवन भर भयकर यातनाएँ भुगतते है और दूसरे लोग उनके प्रति सहानुभूति के दो शब्द तक नही कहते। परलोक मे जाने पर तपी हुई ताँवे की पुतलियो से उन्हे आलिंगन कराया जाता है।

१२.

परस्त्री की कामना करने वाला, परस्त्री की ओर विकार भरी दृष्टि से देखने वाला, परस्त्री को देखकर कुचेष्टाएँ करने वाला और परस्त्री को भ्रष्ट करने वाला पुरुप घोर पातकी है। वह अपनी ही प्रतिष्ठा को कलकित नही करता, वरन् अपने कुल और परिवार को भी कलक लगाता है। वह अपने पुरखाओ के निर्मल यश को भी कलंकित करता है। वह गदगी का कीडा सव की नजरो मे गिर जाता है। सभी उससे घृणा करते है। उसके परिवार के लोग भी उसका मुख देखना पसद नही करते। वह जहाँ कही जाता है, अपमान और तिरस्कार का पात्र वनता है।

अपरिग्रह

१

परिग्रह घोर अनर्थकारी है। यह मनुष्य से अकरणीय कार्य करा लेता है। अनाचरणीय का आचरण करा लेता है परिग्रह की लालसा के वशीभूत होकर मनुष्य कितना गिर जाता है और किस प्रकार मानव से दानव बन जाता है यह बात किसी से और आपसे छिपी नही है। यह परिग्रह ही तो है जो मनुष्य को चोर बनाता है डकैत बनाता है, खूनी बनाता है और घोर से घोर अकृत्य करवाता है।

२

जिस परिग्रह को प्राप्त करने की कामना मात्र से आत्मा मे अतीव कलुषित विचारो का उदय होता है मनुष्य अपनी मनुष्यता से भी पतित हो जाता है और अपने जीवन के प्रशस्त अंशो को भूल जाता है वह परिग्रह कल्याणकारी किस प्रकार हो सकता है ? कदापि नही।

३

जैसे पत्थर की नाव भारी होने के कारण समुद्र मे डूब जाती है उसी प्रकार जो प्राणी परिग्रह के भार से भारी होता है वह ससार सागर मे डूब जाता है। अतएव जिसे डूबने की इच्छा न हो उसे चाहिये कि वह परिग्रह का परित्याग करे।

४

निश्चिन्त बनने के लिए निष्परिग्रही बनना चाहिए।

कषाय

१

ईर्षा, द्वेष, लोभ आदि कषायो से प्रेरित होकर कितनी ही क्रिया क्यो न की जाय, आत्मा का कल्याण नही हो सकता। कितना ही लम्बा तिलक लगाओ और मुहपत्ती बाँधो, किन्तु आखिर तो कषायो को जीतना ही काम आयगा।

२.

तुम ईश्वर से मिलना चाहो, और झूठ, कपट, लोभ, लालच, मोह-ममता आदि को छोडना भी न चाहो, यह नही हो सकेगा। दो घोडो पर एक साथ सवारी नही हो सकती।

३.

जिसके अन्त करण मे कषाय की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, उसका विवेक दग्ध हो जाता है। वह यथार्थ वस्तु-स्थिति का विचार नही कर सकता। वह अपने दोषो को न देखकर दूसरे के ही दोषो का विचार करता है।

४.

मोक्ष का बाधक कषाय भाव ही है। दाख का धोवन पीने वाला छठे गुणस्थान मे और मेथी का धोवन पीने वाला सातवे गुणस्थान मे हो सो बात नही है। मैले कपड़े पहनने मात्र से भी गुणस्थान नही चढता। गुणस्थान चढने के लिए कषाय को जीतने की आवश्यकता है। भुने चने या बोर का आटा खाने वाला भी अगर लोलुपता के साथ खाता है तो वह पाप का भागी होता है और यदि बादाम का सीरा विरक्त भाव मे खाता है तो वह पाप का भागी नही होता।

५.

कषायो की ज्यो-ज्यो उपशान्ति होती है, त्यों-त्यों गुणस्थानो की

उच्चता प्राप्त होती है। ससार भर के साहित्य को कण्ठस्थ कर लेने पर भी जिसने अपनी कषाय को निरकुश नही जीता वह एक भी गुणस्थान ऊँचा नही चढ सकता। इसके विपरीत अगर ज्ञान विशेष प्राप्त नही हुआ है, फिर भी कषाय विजय का गुण प्राप्त हो गया है तो गुणस्थान-श्रेणी ऊँची चढ जायगी।

६

तत्वज्ञान के साथ कषाय का उपशम होने से ही आनन्द होता है। कोई बेले-बेले पारणा करे परन्तु कषायो का निग्रह न करे तो वह सच्चा तपस्वी नही कहला सकता। इसी प्रकार तत्वज्ञान पा लेने पर भी अगर कोई कषायों को शान्त नही कर पाता है तो वह सच्चा तत्वज्ञानी नही है।

७

हे मुमुक्षुओ ! जो कोई भी क्रिया करो उसमे कषाय को जीतने का ध्येय प्रधान रूप से रखो। कषाय को न जीत सकोगे तो कितना ही तपस्या करो, कितने ही मले कपडो मे रहो आत्मा को मुक्ति नही मिलेगी। अतएव कषाय के कचरे को हटाओ।

८

तपस्या आदि कोई भी बाह्य क्रिया तभी सार्थक होती है जब वह कषाय विजय मे सहायक हो। अतएव जो कुछ भी करो उसमे कषाय विजय ही प्रधान होना चाहिए। तपस्या करो तो शरीर पर से ममता कम करने के लिए कर्मों की निर्जरा करने के लिए और अप्रमत्त अवस्था प्राप्त करने के लिए करो। भाव-पूजा प्रतिष्ठा यश आदि के लिए मत करो। ऐसा करोगे तो कष्ट भी उठाओगे और आत्मिक प्रयोजन को भी पूरा नही कर पाओगे। बल्कि कषायभाव मे उनकी वृद्धि होगी। मोक्ष और भी दूर चला जायगा।

९

कषायो की उपशान्ति ही आत्मा के उत्थान का चिह्न है। ज्ञान उच्च श्रेणी का हो फिर भी अगर कषायो का उपशम न हुआ तो ज्ञान व्यर्थ है। आत्मा की पवित्रता का प्रधान आधार निष्कषायवृत्ति ही है।

१०.

जैसे मदिरा का असर होने पर प्राणी बेभान हो जाता है, उसी प्रकार कषाय का आवेश होने पर भी प्राणी अपने आपको भूल जाता है। उसे अपना भला-बुरा भी नही सूझता और ऐसे-ऐसे काम कर गुजरता है कि उसे सदैव पछताना पड़ता है।

११.

बोतल मे मदिरा भरी है और ऊपर से डाट लगा है। उसे लेकर कोई हजार बार गगाजी मे स्नान कराए तो क्या मदिरा पवित्र हो जाएगी ? क्या वह गगाजल से पूत मदिरा पेय हो गई ? इसी प्रकार जिसका अन्तरग पाप और कषाय से भरा हुआ है, वह ऊपर से कितना ही साफ-सुथरा रहे, बगुले की तरह झक्-सफेद दिखाई दे, किन्तु वास्तव मे तो रहेगा अपावन ही।

१२.

समझदार आदमी विवेकवान होता है तो मजे मे घर अथवा दुकान जाता है किन्तु जो शराब पी लेता है और नशे मे होता है, वह बीच मे काँटो मे ही धडाम से गिर पडता है। इसी प्रकार कषाय और प्रमाद मे पडकर जीव दुर्गति मे जा पडता है। वस्तुत कर्म से ही सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। अतएव मनुष्य का प्रथम और प्रधान कर्त्तव्य एव उद्देश्य यही होना चाहिए कि वह कर्मो को नष्ट करने का प्रयत्न करे।

१३.

जो जितना कषायो का त्याग करता है, वह उतना ही अधिक धर्मनिष्ठ है, फिर भले ही वह किसी वेष मे क्यो न रहता हो।

१४.

जिसने कषायो को मारा उसने जन्म-मरण को मारा।

☆

१

क्रोधी मनुष्य स्वयं जलता है और दूसरों को भी जलाता है। सर्वप्रथम स्वयं सन्ताप करता है जलन के कारण व्याकुल होता है फिर दूसरों को सन्ताप पहुँचाने का प्रयत्न करता है। उसके प्रयत्न से दूसरों को दुःख हो या न हो दूसरे का अहित हो भी सकता है और कभी नहीं भी होता, मगर क्रोधी आप स्वयं अपना अहित अवश्य कर लेता है। अतएव भगवान का आदेश है कि अगर तुम सन्ताप से बचना चाहते हो, जलन तुम्हें प्रिय नहीं है शान्ति पसन्द है तो क्रोध को अपने काबू में रक्खो। क्षमा भावना को बढाओ।

२

क्रोध बहुत बुरा दुर्गुण है। यह अकेला ही दुर्गुण समस्त सद्‌गुणों को नष्ट करने वाला है। यह नरक का द्वार है। जिसने इस दरवाजे में प्रवेश किया उसे नरक पहुँचते देर नहीं लगती।

३

क्रोधी का खून सूख जाता है। उसका शरीर रुग्ण हो जाता है। क्रोधी स्वयं दुःखी होकर घर के सब लोगों को दुःखी बना देता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। वह चिड़चिड़ा हो जाता है। वह जो कुछ खाता-पीता है उसका रस क्रोध की आग में भस्म हो जाता है।

४

भाइयो! क्रोध की आग वह आग है जो पहले अपने आश्रय को ही जलाती है। जिस चित्त में क्रोध की ज्वालाएँ दहकती हैं वह चित्त ही पहले-पहल जलता है। क्रोध की ज्वालाएँ दूसरे को जलाएं और कदाचित न भी जलाएँ पर अपने उत्पत्ति स्थान को तो जला कर राख कर ही डालती हैं।

५.

आग भी जलाती है और क्रोध भी जलाता है, किन्तु दोनो से उत्पन्न होने वाली जलन मे महान् अन्तर है। आग ऊपर-ऊपर से चमडी आदि को जलाती है, मगर क्रोध अन्तरग को समाप्त करता और जलाता है। क्रोध की अग्नि वडी जवर्दस्त होती है।

६.

क्रोध को चाण्डाल की उपमा दी जाती है। वास्तव मे देखा जाय तो असली चाण्डाल क्रोध ही है। जिसके चित्त मे क्रोध का वास है वह स्वय चाण्डाल है।

७.

क्रोधी मनुष्य जव क्रोध के आवेश मे आता है, तो उसमे एक प्रकार का पागलपन आ जाता है। पागल आदमी जैसे अपने हित-अहित का विचार नही कर सकता, उसी प्रकार क्रोधी भी। यही कारण है कि वह कोई भी अनर्थ करने मे सकोच नही करता।

८.

क्रोध से जो पागल होता है, वह सत्-असत् का विचार करने मे असमर्थ हो जाता है। क्रोध की आग मे उसकी विचार-शक्ति भस्म हो जाती है। वह न वोलने योग्य भाषा वोलता है, न करने योग्य कार्य करता है और न करने योग्य सकल्प करता है। वह क्रोध की आग में स्वय भी जलता है और दूसरो को भी जलाता है।

९

क्रोध से तपस्वी की तपस्या छिन्न-भिन्न हो जाती है। जैसे हलुवे मे कपूर की धूनी दे दी जाय, कलाकद मे सखिया डाल दिया जाय तो वताओ क्या वह खाने योग्य रहेगा ? उसी प्रकार तप और त्याग मे यदि क्रोध का मेल हो जाय तो सारी तपस्या व्यर्थ हो जाती है।

१०.

क्रोध सर्वत्र अनर्थ का ही कारण होता है। वह देश मे, जाति मे, समाज मे, परिवार मे और मित्र-मण्डली मे अशान्ति पैदा कर देता

है फूट डाल देता है और अव्यवस्था उत्पन्न करके उसका विनाश कर डालता है। अतएव शास्त्रों में यही उपदेश दिया गया है कि क्रोध का त्याग देना चाहिए। क्रोध धर्म का, आत्म-कल्याण का विनाशक है और अत्यन्त भयानक है।

११

मनुष्य जब क्रोध में आता है तो भद्दे शब्दों का प्रयोग करता है और फिर उस उन शब्दों के लिए लज्जित होना पड़ता है। बनिया मांस नहीं खाता लेकिन क्रोध में आकर बोलता है कि तुझे कच्चा ही खा जाऊँगा'। ऐसी भाषा सभ्य और धार्मिक पुरुषों को कभी नहीं बोलनी चाहिए। कदाचित् मन पर काबू न रहा हो और आवेश में ऐसे शब्द निकल गये हो तो प्रायश्चित लेकर शुद्धि कर लेनी चाहिए और जिससे ऐसे शब्द कहे हों उससे क्षमा माँग लेनी चाहिए।

१२

जैसे पागल मनुष्य को न अपने हित-अहित का भान रहता है और न दूसरों के हिताहित का ख्याल रहता है। उसी प्रकार क्रुद्ध मनुष्य भी भलाई-बुराई का भान भूल जाता है। क्रोध के कारण कभी-कभी लोग आत्म हत्या तक कर डालते हैं।

१३

जिस प्रकार पानी की तह में जमे हुए कीचड़ को हाथ डालकर हिला दिया जाय तो निर्मल जल भी मैला हो जाता है इसी प्रकार क्रोध के कारण समझदार आदमी भी क्षण भर में मूर्ख बन जाता है।

१४

क्रोध के आवेश में मनुष्य अंधा हो जाता है। वह पागलपन की स्थिति में पहुँच जाता है। उसका मस्तिष्क शून्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही कोई-कोई आत्मघात तक कर लेता है। अतएव क्रोध बड़ा ही भयंकर शत्रु है।

☆

मान

१.

चिउँटी के जव पर आते है तो लोग कहते है कि यह पर नही मरने की निशानी है, यमराज का नोटिस है। जव किसी आदमी मे घमण्ड का भाव अत्यधिक वढ गया हो और वह घमण्ड के कारण फूल रहा हो तो समझो कि इसकी मौत इसके सिर पर चक्कर काट रही है।

२

अभिमान पाप का मूल है। अभिमान उन्नति और प्रगति के पथ का एक जवर्दस्त रोडा है। अभिमान मनुष्य को अन्धा वना देता है। जो अभिमान से अन्धा वन जाता है उसे अपने अवगुण और दूसरे के सद्‌गुण नही दिखाई देते। अभिमानी मनुष्य उचित-अनुचित का भेद भूल जाता है। विनय को नष्ट करने वाला अभिमान ही है। अतएव अपना कल्याण चाहते हो तो अभिमान का त्याग करो। वडो-वूढो का आदर करो।

३

यह अहकार वडा भारी दुर्गुण है। नाना रूपो मे यह मनुष्य को अपने अधीन वनाता है। कलदार वढे और अभिमान वढा, वुद्धि खिली कि अभिमान भी खिला। पाँच आदमी पूछने लगे कि घमण्ड वढ गया। जरा-सा गुण आता है तो दुर्गुण भी उसके साथ भगा आता है। किसी को भला आदमी समझ कर मुखिया वनाया और वही काटने दौड पडा।

४

गधेडा चिल्लाता है—टी-भू-टी-भू अर्थात् जो हूँ सो मैं हूँ मगर कौन उसे वडप्पन देता है ? इसी प्रकार जो मनुष्य अहकार से चूर रहता है और अपने सामने किसी को कुछ गिनता ही नही है, उसे सम्यग्वोध की प्राप्ति होना कठिन है।

५

अभिमान पतन की ओर ले जाने वाला घोर शत्रु है। वह विनाश का सृष्टा है। उसके चंगुल से अपनी रक्षा करो अपने आपको बचाओ। निरहंकार वृत्ति अभ्युदय की सीढ़ी है। ज्यों-ज्यों नम्रता धारण करोगे ऊँचे उठोगे। शास्त्रों का कथन है कि नम्रता धारण करने से उच्च गोत्र का बंध होता है और अहंकार करने से नीच गोत्र कर्म बंधता है।

६

अभिमानी पुरुष दूसरों के सद्‌गुणों को भी दुर्गुणों के रूप में देखता है और अपने दुर्गुणों को भी सद्‌गुण समझता है। फल यह होता है कि वह सद्‌गुणों से वंचित रहता है और दुर्गुणों का भंडार बन जाता है।

७

अभिमान एक प्रकार की बीमारी है जो समस्त गुणों को कृश और दुर्बल बना देती है। अभिमानी के समस्त गुण अवगुण बन जाते हैं। वह आदर का नहीं, घृणा का पात्र बनता है। इसके विरुद्ध विनीत पुरुष आदर-सम्मान के योग्य समझा जाता है। अतएव अपने मन में भूलकर भी कभी अभिमान मत आने दो।

८

भाइयो! अभिमान मनुष्य का एक प्रबल शत्रु है। जो अभिमानी है वह स्वभावतः अपने राई जितने गुणों को पर्वत के बराबर और दूसरों के पर्वत के बराबर गुणों को राई के बराबर समझता है। उसके ऐसा समझने से दूसरों की कोई हानि नहीं होती उसी की हानि होती है क्योंकि उसके सद्‌गुणों का विकास नहीं हो सकता। वह न विद्या प्राप्त कर पाता है न विनय प्राप्त कर सकता है और न दूसरे सद्‌गुण ही पाता है। अभिमानी को लोग हिकारत की निगाह से देखते हैं। उन्नति में जितना बाधक अभिमान है उतना और कोई नहीं। अतएव अभिमान को त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

९

वास्तविक दृष्टि से देखोगे तो आपको अवश्य ऐसा जान पड़ेगा

कि अहंकार करने योग्य वस्तु ही आपके पास नही है। दुनिया मे एक से एक बढकर सद्गुणी पड़े है, श्रीमन्त है, बलवान है, विद्यावान है। क्या तुम समझते हो कि तुम्हारा स्थान विश्व मे अद्वितीय है? कदाचित् ऐसा है तो भी अहकार के लिए कोई कारण नही है। क्योकि जिस चीज के लिए तुम अहकार करते हो, वह स्थायी नही है और तुम्हारी नही है।

१०.

अहकार ससार-सागर मे गोते खिलाने वाला है। शरीर सुन्दर हुआ, पैसा कुछ ज्यादा इकट्ठा हो गया, बी ए या एम ए की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली, दुकान मे नफा होने लगा या ग्राहक अधिक आने लगे, प्रेसीडेन्ट साहब बन गये बस अहकार आ जाता है। यह सब अहकार आने के कारण है। मगर सत्त्वशाली मनुष्य वही है जो अहकार की सामग्री विद्यमान होने पर भी—विद्या, सम्पत्ति, बल, रूप आदि होने पर भी अहकार नही करता।

११

मैं रूप का या बल का अभिमान करूँ? मगर वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मैं अरूपी हूँ। रूप पुद्गल का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव ही नही है। रूप मेरा विकार है और मेरा कलक है। मेरे लिये जो कलक की चीज है, उस पर अभिमान कैसे करूँ? बल आत्मा का गुण है और वह अनन्त है। उस अनन्त बल मे से असख्यातवाँ हिस्सा भी आज मुझे प्राप्त नही है। फिर अभिमान कैसा?

१२

कुल और जाति का अभिमान करना मूर्खता है। अनादि काल से ससार मे भ्रमण करते-करते इस जीव ने सभी जातियो मे और सभी कुलो मे अनन्त-अनन्त बार जन्म धारण किया है। अनन्त बार यह चाण्डाल कुल मे जन्म ले चुका है। फिर जाति और कुल का अभिमान किसलिए? और दरअसल न तो कोई जाति ऊँची होती है और न नीची होती है। उच्चता और नीचता का आधार कर्त्तव्य है। ऊँचा कर्त्तव्य करने वाला ऊँचा और नीचा कर्त्तव्य करने वाला नीचा होता है।

१३

तुम्हे एश्वर्य मिला है तो उसके अभिमान म ऐंठना ठीक नही है। कितना एश्वर्य है तुम्हारे पास ? चक्रवर्त्ती वासुदेव और बडे-बडे सम्राटों के एश्वर्य के आगे तुम्हारे ऐश्वर्य की क्या गिनती ? वे भी खाली हाथ चले गये तो तुम क्या लेकर जाने वाले हो ?

१४

क्या तू जवानी का घमड करता है ? जवानी का घमड करने से पहले बूढों म तो पूछ ले। वह भी एक दिन तेरे ही समान जवान थे। पर आज उनकी क्या अवस्था है ? तू समझता है कि वही बूढे हुए हैं और तू सदा जवान बना ही रहेगा कभी बूढा नही होगा। जवानी तो समुद्र की हिलोर है आई और चली गई। उस पर इतराना कैसा ?

१५

जब तक मल शरीर के भीतर है शरीर म शक्ति है। सारा मल निकल जाय तो हाथ-पैर भी नही हिल सकते आँख भी नही खुल सकती इस प्रकार जिसकी जिन्दगी मल पर निर्भर है उसे अभिमान करना क्या शोभा देता है ?

१६

जरा विचार कीजिए कि आपके पास अभिमान करने योग्य क्या है ? आपका शरीर इतना अशुचि है कि ससार मे दूसरी कोई वस्तु इतनी अशुचि नही। जिसमें से निरन्तर अशुचि पदार्थ बहते रहते हैं जो क्षण भर म निर्जीव बन कर घोर बदबू देने लगता है और फिर जिसे प्रिय से प्रिय स्वजन भी शीघ्र से शीघ्र आग मे झोंक देने को तैयार हो जाते हैं उस शरीर पर अभिमान !

१७

भाइयो ! पुण्य के योग से तुम्हें सुन्दर सबल और स्वस्थ शरीर मिल गया है तो अभिमान मत करो। शरीर म अभिमान करने की बात है भी क्या ? अगर शरीर की असलियत का विचार किया जाय तो यही नतीजा निकलता है कि देह अपवित्र है अपावन है वस म

कम अभिमान करने योग्य तो नही ! देखो न, कैसा मल का पुतला है यह शरीर ! नाक मे से रेंट झरता है, आँखो मे से गीड निकलता है, मुँह मे से कफ तथा थूक निकलता है, एक तरफ से मल और एक तरफ से मूत्र वहता है ! भला ऐसी चीज का अभिमान क्या ? जव तक इसमे चेतनदेव विराजमान है तभी तक यह काम का है ।

१८

जो ज्ञानवान होता है वह जानता है कि मै किस चीज पर अभिमान करूँ ? अभिमान करने योग्य मेरे पास क्या है ? धन-दौलत मेरे पास है तो क्या हुआ, दुनिया मे एक से वढकर एक धनवान है। इसके सामने मेरी सम्पदा तुच्छ है । उस पर मैं क्या अभिमान करूँ ? जिस धन-दौलत पर मै अभिमान करता हूँ उसे कीचड के समान समझ कर ज्ञानी पुरुषो ने त्याग दिया है । उसे ठुकरा दिया है ।

१९.

यह कदापि न सोचिये कि कीर्ति की कामना का परित्याग कर देने से आपको कीर्ति नही मिलेगी । कीर्ति आपके सदाचार से और सद्‌गुणो से प्राप्त होगी । अगर आपका आचरण ऊँचा है, अगर आपके जीवन मे सद्‌गुणो की सुगन्ध है, अगर आपके कार्यो मे नीति की परम उज्ज्वलता है, अगर आप धर्म के द्वारा प्रदर्शित पथ पर ही चलने को उद्यत रहते है तो कीर्ति आपके पास भागी-भागी आयेगी । आप न चाहेगे तो भी आयेगी ।

२०

सच तो यह है कि जो वस्तु आपसे भिन्न हो सकती है उसे अपनी कहना अज्ञान है । अपनी वस्तु अपने से कभी अलग नही होती । इस कसौटी पर कसकर देखो कि क्या तुम्हारा है और क्या नही है ? जव आपको यह ज्ञान हो जायगा कि हमारा क्या है और क्या नही है, तो भौतिक पदार्थो का अभिमान करना छूट जायगा । उस समय आप सोचेंगे कि जो हमारी है ही नही, उसका अभिमान कैसा ?

२१.

जैसे बालक के हाथ में पड़ी हुई तलवार उसके लिए घातक होती है, उसी प्रकार अभिमानी और अविनीत पुरुष का ज्ञान भी उसके लिए

हानिप्रद सिद्ध होता है। उसके लिए अयसाधक और कल्याणकारी शास्त्र भी अनथकर और अकल्याणकारी साबित होता है। यह शास्त्र भी शस्त्र बन जाता है। अतएव प्रत्येक कल्याणकामी साधक का सवप्रथम कत्तव्य यही है कि वह विनीत बन अपने धम-गुरु ज्ञानदाता एव उपकारी के प्रति विनम्र होकर रहे।

२२

सब अपना-अपना भाग्य लेकर आये हैं। मनुष्य वृथा ही अहकार करता है कि मेरे पुरुषाथ से मेरे प्रताप से मेरी कमाई से या मेरी सहायता से दूसरा का भरण-पोषण हो रहा है। चलती गाडी के नीचे-नीचे एक कुत्ता चल रहा था। वह समझता था कि गाडी को मैं ही चला रहा हूँ। यही दशा अधिकाश गृहस्थो की है। वे समझते हैं कि गृहस्थी की गाडी हमारे बल पर चल रही है। वास्तव मे कोई किसी के भाग्य को पलट नही सकता।

२३

अभिमानी आदमी न स्वय सही बात सोच सकता है और न दूसरो की बात मानता है। वह तुच्छ होता हुआ भी अपने आपको महान् समझता है। एक मच्छर भैंस के सीग पर बैठ गया। वह भैंसे से कहने लगा—क्यो रे पाडे? मेरा वजन तुझे असह्य तो नही लगता? भैसा कहने लगा—वाह रे मच्छर! क्या तू भी किसी गिनती मे है? इसी तरह गाड़ी के नीचे-नीचे कुत्ता चलता है। वह समझता है कि गाडी मेरे बल से चल रही है। मैं ही गाडी का सारा बोझ उठाये हूँ। उसे मालूम नही है कि गाडी मे बैल जुते है और वह गाडी को चला रहे हैं।

२४

कठोर भूमि मे अकुर नही उग सकते। यही बात मनुष्य के हृदय की है। मनुष्य का हृदय जब कोमल होगा उसको अभिमान रूपी कठोरता हट जायगी तभी उसमे धम का अकुर उग सकेगा। अभिमान को छोडे बिना आत्मा उन्नत नही बन सकता। जो जीव

अभिमान का त्याग करेगा वही सुखी बनेगा। वह दूसरों के सद्गुणों को ग्रहण करके सद्गुणी बन सकेगा।

२५.

बड़े सदा बडप्पन का ही विचार करते है। वे छोटो के मुकाबिले मे छोटे नही बन जाते। एक कुत्ता बोला—मै बडा जबर्दस्त हूँ। उससे पूछा गया—तुम किस बात मे बडे हो? उसने उत्तर दिया—मैं दुनिया पर भौकता हूँ, लेकिन मुझ पर कोई नही भौकता। उससे कहा गया—जनाब! दुनिया आप जैसी नही है, इसलिए नही भौकती। आप पर वही भौकेगा जो आप सरीखा होगा। इसलिए आप अपनी विजय का भले ही घमण्ड करे मगर दुनिया आपको जानती है।

२६.

मानी यह नही सोचता कि दूसरो की मेरे विषय मे क्या सम्मति है? अहकारी मनुष्य अपने आपको चाहे हिमालय से भी बडा समझ ले, मगर दूसरे लोग उसे तुच्छ या क्षुद्र ही समझते है। अहकारी आदर चाहता है किन्तु उसे घृणा मिलती है। आदर तो विनयवान् को प्राप्त होता है।

२७

देखो, बालक के दिल मे अहभाव नही होता। वह नही समझता कि मैं भी कुछ हूँ, तो वह बड़े-बड़े राजाओ के रनिवास मे भी बेरोक-टोक जा सकता है। उसके सब कसूर माफ है। मगर जो अपने को ही सब कुछ समझता है उसका सिर रहना भी कठिन है।

२८.

तुम्हारे सामने से दो रास्ते जाते है। उनमे से एक रास्ता पतन का है और दूसरा उत्थान का। अगर उत्थान के मार्ग पर चलोगे तो सर्वोत्कृष्ट देव विमान—सर्वार्थसिद्धि मे पहुँच जाओगे और फिर एक मनुष्य भव धारण करके मुक्ति प्राप्त कर लोगे। पतन के रास्ते पर चलने मे नरक और निगोद मे जाना पडता है। 'मैं कुछ नही हूँ', यह उत्थान का मार्ग है और 'मैं ही सब कुछ हूँ, जो हूँ मैं ही हूँ', यह पतन का मार्ग है।

२६

जब तक आपके दिल में दया है और दिमाग में गरीबी का भाव है तभी तक ईश्वर आपके साथ है। जिस क्षण आपके चित्त में अहंकार का अंकुर उत्पन्न हो जायगा और आप समझेंगे कि 'जो कुछ हूँ मैं ही हूँ' उसी क्षण ईश्वर आपका साथ छोड़ देगा।

३०

जो मनुष्य प्रतिष्ठा या पूंजी बढ़ने पर भी समभाव में रहता है वही उन्नति करता है। जो जरा-सा उन्नत होते ही आसमान में उछलने लग जाता है उसकी उन्नति तो रुक जाती है। वह अवनति के गहरे गर्त में भी गिरे बिना नहीं रहता।

३१

जहाँ मान है वहीं अपमान है। ध्यान लगाकर देखोगे तो पता चलेगा कि जहाँ अभिमान है वहाँ ईश्वर नहीं है।

३२

अपने मुंह अपनी प्रशंसा करना एक प्रकार की मूर्खता है। वह प्रशंसा समझदारों के सामने अप्रशंसा रूप हो जाती है। अपने मुंह मियाँ मिट्ठू बनने वाला घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

३३

जहाँ अभिमान है वहाँ विनय नहीं और जहाँ विनय नहीं वहाँ विवेक नहीं बुद्धि नहीं नम्रता नहीं मृदुता नहीं गुण-ग्राहकता नहीं। इस प्रकार विचार करने से विदित होगा कि अभिमान प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सब सद्गुणों को नष्ट करने वाला है। वह अनेक अनर्थों का मूल है।

विनय

१

विनय अखण्ड सुखस्वरूप मुक्ति को प्रदान करता है, विनय से सब प्रकार की श्री प्राप्त होती है, विनय से प्रीति की उत्पत्ति होती है और विनय से मति अर्थात् ज्ञान का लाभ होता है।

२.

भाइयो ! नम्रता वडी भारी चीज है। नम्रता विनय है और विनय तपस्या है। तपस्या से कर्मो की निर्जरा होती है। निर्जरा होने पर कर्म हट जाते है और आत्मा विशुद्ध हो जाती है। आत्मा की विशुद्धि होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होते है। इसलिए नम्रता वडी भारी चीज है।

३

किसी भी प्रकार की खेती करने के लिए पहले जमीन को कोमल वनाने की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार किसी भी गुण को प्राप्त करने के लिए विनय की आवश्यकता होती है।

४.

अगर आप अपना कल्याण चाहते है और गुणवान् वनना चाहते हैं तो विनय को ग्रहण कीजिये। विनय नगद धर्म है। उससे इस भव मे भी अनेक लाभ होते है और परभव मे भी महान कल्याण होता है।

५

ज्ञान का फल निरभिमानता है, अभिमानी होना नही। जिसने श्रुतज्ञान प्राप्त किया है, वह ज्ञान की असीमता को भली-भाँति समझ लेता है। कहा जाता है कि श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक निर्मल केवलज्ञान है। उसकी तुलना मे मेरा अधिक से अधिक ज्ञान भी नगण्य है। फिर अभिमान किस विरते पर किया जाय ?

६

जैसे मूल के उखड़ जाने पर वृक्ष खड़ा नही रह सकता, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म स्थिर नही रह सकता। विनीत पुरुष सम्पत्ति का अधिकारी होता है और अविनीत आपत्तियों से घिरा रहता है।

७

विनय धर्म आत्मा में मृदुता उत्पन्न करता है। आत्मा की मृदुता अन्य समस्त सद्गुणों को खींच लाती है। अतएव मार्दव (विनय) भाव को अपनाओ। अभिमान को त्यागो। अभिमानी व्यक्ति सद्गुणों से वंचित रहता है और दूसरों की दृष्टि में तिरस्कार एवं घृणा का पात्र बनता है।

८

लोहा कितना कठोर होता है। एक मोहर के बदले बहुत-सा लोहा खरीदा जा सकता है। पर जब वह नरम होता है तब उससे औजार बनाये जाते हैं और एक-एक औजार हजारों की कीमत का बन जाता है। यह मृदुता का ही प्रभाव है।

९

नम्रता वह वशीकरण है कि दुश्मन को भी मित्र बना लेती है। पाषाण हृदय को भी पिघला देता है। देखो ना पत्थर कितना कठोर होता है। उसमें यदि नख गड़ाया जाय तो वह टूट जायगा, लेकिन पत्थर का कुछ नही बिगड़ेगा। मगर रस्सी कितनी मुलायम होती है। प्रतिदिन उसकी रगड़ लगने से पत्थर में भी खड्डे पड़ जाते हैं। वास्तव में नम्रता और कोमलता बड़ी काम की चीज है। वह जीवन का बढ़िया शृंगार है, आभूषण है। उससे जीवन चमक उठता है।

१०

फिर कौन झुकायेगा? जिसमें मृदुता होगी, सहृदयता होगी और साथ ही जो अपने को कुछ नही समझेगा। जो अपने को कुछ नही समझेगा वही सब कुछ समझा जायगा और जो अपने आपको सब

कुछ समझेगा, वह कुछ भी नही समझा जायेगा। वह अपने को भले ही वडा समझे परन्तु लोग उसे तुच्छ समझेगे।

११.

आम के वृक्ष मे जव फल लगते है तो वह झुक जाता है, नम जाता है। इसी तरह इमली आदि के फल वाले वृक्ष भी नम जाते हैं। मगर आकडा नही नमता है और कदाचित् नम जाता है तो टूट जाता है। आशय यह है कि जिसमे क्षुद्रता है, टुच्चापन है, वह नमना नही जानता। नमेगा तो योग्य ही नमेगा। विनय वड़े आदमियो का लक्षण है और अभिमान तुच्छ व्यक्तियो का लक्षण है। नमने से आदमी वडा माना जाता है।

१२

जैसे जड उखड जाने पर सम्पूर्ण वृक्ष धराशायी हो जाता है उसी प्रकार विनय के अभाव मे कोई भी धर्म नही टिक सकता।

१३.

अगर तुम्हारा अन्त करण विनय से विभूपित होगा तो उसमे धर्म का मधुर फल देने वाला अकुर अपने आप ही अंकुरित हो जायगा।

१४.

धर्म मे नम्रता धारण करने से मोक्ष मिलता है और ससार-व्यवहार मे नम्रता धारण करने से जीवन मे कष्ट नही होता है। रेल्वे की मुसाफिरी मे नम्रता दिखलाने से जगह मिल जाती है। अकडने वालो को धक्के खाने पडते हैं, उनका सामान फेंक दिया जाता है।

१५

जो नमता है वह लायक समझा जाता है। अतएव अगर कोई कहता है कि हम क्यो नमे ? तो उसे यही उत्तर दिया जा सकता है कि अगर लायक वनना हो तो नमो।

१६.

उपकार करने वाले तो फिर भी मिल जायेगे, मगर उपकार करके अभिमान न करने वाले विरले ही होते है। अधिकाश लोग तो

ताना भर उपकार करके मन भर ऐहसान जतलाते हैं। ऐसे लागा के परोपकार की कीमत तुच्छ रह जाता है। वास्तव म वही व्यक्ति श्रेष्ठ और धर्मिष्ठ है जो दूसर पर दया करके भी नम्रतापूवक रहता है अभिमान नही करता और पर-दया को स्व-दया ही समझता है।

१७

भाइयो! विनय जाति-सम्पन्नता और कुल सम्पन्नता का लक्षण है। जिसकी जाति और जिसका कुल उत्तम और सुसस्कारों स सम्पन्न होगा उसम सहज ही विनयभाव उत्पन्न हो जायगा। यहाँ जाति का अथ ब्राह्मण क्षत्रिय आदि नही है और न ओसवाल अग्रवाल पोरवाल आदि ही है। शास्त्रों म इस प्रकार के जातिवाद को कोई महत्त्व नही दिया गया है। जाति का अथ है—माता का पक्ष। जिसका मातपक्ष शुद्ध होगा सुसस्कृत होगा और धार्मिक होगा उसकी सतति भी नम्र होगी और वही जाति-सम्पन्न कहलाएगा। वही त्याग प्रत्याख्यान आदि भली भाँति निभाएगा।

१८

कुल का अथ है पितृपक्ष। जिसका पिता शुद्ध होगा अच्छे सस्कारों स युक्त होगा उसका पुत्र धम की जो बात पकडेगा उस पार लगाएगा। राजा हरिश्चन्द्र न चाण्डाल की जघन्य चाकरी करना स्वीकार किया किन्तु अपन धम को नही छोडा। इस प्रकार की कुलीनता जिसमे होती है वह विनयवान् होता है।

१९

पुत्र को पिता पर लघुभ्राता को ज्येष्ठ भ्राता पर इसी प्रकार प्रत्येक छोटे को बडे के प्रति विनयभाव रखना चाहिए। ऐसा करन स गाहस्थ्य-जीवन आनन्दमय शान्तिमय रसमय और सुखमय बनता है। विनयवान् का जीवन का विकास होता है और विनय विहीन का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

२०

विनय के बिना इस लोक म भी सुख-शान्ति नही मिलती। जिस कुटुम्ब म पुत्र पिता के प्रति और माता के प्रति विनय भाव रखता है

प्रत्येक छोटा अपने से वड़े के सामने विनम्रतापूर्ण व्यवहार करता है, उस कुटुम्ब मे आनन्द-मगल रहता है। स्नेह का मधुर रस वरसता है। वहू, सासू का विनय करेगी तो वह जव स्वय सासू बनेगी तो उसकी वहू भी उसके प्रति विनययुक्त व्यवहार करेगी।

२१

देखो! रजकण हल्के होने से उडकर रईसों के सिर पर भी पहुँच जाते है, लेकिन पत्थर कठोर होने से ठोकर खाते रहते है।

२२.

जैसे पानी नीचे की ओर ही वहता है, ऊपर की ओर नही, उसी प्रकार गुण विनयशील व्यक्ति मे ही आते है। अभिमान के कारण जिसकी गर्दन ऊँची वनी रहती है, उसमे गुण नही आ सकते।

२३.

कपडा कही से थोडा-सा फट जाय और उसी समय साध लिया जाय तो अधिक फटने नही पायेगा। अगर लापरवाही रखी तो वह फटता ही चला जाता है और पहनने के काम का नही रहता। यही हाल अविनीत शिष्य का होता है। अतएव विनय-धर्म को अगीकार करके अविनय से दूर होना चाहिए।

२४.

जैसे सपूत वेटा वाप की भक्ति मे और भली वहू सासू की भक्ति मे उद्यत रहती है, उसी प्रकार चेले को गुरु की भक्ति मे तत्पर रहना चाहिए। इससे दोनो की आत्मा को शान्ति-लाभ होता है। गुरु को समझना चाहिए कि चेला मेरे संयम मे सहायक है, आधारभूत है, साता पहुँचाने वाला है, और चेले को समझना चाहिए कि गुरु महाराज मुझे अज्ञान के अन्धकार मे से निकालकर लोकोत्तर प्रकाश देने वाले हैं, मोक्ष का मार्ग दिखलाने वाले हैं। इस प्रकार विचार कर व्यवहार करने से दोनो का ही कल्याण होता है।

२५.

नाक कितनी ही ऊँची क्यो न हो, ललाट से तो नीची ही रहेगी।

इसी प्रकार चेला कितना ही बड़ा क्यों न हो जाय गुरु से तो नीचा ही रहेगा। वह तपस्वी है त्यागी है—यह ठीक है फिर भी वह गुरु से ऊंचा नहीं हो गया है।

२६

जब गुरु के चरणों में भक्तिपूर्वक मस्तक झुकाया जाता है तो मस्तक से समस्त पापों की पोटली नीचे गिर जाती है। सिर झुकाने पर मस्तक पर रखी हुई पोटली का गिर पड़ना स्वाभाविक ही है। मस्तक नम्र करना अपना भार दूर करना है। इसके विरुद्ध जो लोग गुरु के समक्ष अकड़ कर खड़े रहते हैं उनके सिर पर पापों की पोटली रखी ही रह जायगी, वह नीचे नहीं गिरेगी।

क्षमा

१.

क्षमा दुनिया मे वडी चीज है । उससे इहलोक भी सुधरता है और परलोक भी सुधरता है । जिसके घर मे क्षमा धर्म की प्रतिष्ठा होगी, उसके घर मे शान्ति रहेगी और अलग-अलग चूल्हे नही जलेंगे। अलग-अलग चूल्हो के साथ कुटुम्बीजनो के दिल भी जला करते है, इसका कारण क्षमा का न होना ही है ।

२.

अगर आपके हाथ मे क्षमा की ठण्डी तलवार है तो दुष्ट से दुष्ट जीव भी आपका कुछ विगाड नही कर सकता । पानी मे आग पड जायगी, तो वह पानी को जला नही सकेगी, वल्कि स्वय ही वुझ जायगी ।

३.

क्षमा आत्मा का वख्तर है । जिसने इस वख्तर को धारण कर लिया उसका कोई कुछ विगाड नही कर सकता । विरोधियो के वाग्वाण उस पर असर नही कर सकते, प्रहार उस पर निरर्थक सावित होते है । उसका चित्त किसी भी आघात से क्षुब्ध नही होता । विरोधी झल्लाता है, चिल्लाता है, वकवाद करता है और आघात करता है, पर क्षमावीर पुरुप उसके सामने मुस्कराता है । वह अपनी सरल और निर्दोप मुस्कराहट से उसके समस्त प्रयत्नो को वेकार वना देता है ।

४.

क्षमा-शीतलता मे वडी शक्ति है । शत्रु कितना ही गर्म होकर क्यो न आया हो, कितनी ही वचन रूपी चिनगारियाँ छोड रहा हो और क्रोध की आग से तमतमा रहा हो, अगर सामने वाला शीतलता पकड ले, अर्थात् शान्ति धारण कर ले तो उसे शान्त होना पडता है ।

५

भाइयो ! बिजली कड़क कर नदी या समुद्र में पड़ती है मगर उसमें कुछ भी बिगाड़ नहीं होता। वह स्वयं बुझ जाती है और खतम हो जाती है। इसी प्रकार क्षमाधारी व्यक्ति के समक्ष क्रोध निष्फल हो जाता है।

६

जिसका अन्तःकरण क्षमा से विभूषित होता है उसकी कीर्ति सारे संसार में फैल जाती है। वह अपने आनन्द के लिए ही क्षमा का सेवन करता है, कीर्ति की कामना से प्रेरित होकर नहीं, फिर भी उसकी कीर्ति फैल ही जाती है। फूल अपनी सुगन्ध फैलाना नहीं चाहता फिर भी अगर उसमें सुगन्ध है तो वह बिना फैले कैसे रह सकता है?

७

आग से आग शान्त नहीं होती खून से खून साफ नहीं होता क्रोध से क्रोध शान्त नहीं होता। आग को शान्त करने के लिए खून को धोने के लिए पानी की आवश्यकता है और क्रोध को उपशान्त करने के लिए क्षमा चाहिये।

८

क्षमा की प्रबल शक्ति के सामने दूसरी कोई भी शक्ति नहीं टिक सकती। जैसे पानी में गिरी हुई आग अपने आप ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार क्षमा के सामने दुर्जनता क्रोध आदि दुर्भाव भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

९

बात-बात में कुपित हो जाने वाला गुरुजनों की जरा-सी कठोर वाणी को सुनते ही आग उगलने वाला और क्रोध की आग में स्वयं जलने तथा दूसरों को जलाने वाला शिक्षा के योग्य नहीं है। अतएव जो क्रोधरहित होता है जिसका अन्तःकरण शान्त रहता है वही शिक्षा पा सकता है।

१०

क्रोध कर आप भी आग बबूला हो गये और नागे के सामने नागा बनने की नीति अंगीकार की तो उसका भी फजीता होगा और आपका भी फजीता होगा। वह क्रोधी है और आप भी क्रोधी हो जाएँगे तो दोनो मे क्या अन्तर रह जायेगा ? उसके समान बन जाने पर भी आपको कोई लाभ नही होगा ? आपकी आत्मा तो कषाय से कलुषित हो ही जायगी।

११.

देखो, दु ख सहे विना सुख नही मिलता है। वच्चियो के कान और नाक छेदते समय उन्हे कष्ट होता है, मगर वाद मे जब हजारो की लागत के लौग पहनती है तो उन्ही को आनन्द आता है। अतएव भाइयो, प्रयत्न करो कि तुम्हारे जीवन मे क्षमा का गुण उत्तरोत्तर वढता चला जाय।

१२.

भाइयो ! गाली देने वाला अगर नीच है तो उसके वदले चार गालियाँ देने वाला चौगुना नीच क्यो नही गिना जायगा ? वास्तव मे वही ऊँचा और वडा है जो कटुक वचनों को शान्ति के साथ सहन कर लेता है।

१३

जिसने क्षमा रूपी तलवार अपने हाथ मे ले ली है, शत्रु और दुर्जन उसका कुछ भी विगाड नही कर सकते। पानी मे फेकी हुई आग, पानी को क्या जलाएगी, वह स्वय ही वुझ जाएगी।

१

माया! माया की शक्ति अद्भुत है। जिसके पास माया आ जाती है, वह नीति-अनीति की बात को भुला देता है। सम्पदा मनुष्य को घमंडी बना देती है। अक्सर सम्पत्तिवान लोग सहानुभूति से हीन अहंकारी और कठोरचित्त हो जाते हैं। सम्पत्ति में कुछ ऐसा स्वभाव होता है जो हृदय को शुष्क बना देता है—सरस हृदय को भी नीरस बना देता है।

२

मायाचारी व्यक्ति ऊपर से शान्त-सा दिखलाई देता है परन्तु उसके मन में कषाय का ज्वालामुखी भभकता रहता है। उसे स्वयं को शान्ति नहीं निराकुलता नहीं। जिस आत्मा में शान्ति नहीं निराकुलता नहीं उसे सुख की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है? इस प्रकार मायाचारी मनुष्य अपना जीवन दुःखमय, आकुलतापूर्ण और अशान्त बना लेता है। उसका आगामी भव भी घोर क्लेश में व्यतीत होता है क्योंकि माया अधोगति में ले जाती है।

३

बहुत से लोग इस भ्रम में रहते हैं कि हमने छल-कपट करके धन कमाया है परन्तु छल-कपट से धन नहीं मिलता। धन और दूसरी सुख-सामग्री पुण्य के योग से मिलती है। इसलिए छल-कपट छोड़कर पुण्य का उपार्जन करो।

४

जो आदमी मकान आदि में अनाप-शनाप खर्च करे और पराये बच्चों को खूब मिठाई खिलावे उससे सावधान रहना चाहिए। समझ लो कि वह धोखा देगा। धूर्त लोग मीठा व्यवहार करके गजब कर डालते हैं। दगाबाज जो न करें सो थोड़ा है।

५.

माया मनुष्यो को गधे की तरह दुलत्ती झाडती है। जब लक्ष्मी आती है तो कमर पर ऐसी कस कर लात लगाती है कि मनुष्य की छाती आगे निकल आती है। इसीलिए तो सम्पत्तिशाली सीना फुलाकर अकडता हुआ-सा चलता है। और जब वह जाने लगती है तो उस फूली हुई छाती पर लात मारती है। इसी कारण लक्ष्मी के चले जाने पर लोग झुक जाते है, उनकी छाती भीतर की ओर घुस जाती है।

६.

परमात्मा के दरबार मे तो उन्ही की पहुँच होगी जो भीतर-बाहर से एक से शुद्ध और पवित्र होगे। जो हृदय से बगुला के समान और बोलने मे कोयल के समान है, उन ढोगियो का, कपटियो का निस्तार होने वाला नही है। ढोग से दुनिया को ठग सकते हो, परन्तु परमात्मा को नही ठग सकते। अतएव निस्तार चाहते हो और भवोदधि का शोपण करना चाहते हो तो निष्कपट बनो।

७.

मायाचारी मनुष्य की बात पर किसी को विश्वास नही होता। मायावी मनुष्य छल-कपट करके दूसरो के लिए जाल बुनता है, मगर अन्तत· वह स्वय ही अपने बुने जाल मे फँसता है।

८.

विश्वासघात किसी को आनन्ददायक नही हो सकता। विश्वासघाती के चित्त मे कभी शान्ति नही रहती। वह अपने विचारो के तन्तुओ मे न जाने कितने ताने-बाने बुनता रहता है और अपना भेद खुल जाने के भय से डरता रहता है। न उसे इस जीवन मे चैन मिलता है न परलोक मे ही। स्वर्ग का भव्य द्वार उसके लिए बन्द है।

☆

लोभ

१

यह लोभ समस्त पापों का बाप है। लोभ के कारण ही समस्त पापों की उत्पत्ति होती है। यही द्वेष और क्रोध आदि का जनक है। कोई ऐसा पाप नहीं जो लोभ के कारण न हो सके।

२

लोभ समस्त दोषों की खान है। समस्त गुणों को ग्रस लेने वाला राक्षस है। समस्त कलहों का मूल है और सब अर्थों का बाधक है।

३

लोभ मनुष्य का बड़ा ही भयानक शत्रु है। वह हजारों पापों का पथ पर देता है। कौन-सा ऐसा अनर्थ है जो लोभ से उत्पन्न न होता हो।

४

लोभ कषाय के वशीभूत हुआ मनुष्य आँखें रखते भी अंधा बन जाता है, कान रहते भी बहिरा हो जाता है। उसे अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नहीं रहता। लोभी अपने मित्रों के साथ भी धोखा और विश्वासघात करने से नहीं चूकता।

५

जिसके अन्तःकरण में लोभ रूपी पिशाच प्रवेश कर गया है उसके लिए कोई भी जघन्य कृत्य कठिन नहीं है। वह अपने माता पिता की हत्या कर सकता है, अपने पुत्र और मित्र का घात कर सकता है, वह स्वामी के प्राण ले सकता है, यहाँ तक कि अपने सहोदर भाई की जान भी लेने से नहीं चूकता।

६

लोभी मनुष्य केवल धन-दौलत को ही देखता है। उसे धन को

प्राप्त करने मे और उसको प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप कितनी विपत्ति झेलनी पड़ेगी, इस बात को वह जरा भी नही देखता। विलाव दूध को ही देखता है, दूध के पास जाने पर लाठी के होने वाले प्रहार की ओर से वह आँखे मीच लेता है।

७.

लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से द्रोह पैदा होता है और द्रोह के प्रभाव से नरक मे जाना पडता है। विचक्षण मनुष्य भी लोभ के कारण मूर्ख वन जाता है।

८.

लोभी मनुष्य सुख का स्वाद लेना नही जानता। वह दु खो को भोगने और पापो का उपार्जन करने के लिए ही जीवित रहता है।

६.

लोभ से सब पापो मे प्रवृत्ति होती है। जितना लोभ करोगे उतनी ही गरीवो के गले पर छुरी फेरोगे! सौ हजारपतियो को गरीब बना कर एक लखपति बनता है! लखपति वन कर जिसने गरीबो की सहायता नही की, वह उस सचित किये धन का क्या करेगा? छाती पर बाँध कर परलोक मे ले जायेगा? चक्रवर्ती की असाधारण ऋद्धि भी जब यही पडी रह जाती है तब, ऐ श्रीमन्त! तेरी लक्ष्मी कैसे तेरे साथ जाएगी?

१०.

हे लोभी, यह आसमान से बाते करने वाली हवेलियाँ यही रह जायेगी। सोना तिजोरियो मे धरा रह जायगा, जवाहरात डिब्बो मे भरा रह जायगा। तुझे जब चार जने उठा कर ले जाएँगे तब केवल एक चादर तेरे ऊपर डाल दी जाएगी। तेरे शरीर पर के वस्त्र और आभूपण सब उतार लिये जायँगे। तुझे नगा करके विदा किया जायगा।

११

क्रोध प्रीति का नाशक है, मान विनय भाव का विनाश करता है, मायाचार से मैत्री मटियामेट हो जाती है। इस प्रकार इन तीन पापो

से एक-एक का सद्गुण नष्ट होता है परन्तु लोभ-लालच से तो सब नाश हो जाता है।

९२

ज्यों ज्यों लाभ होता जाता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। असल बात तो यह है कि लाभ से ही लोभ बढ़ता है। लोभ वृद्धि का कारण लाभ है। अतएव कारण की अधिकता होने पर कार्य की अधिकता होना स्वाभाविक ही है।

९३

क्रोध से प्रीति का नाश होता है। मान से विनय का नाश होता है। माया से मित्रता का नाश होता है परन्तु लोभ से सभी कुछ नष्ट हो जाता है। यह तमाम अच्छाइयों पर पानी फेर देता है।

९४

समग्र संसार लोभ से अभिभूत है। लोभ के कारण ही समस्त पापों का आचरण किया जाता है। लोभ पाप का बाप है। मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ कितनी हैं? उसका छोटा-सा शरीर है और छोटा-सा पेट है। शरीर ढँकने और पेट भरने के लिए संसार भर की सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। करोड़ों और लाखों की सम्पत्ति भी नहीं चाहिए। पेट के लिए सुबह-शाम चार रोटियाँ हों बस हैं। थोड़े से वस्त्रों से ही काम चल सकता है। अधिक संचय न यहाँ काम आता है न परलोक में साथ जाता है। यह एक ऐसी बात है कि इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं।

तृष्णा

१.

जैसे आकाश का कही और कभी अन्त नही है उसी प्रकार तृष्णा का भी कही अन्त नही है।

२.

समुद्र का छोर है पर तृष्णा का छोर नही है।

३

अगर आप दु खो की जड को तलाश करने चलेगे तो मालूम होगा कि वह जड असन्तोष ही है। अधिकाश लोग असतोष के कारण ही दु खी देखे जाते है। मनुष्य को अपना जीवन-निर्वाह करने के लिए कितना चाहिए ? वह पेट मे कितना अन्न खा सकता है और कितने कपडे लपेट सकता है ? जितने की आवश्यकता होती है, उतना प्राय. सभी को मिल जाता हे। फिर भी उनके अन्त करण मे असन्तोष की आग दहकती रहती है। वे उस आग मे अपने जीवन की सम्पूर्ण शाति और निराकुलता को स्वाहा कर देते है। "आवश्यकता है तन की और तृष्णा है मन की।" सोने को चार हाथ जमीन चाहिए, पर विशाल महल बनवा लेने पर भी सन्तोष नही। एक महल बन गया हे तो दूसरे के मसूबे किये जा रहे है। हजारो है तो लाखो की तृष्णा लगी है और लाखो है तो करोडो की कामना हो रही है। निश्चित है कि उतनी सम्पदा उपयोग मे नही आ सकती फिर भी सन्तोष कहाँ है ?

४.

धन की मर्यादा नही करोगे तो परिणाम अच्छा नही निकलेगा। लकडियाँ झोंके जाओ और आग बढती चली जायगी। ईंधन डालते जाने मे आग कभी शान्त नही हो सकती। तृष्णा भी आग है। उसमे ज्यों-ज्यो धन का ईंधन झोकते जाओगे, वह बढती ही जायगी। वह विह्वलता पैदा करेगी। चैन नही लेने देगी। तो भाई ऐसे धन मे क्या

लाभ हुआ? इस धन ने तुम्हें क्या सुख दिया? इसीलिए मैं कहता हूँ कि धन की मर्यादा कर लो। न करोगे तो तृष्णा की आग में झुलसते जाओगे, शान्ति नहीं पाओगे और अपने जीवन को बर्बाद कर लोगे।

५

बाहर की अग्नि से अधिक भयंकर अग्नि तृष्णा की है। स्थूल अग्नि से तो स्थूल पदार्थ ही जलते हैं परन्तु तृष्णा की आग में आत्मा भी जलती है। तृष्णा की आग व्यापक है। सारा संसार इस आग में जल रहा है। भगवान के नाम-कीर्तन से यह आग भी शान्त हो जाती है।

६

जैसे आग से आग शान्त नहीं होती। उसी प्रकार धन से धन की तृष्णा शान्त नहीं होती। जैसे ईंधन डालते जाने से आग बढ़ती ही चली जाती है उसी प्रकार धन को प्राप्त करने से धन की इच्छा भी बढ़ती ही जाती है।

७

भाइयो! जैसे आग को शान्त करने के लिए पानी अपेक्षित है उसी प्रकार तृष्णा की आग को बुझाने के लिए सन्तोष धारण करने की आवश्यकता है। भगवान ने निर्देशन किया है कि परिग्रह को कम करोगे और अपनी इच्छा पर नियन्त्रण करोगे तभी यह आग शान्त हो सकती है। इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करोगे तो यह आग शान्त होने के बदले बढ़ती ही चली जायगी।

८

जो हजारों का मालिक है वह लाखों का स्वामी बनना चाहता है और जो लाखों का स्वामी है उसे करोड़पति बनने की धुन सवार है। इस प्रकार लोग तृष्णा के अनन्त प्रवाह में बहे जा रहे हैं। इनका कोई छोर स्थिर नहीं है। किन्तु पैसा के अम्बार में शान्ति नहीं मिल सकती। सच्ची शान्ति त्याग और सन्तोष में है। धर्म की आराधना करने से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

९.

असन्तोष दुःख का बीज है। कितनी ही सम्पत्ति क्यो न हो, अगर उसके साथ सन्तोप नही है तो वह शान्ति प्रदान नही कर सकेगी। इसके विपरीत सन्तोषी पुरुप स्वल्प सामग्री मे ही परम सुख का आस्वादन कर लेता है।

१०

देखो साँप हवा का पान करते है फिर भी दुर्बल नही होते। जगली हाथियो को बादाम का हलवा कोई नही खिलाता, वे रूखे-सूखे तिनके खाते है। फिर भी कितने बलशाली होते हैं ? इसका कारण क्या है ? असली बात यह है कि वे सन्तोप धारण करते हैं और सन्तोप के प्रभाव से उनका काम चल जाता है। सन्तोप ही मनुष्य के लिए बड़े से बडा खजाना है।

११.

अगर सच्चा सुख और सच्ची शान्ति चाहते हो तो धन की मर्यादा करके तृष्णा पर अकुश लगाओ।

१२

चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव की सम्पत्ति पा लेने पर भी, संतोप-हीन मनुष्य कभी तृप्त नही हो सकता और तृप्ति के बिना सुख की प्राप्ति नही हो सकती। ऐसा जान कर धीर पुरुप कभी लोभ-रूपी ग्राह के अधीन नहीं होते है।

ईर्ष्या

१

ईर्ष्यालु पुरुष दूसरे का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकता। उसने किसी की बड़ाई सुनी और उसके दिल में द्वेष का दावानल दहक उठा। जैसे चुपचाप चले जाते राहगीर को देखकर कुत्ता निष्कारण ही भौंकने लगता है उसी प्रकार किसी भी सौभाग्यशाली को देखकर ईर्ष्यालु जलने लगता है।

२

भोगी त्यागी को देखकर जलता है। धनवान को देखकर निर्धन कुढ़ते हैं। निरोग को देखकर रोगी जलता है। सुन्दर और रूपवान पर नजर पड़ते ही कुरूप को जलन होती है। यह स्वाभाविक है। केसर और काजल में बनती नहीं है।

३

पानी की वर्षा होती है तो सब प्रकार की वनस्पतियाँ फलती फूलती हैं। किन्तु जवासा नामक एक वनस्पति इसका अपवाद है। जैसे जैसे वृष्टि होती है वह सूखता जाता है। क्या जवासा को पसन्द नहीं आती तो बरसा भाई! इसमें पानी का क्या दोष है? इसी प्रकार जो पुरुष दुर्गुणों का अखाड़ा बना हुआ है वह सद्गुणों और सद्गुणियों को देख-देख कर ईर्ष्या की आँच में तपता रहता है और सूखता जाता है। दुर्गुणी को गुणवान की बात पसन्द नहीं आती। यहाँ तक कि विमार्गगामी पापी को तो परमात्मा की महिमा भी नहीं रुचती है। इसमें गुणवान का क्या दोष है?

☆

राग-द्वेष

१.

जितनी भी राग-द्वेप रूप परिणति है, आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाली है। वह पडने का मार्ग है।

२.

ससार और संसार सम्वन्धी जितने भी दुःख है, उन सव का कारण विपमभाव है। अगर राग-द्वेप रूप विपमभाव नष्ट हो जाय तो किसी प्रकार का दुःख उत्पन्न न होगा।

३.

राग और द्वेप की आग मे यह सारा जगत जल रहा है। स्थूल अग्नि तो स्थूल शरीर को ही जलाती है मगर यह भीतरी आग आत्मा के सद्गुणो को विनष्ट करती है या विकृत करती है। स्थूल अग्नि एक ही जन्म मे मार सकती है मगर राग-द्वेप की अग्नि जन्म-जन्मान्तर मे आत्मा को सताया करती है।

४.

जिस आदमी के शरीर मे द्वेप तीव्र रूप मे रहता है, उसका खून जल जाता है। वह अच्छे-अच्छे पौष्टिक माल खावे तो भी दुवला ही वना रहता है। द्वेप से मनुष्य को घोर हानि उठानी पडती है। द्वेपी मनुष्य स्वय तो हानि उठाता ही है पर दूसरों की भी हानि करता है।

५.

द्वेप एक प्रकार की अग्नि है। यह अग्नि जव हृदय मे भडकती है तो मनुष्य व्याकुल हो जाता है। वह उस आग मे दूसरो को जलाना चाहता है। दूसरा जले या न जले वह स्वय तो वुरी तरह जल ही जाता है।

६

दूसरों के द्वेष भाव को शान्त करने का उपाय यह नहीं है कि बदले में द्वेष किया जाय। आग से आग शान्त नहीं होती। आग को शान्त करने के लिए जल अपेक्षित है। इसी प्रकार द्वेष का नाश मैत्री से होता है।

७

साधको! अगर आप अपने जीवन को उन्नत और पवित्र बनाना चाहते हो तो द्वेष का परित्याग करो। द्वेष की आग में अपने आपको जलाना लेशमात्र भी बुद्धिमत्ता नहीं है। द्वेष का दुर्गुण आपको पतन के गहरे गड्ढे में गिराने वाला है। द्वेष की आग आपके समस्त सद्गुणों को जलाकर भस्म कर देगी। उससे आपका जीवन निष्प्राण हो जायगा।

८

पक्षपात या द्वेष से बुद्धि मलिन हो जाती है और सत्य तत्त्व का भान नहीं हो पाता। अतएव द्वेष और पक्षपात का त्याग करो।

९

[illegible] छूट जाता है और मूर्ख लोग उसके पीछे [illegible] पागल बन जाते हैं और आपस में लड़ाई झगड़ा करते हैं।

१०

राग भी द्वेष की ही तरह कर्म-बन्ध का कारण है। अतएव जिस प्रकार राग त्याज्य है उसी प्रकार द्वेष भी त्याज्य है। दोनों आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं। दोनों के कारण आत्मा में विभाव परिणति उत्पन्न होती है। जब तक आत्मा में राग और द्वेष का सद्भाव है आत्मा अपने असली स्वरूप को पूरी तरह नहीं देख पाता है।

११

साधको! राग और द्वेष संसार भ्रमण के मुख्य आधार हैं। इनको जितने-जितने अंश में त्याग करते जाओगे, उतने ही उतने अंश में

आपके सुख की मात्रा बढती जायगी 'और आप अपूर्व शान्ति एव स्वस्थता का अनुभव करते जाएँगे। अन्त मे पूर्ण आत्मिक आनन्द की प्राप्ति कर सकेगे।

१२

राग और द्वेप दोनो ही कर्म-वन्ध के कारण है। इनके प्रभाव से मन और आत्मा की स्वस्थता नष्ट हो जाती है। इसी कारण शास्त्र मे इन्हे कर्मो का वीज कहा है। अतएव जो आत्मा का कल्याण करना चाहते है उन्हे राग-द्वेष को निरन्तर घटाने का ही प्रयत्न करना चाहिये। उन्हे अधिक से अधिक समभाव की वृद्धि करनी चाहिए।

१३

राग-भाव अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ है। इस राग की आग मे आत्मा झुलस रही है। राग ही केवलज्ञान, केवल-दर्शन और यथाख्यात चारित्र मे वाधक है। ज्योही राग-भाव निर्मूल हो जाता है त्योही आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और वीतराग चारित्र का अधिकारी हो जाता है।

१४

भाइयो ! अगर आपको स्नेह ही करना है, तो परमात्मा से स्नेह करो। परमात्मा के प्रति प्रगाढ प्रीति करोगे तो सासारिक पदार्थो सम्वन्धी प्रीनि हट जायगी और उससे आत्मा का उत्थान और कल्याण होगा। परमात्मा से प्रेम न करके जो लोग ससार की वस्तुओ से प्रेम करते है, वे अपने लिए नरक का द्वार खोलते है।
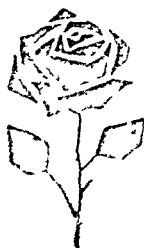
५.

विवेकवान् पुरुष किसी की निन्दा नही करते। वे सोचते है कि पराई निन्दा करने से हमे क्या लाभ है ? निन्दा करने से मुँह मीठा नही होता, सपदा नही मिलती, वडाई भी नही मिलती, कल्याण भी नही होता। यही नही, परनिन्दक समझदार लोगो मे हीन-दृष्टि से देखा जाता है और ज्ञानियो की दृष्टि मे व्यर्थ ही पाप का उपार्जन करता है।

६.

समझदार व्यक्ति नारद-प्रकृति लोगो को अपने पास नही फटकने देते। कदाचित् उनकी वात सुन लेते है तो उस पर ध्यान नही देते और सुनी-अनसुनी कर देते है अथवा सुनाने वाले से स्पष्ट कह देते है कि भाई, तुम अपना काम देखो। दूसरा मुझे गाली देता है तो देने दो। जव मेरे सामने देगा तो मै निपट लूँगा। इस प्रकार साफ उत्तर देने से भिडाने वाले का साहस टूट जाता है। वह फिर उसके सामने नही वोलता।

७

भाइयो! निन्दा करने से वचो। दूसरो की राख लेकर अपने मस्तक पर विखेर लेने से क्या लाभ है ? ससार मे गुणीजन वहुत है। उनके गुणो को देखो और प्रशसा करो। इससे आपको आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

८.

पाप की निन्दा करो, मगर पापी की निन्दा मत करो।

९.

साधु की भूल देखकर जो निन्दा करते है, हँसी करते है, उन्हे समझना चाहिए कि लाठी कैसी भी टूटी-फूटी क्यो न हो, मटके को तो वह फोड ही सकती है।

१०

आत्म-निन्दा करने से अपने पापों के प्रति असन्तोष जागृत होता है और आत्मा की शुद्धि होती है। पर की निन्दा करने से आत्मा की मलिनता बढ़ती है। आत्मा का पतन होता है और लाभ कुछ होता नहीं। अतएव अगर आप अपना कल्याण चाहते हैं तो पर-निन्दा के पाप से दूर रहना चाहिए।

पाप

१.

परस्त्रीगामी लम्पट भी रावण के पुतले की दुर्दशा करने मे पीछे नही रहते। इसका कारण यही है कि पापी की आत्मा भी पाप से घृणा करती है। आत्मा का असली स्वभाव उसे पाप के प्रति घृणा कराना सिखलाता है।

२.

मनुष्य का जीवन एक चौराहा है। चौराहे पर प्रकाश-स्तम्भ लगा रहता है और उस प्रकाश मे चारो ओर जाने वाले रास्ते दिखाई देते है। इसी प्रकार मनुष्य-जीवन से चारो गतियो के लिए रास्ते जाते है। शास्त्र और सद्गुरु का प्रकाश इस चौराहे पर मौजूद है। चारो गतियो का मार्ग उस प्रकाश मे देखा जा सकता है। आप यह भी जान सकते है कि किस गति मे जाने से क्या हालत होगी ? जिन्हे सुखमय हालत प्राप्त करनी है उन्हे देवगति और मनुष्यगति की राह पकडनी चाहिये, अर्थात् धर्म-कर्म करना और पापो से वचना चाहिए। पाप पहले भले लगते है पर अन्त मे वहुत वुरे सावित होते है।

३

भाइयो ! पापी की आत्मा दुर्बल होती है। पाप ऐसा कीडा है कि वह मनुष्य के अन्तस्तल को कुतर-कुतर कर निर्वल और नि:सत्व वना देता है। सच्चाई के सामने पाप क्षण भर नही ठहर सकता।

४.

इष्ट की प्राप्ति के लिए पाप का आचरण करना आम पाने के विचार मे वबूल की खेती करने के समान है।

५

पाप मनुष्य को अपनी ही निगाहो मे गिरा देता है। पाप मे एक

ऐसा विचित्र तीखापन होता है कि वह हृदय को काटता रहता है। पापी की आत्मा सदैव सशंक रहती है।

६

अन्तरंग को निष्पाप बनाओगे तो निष्पाप बन जाओगे।

७

यों देखा पुण्य कमाना कठिन है पर पाप का उपार्जन करने में कुछ भी देर नहीं लगती। जोड़ने में देरी लगती है तोड़ने में क्या देर लगती है?

८

अज्ञानी पुरुष पाप-कर्म से तो बचने का प्रयत्न नहीं करता किन्तु पापकर्म के फल से दुःख से बचने का प्रयत्न करता है। किन्तु ज्ञानी सोचता है कि विपत्तियों से बचने का ठीक उपाय यही है कि विषवृक्ष को जड़ से ही उखाड़ दिया जाय। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। जिस वृक्ष से दुःखों के विषफल उत्पन्न होते हैं उस वृक्ष को ही उखाड़ देने में बुद्धिमत्ता है अर्थात् पापकर्म से उत्पन्न होने वाले दुःखों को नष्ट करने के लिए पापकर्मों से दूर रहना ही उचित है।

९

जो आगे आने के लिए पीछे कदम उठाने वाला आदमी बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार धन ऐश्वर्य आदि सुख की सामग्री प्राप्त करने के लिए पाप का आचरण करने वाला व्यक्ति भी विचारवान् नहीं कहा जा सकता।

१०

तुम सुख पाने के लिए पापों का आचरण करते हो मगर ऐसा करके कदापि सफल मनोरथ नहीं हो सकते।

११

विषपान करके चिरजीवन की अभिलाषा करना घोर मूर्खता नहीं तो क्या है? इसी प्रकार पाप करके सुखी बनने की अभिलाषा भी मूर्खतापूर्ण ही कही जा सकती है।

१२

कल्पवृक्ष या उसके फलो की कामना से प्रेरित होकर जो वबूल बोता है, उसे क्या कहा जाय ? वबूल वोने से कल्पवृक्ष के फलो की प्राप्ति होना सभव नही है, इसी प्रकार पापमय आचरण करके पुण्य-फल की आशा रखना भी दुराशा-मात्र है।

१३

जैसे नीम के वृक्ष मे आम के फल नही लग सकते। जैसे लाल मिर्च खाने से मुँह मीठा नही हो सकता, उसी प्रकार पाप करने से सुख नही मिल सकता।

१४

कागज की नाव वना कर और उस पर सवार होकर अगर कोई समुद्र पार होना चाहता है तो उसे पागल के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? इसी प्रकार जो जुल्म करके, पाप करके फलना-फूलना चाहता है अर्थात् सुखी और सौभाग्यशाली वनना चाहता है, वह भी मूर्खो की कतार मे ही खडा होने योग्य है।

१५

वीज वोने की तुम्हे स्वाधीनता प्राप्त हे। किन्तु वीज वो देने के वाद अकुर इच्छानुसार पैदा नही किये जा सकते। तुम चाहो कि पापाचरण करके हम दु.ख के वीज वोएँ और उनसे सुख के अंकुर फूट निकले, यह सर्वथा असम्भव है। अपढ किसान भी समझता है कि चने के वीज से गेहूँ का पौधा नही उत्पन्न होता मगर तुम उसमे भी गये-वीते हो।

१६

पाप का परिणाम तो किसी के लिए भी अच्छा नही होता। देखो रावण कितना प्रतापशाली और प्रचण्ड राजा था। उसकी नीयत विगड गई। वह सीता जैसी आदर्श सती को हरण करके ले गया। इस घोर पाप से उसका समस्त पुण्य क्षीण हो गया। वढिया-वढिया [illegible] चीजें डाल कर सीरा वनाया जाय। किन्तु अन्त में उसमें

प्रकार सुखी वनने के लिए पाप का आचरण करना भी मूर्खता है। यह उल्टा प्रयास है।

२३

निरर्थक बाते वना कर अपने भविष्य को कटकमय वनाना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। प्रयोजन से पाप करने वाला कदाचित् क्षम्य हो सकता है किन्तु निष्प्रयोजन ही आत्मा को पाप के भार से लादने वाला कैसे क्षम्य समझा जा सकता है ?

२४

दही को मथने से मक्खन निकलता है—यह वात दुनिया जानती है और आप भी जानते है। पर क्या जान लेने मात्र से मक्खन निकल आता है ? नही, क्रिया किये विना, दही को मथे विना मक्खन नही निकलेगा। इसलिए हमारा कहना है कि पापो से वचो। पापो से वचे विना तुम्हे स्वर्ग और मोक्ष नही मिल सकता।

२५

दु ख से वचना हो तो सर्वज्ञ के उपदेशो पर चलो। पाप-पक मे आकठ निमग्न रहोगे और सुख भी चाहोगे तो ऐसा नही हो सकेगा।

२६

जो ब्राडी के नशे मे धुत्त हो जाता है, वह किसी की नही सुनता। इसी प्रकार जिसकी आत्मा पर पापो का गहरा नशा छा जाता है, वह ज्ञानी और परोपकारी पुरुष की भी वात नही सुनता। कदाचित सुनता है तो एक कान से सुनकर दूसरे कान से वाहर निकाल देता है।

२७

किसी कुत्ते को रोटी डालोगे तो वह भी तुम्हारा मुंह चाटने का साहस करेगा। नही डालोगे तो वह ऐसा साहस भी नही करेगा। इसी प्रकार झूठ वोलना, चोरी करना, परस्त्री-गमन करना, वेईमानी करना आदि कुत्ते हैं। इन्हे जीवन मे हिस्सा दिया तो ये मुंह चाटे ।। कैसे रहेंगे।

५८

जैसे रुई में लपेटी आग छिपी नहीं रह सकती, उसी प्रकार पाप छिपाये छिपे नहीं रहते। छिपा कर किये बुरे कर्म का फल बहुत बुरा होता है।

५९

पाप मन में है धन में नहीं है। जीव को मोक्ष में जाते हुए धन नहीं रोक सकता और न तन ही रोक सकता है। किन्तु पापमय मन ही मुक्ति में रुकावट डालता है।

६०

पाप का आचरण न करने से क्या जीवन निर्वाह नहीं होता? पाप के काम वाले क्या सुख पाते हैं? पाप करके सम्पत्ति इकट्ठी करना चाहते हो तो अपनी इस दुर्वासना का त्याग करो। सम्पत्ति परलोक में सुखी नहीं कर सकती। यही नहीं सूक्ष्म विचार करोगे तो मालूम होगा कि वह इस लोक में भी सुख नहीं दे सकती।

रात्रि भोजन

१.

भाइयो ! रात्रि मे भोजन करना वडा भारी पाप है। रात्रि मे भोजन करने वाले को क्या पता चलेगा कि भोजन मे, दाल मे कीडी है या जीरा है ? वह तो कीडियो को भी जीरा समझकर खा जायगा।

२

ज्ञानियो ने रात्रि भोजन को अंधा भोजन कहा है। सूर्यास्त होने के वाद स्पष्ट दिखाई नही देता। अतएव रात्रि भोजन वहुत बुरी चीज है। बुद्धिमान पुरुप कभी रात्रि मे भोजन नही करते। अरे खाने के लिए दिन ही वहुत है तव रात्रि मे भोजन करने से क्या फायदा है ?

३

हजम होने से पहले ही सो जाओगे तो खाना पचाने के लिए पेट की मशीन को वहुत ज्यादा मेहनत करनी पड़ेगी और इससे मशीन जल्दी कमजोर हो जायगी। जो लोग सूर्यास्त से पहले ही खा लेते है, उनके पेट की मशीन को विश्राम मिल जाता है। गहरी नींद आने के कारण वह स्वस्थ रहते हैं।

४.

रात्रि भोजन अप्राकृतिक है। देखो ! तोता रात्रि मे कुछ नही खाता है, कबूतर और यहाँ तक कि पक्षियो मे निकृष्ट समझा जाने वाला कौवा भी रात्रि मे चुगने नही जाता। तो क्या मनुष्य इनसे भी अधम है जो रात्रि मे भोजन करे ? रात्रि का भोजन अन्धा भोजन है। अनेक दोपो का जनक है।

५

रात्रि भोजन पापो और दोपो का घर है। रात्रि मे, अन्धेरे मे जो तो जीव-जन्तु भी खाये जा सकते हैं और यदि प्रकाश करके

धन-वैभव

१.

भाइयो ! इन अठारह पापो मे हिसा, असत्य, स्तेय और मैथुन की तरह परिग्रह भी महान् पाप है। इससे आत्मा का अधःपतन होता है बल्कि यो कहना चाहिए कि परिग्रह सब पापो का बाप है।

२

धन से धर्म नही होता वरन् धन के त्याग से धर्म होता है।

३

जैसे स्वच्छता के लिए पहले मैल लगाना और उसकी सफाई करना आवश्यक नही है, उसी प्रकार धर्म की आराधना के लिए पहले धन कमाना और फिर उसका त्याग करना आवश्यक नही है।

४.

जिसके शरीर पर मैल नही है वह नये सिरे से मैल नही चढने दे, यही उसकी स्वच्छता है। इसी प्रकार जिसके पास धन नही है वह धन कमाने की आकाक्षा न करे। धन के प्रति ममता और मूर्छा का भाव उत्पन्न न होने दे, इसी मे उसकी धर्मनिष्ठता है।

५

धर्म के लिहाज मे धन भी कीचड के समान है। धर्म साधना करने के लिए धन का परित्याग करना पडता है। ऐसी स्थिति मे जो धन के प्रति ममत्वहीन है वही सबसे अधिक विवेकशाली है। जो उपार्जित किये हुए धन का परित्याग करता है वह भी विवेकशाली गिना जायगा। किन्तु जो धर्म के लिए पहले धन कमाना चाहता है और फिर उसका त्याग करना चाहता है उसे बुद्धिमान किस प्रकार कहा जा सकता है। वह तो उल्टी गगा बहाना चाहता है।

तो हो, मगर धन मिल जाना चाहिए। तिजोरियाँ भर जानी चाहिए। जैसे समग्र जीवन धन के लिए समर्पित है। धन देवता के आगे अपनी आत्मा को वलि का बकरा बना डाला है। इस प्रकार धन के लिए लोग आत्मा का हनन कर रहे है और जानते है कि यह हमारे काम आने वाला नही। यह कितनी अद्भुत वात है।

१०.

हम फकीर शायद न समझ पाते हो तो, हे धन कुबेर ! तू वता, तेरे वड़े-वडे धन के भडार तेरे लिए किस काम के है ? क्या तू उस धन को खा सकता है ? पहन सकता है ? आखिर किस प्रयोजन से तू तिजोरियो पर तिजोरियाँ भरे जा रहा है ? वस्तुतः इस प्रश्न का कोई सन्तोपजनक उत्तर नही दे सकता। शरीर की आवश्यकताएँ वहुत सीमित है। उनकी पूर्ति के लिए झूठ-कपट, अन्याय, अत्याचार, चोरी, डकैती, जुआ-सट्टा आदि करने की आवश्यकता नही है। वह तो प्रामाणिकता के साथ अल्पश्रम करने से भी पूरी हो सकती है। उनके लिए पाप का सेवन करना व्यर्थ है। दिन-रात हाय पैसा, हाय पैसा की धुन की आवश्यकता नही है।

११.

भाइयो ! विचार तो करो कि पैसा-प्रधान मनोभावना से तुम्हारा सुख वढा है या घटा है ? जीवन मे शाति का सचार हुआ है अथवा अशाति की आग ही सुलगती जा रही है ? अरे ! पैसा देव नही, दानव है, इससे तुम्हे सुख नही मिलेगा, वल्कि यह तुम्हारे सुख को छीन लेगा। मगर यह वात तुम्हारे गले कहाँ उतर रही है ? आँखो देखते भी जो अनजान वना रहता है, उसको कोई क्या करे ?

१२.

लक्ष्मी का वाहन जो उल्लूक है, सो अज्ञानान्धकार का प्रतीक है। जहाँ लक्ष्मी है अर्थात् धन है, वहाँ अज्ञान है, मूढता है।

१३

धन के नाश के तो सैकडो कारण मौजूद है। चोर चुरा ले जाते है, डाकू लूट ले जाते है, वाढ वहा ले जाती है, आग नष्ट कर देती

है भाई-बन्धु छीन लेते हैं या दुर्व्यसन मे पडकर उडा देते हैं। ऐसी नाशशील वस्तु का अभिमान कैसा ? सच तो यह है कि अभिमान करने की तो बात ही दूर धन या अन्य सांसारिक पदार्थ तुम्हारे हैं ही नही। तुम चेतन हो धन आदि वस्तुए जड हैं। भला जड पदार्थ चेतन के किस प्रकार हो सकते हैं ?

१४

भाग्यो ! यह धन-दौलत और राज्यलक्ष्मी वेश्या के समान है। यह स्थिर वृत्ति वाली नहा है। आज एक की बगल मे खडी हो जाती है तो कल दूसरे की। इस पर विश्वास करना सिर्फ नादानी के सिवाय और कुछ भी नही है। यह आज तक किसी भी राजा महाराजा या सेठ-साहूकार की बनकर नही रही है।

१५

परोक्ष वस्तु म भ्रम होना सहज किया जा सकता है। मगर आँखों स दिखाई दन वाली वस्तु का भी उलटा समझना कहाँ तक उचित है ? तुम हम और सभी प्रत्यक्ष देखते हैं कि कोई भी सम्पत्ति परभव म साथ नहीं जाती सिर्फ पाप और पुण्य ही साथ जाता है। फिर धन और सम्पत्ति के लिए पापा का उपार्जन करना क्या बुद्धिमत्ता है ? नही यह अविवेक है ! मूर्खता है !

१६

धन स पाप बदल कर पुण्य नही बनाया जा सकता। वह तो अपन स्वरूप म ही अपना फल देता है और देता रहेगा।

१७

सोना मनुष्य की मनुष्यता का नष्ट कर देता है। शराब और अमीर के बीच फौलादी दीवार खड़ी करने वाली वस्तुओं म सोना भी मुख्य है। सोना मनुष्य को निर्दय बना देता है घमण्डी बना देता है और राक्षस बना देता है। आश्चर्य है कि फिर भी लोग इसे प्यार करते हैं और इस पाकर अपन आप को धन्य समझते हैं।

१८.

जिस सम्पत्ति के लिए तुम रात-दिन एक कर रहे हो, अनीति और नीति की परवाह नही करते हो, धर्म और अधर्म का विचार नही करते, उस सम्पत्ति मे से क्या-क्या साथ लेकर जाओगे ? मित्रो ! आँखे खोलो। तुम्हारे पुरखा चले गये और वे कुछ भी साथ नही ले गये। अव क्या तुम साथ ले जा सकोगे ? नही, हर्गिज नही। सब कुछ यही पडा रह जायगा। आँख मिचते ही माल पराया हो जायगा। तुम भी इस वात को जानते हो और भली-भाँति जानते हो। फिर भी भ्रम मे पड़े हो ? आश्चर्य है कि फिर भी परलोक को सुधारने की तरफ ध्यान नही देते हो। अगर तुम हिन्दू हो तो लक्कडो मे जलाकर भस्म कर दिये जाओगे और यदि मुसलमान हो तो जमीन मे गड्ढा खोद कर दवा दिये जाओगे। वस किया हुआ पुण्य और पाप ही साथ जायगा।

१९.

जीवन सदा रहने वाला नही है और सम्पदा साथ जाने वाली नही है। शरीर की आवश्यकताएँ परिमित है फिर क्यो दुनिया भर की पूँजी अपनी तिजोरी मे वन्द करने के लिए पाप करते हो।

२०

जो लोग अपने जीवन का अधिक भाग धन कमाने मे व्यतीत कर चुके है, उन्हे निवृत्त हो जाना चाहिए। जिन्दगी के अन्तिम श्वास तक गधे की तरह लदे-लदे फिरना ठीक नही। दुनिया के धन्धे छोडो और परमात्मा की प्रीति से वँधे रहो। धर्मोपदेश सुनने का यही सर्वोत्तम सार है।

२१.

सम्पत्ति का रोग वडा ही भयानक होता है। अन्यान्य रोग तो प्राय. एक-एक ही विकार उत्पन्न करते है, मगर लक्ष्मी का रोग एक साथ अनेक रोगो को उत्पन्न कर देता है। जिसे धन की वीमारी हो जाती है, वह कानो से वहिरा हो जाता है, मुँह से गूंगा हो जाता है, आँखो से अन्धा हो जाता है, और उसकी तमाम इन्द्रियाँ नि[illegible] हो जाती है।

२२

धन के मद में उन्मत्त बना हुआ मनुष्य गरीबों से बात भी नहीं करता। उनसे बोलने में वह अपनी बेइज्जती समझता है। यही धनवान का गूंगा होना समझना चाहिए। धनी आदमी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के मार्ग को नहीं देखता नीति और अनीति का पथ उसे नहीं सूझता वह दीन दुखिया की तरफ दृष्टि भी नहीं डालता यही उसका अंधापन है।

२३

सम्पत्ति की बीमारी मनुष्य को हृदयहीन बना देती है। सम्पत्तिशाली के पड़ोसी के बालक भूख से कराह रहे हों तो भी वह उनकी परवाह नहीं करता। उनकी दुःख-दर्द भरी आवाज उसके कानों तक नहीं पहुँचती। उसके चित्त पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। यह बहिरापन नहीं है तो क्या है?

२४

जो लोग श्री-सम्पन्न होने पर भी भगवान के भक्त होते हैं उन्हें यह मपद् रोग नहीं हो पाता। भक्ति का अमृत रसायन उनके रोगों का शमन करता रहता है। इस प्रकार लक्ष्मी के होते हुए भी जो लक्ष्मी के मद से रहित होते हैं वे इस रोग से बचे रहते हैं।

२५

संसार का समस्त वैभव यहीं रह जाता है। वह आज तक किसी के साथ गया नहीं है और जायगा भी नहीं। धर्म ही साथ जाने वाला है। ऐसी स्थिति में वैभव के चक्कर में पड़कर धर्म को विस्मरण कर देना उचित नहीं है। शाश्वत को त्याग कर अशाश्वत को अपनाने में बुद्धिमत्ता नहीं है। आत्मा की गुण सम्पत्ति ही उसका शाश्वत वैभव है, उसे प्राप्त करने का मार्ग साधुपन है।

२६

किसी के हक में बुरा मत करो। तुम्हारा किया तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। बुरे विचारों का और बुरे कार्यों का फल भी अच्छा नहीं हो

सकता। जिस धन-दौलत के लिए तुम पापमय विचार करते हो, वह आत्मा के साथ नही जायगी। वह पाप ही आत्मा के साथ जायगा और तुम्हे पीडा पहुँचायेगा। धन-सम्पत्ति और भोग-सामग्री तो चार दिन की चाँदनी और उसके बाद अँधेरी रात होगी।

२७.

तुम्हारी यह रईसी और सेठाई किसके सहारे खडी है ? बेचारे गरीब और मजदूर दिन-रात एक करके तुम्हारी तिजोरियाँ भर रहे है। तुम्हारी रईसी उन्ही के बल पर और उन्ही की मेहनत पर टिकी हुई है। कभी कृतज्ञतापूर्वक उसका स्मरण करते हो ? कभी उनके दु:ख मे भागीदार बनते हो ? अपने सुख मे उन्हे हिस्सेदार बनाते हो ? उनके प्रति कभी आत्मीयता का भाव आता है ? अगर ऐसा नही होता तो समझ लो कि तुम्हारी सेठाई और रईसी लम्बे समय तक नही टिक सकेगी। तुम्हारी स्वार्थपरायणता ही तुम्हारी श्रीमताई को स्वाहा करने का कारण बनेगी। अभी समय है—गरीबो, मजदूरो और नौकरो की सुधि लो। उनके दु:खों को दूर करने के लिए हृदय मे उदारता लाओ। उनकी कमाई का उन्हे अच्छा हिस्सा दो। इससे उन्हे सन्तोष होगा और उनके सन्तोष से तुम सुखी बने रहोगे।

२८.

व्यापारी का आदर्श दूसरो को कष्ट पहुँचा कर अपनी तिजोरियाँ भरते रहना नही है। गरीबो को चूसना व्यापारी का कर्त्तव्य नही है। जनता के अभाव को दूर करने के लिए व्यापार की प्रथा चलाई गई थी। एक जगह कोई चीज आवश्यकता से अधिक होती है और दूसरी जगह इतनी कम होती है कि उसके अभाव मे जनता को भारी कष्ट भुगतना पडता है। ऐसी स्थिति मे व्यापारी एक जगह मे दूसरी जगह वस्तुएँ पहुँचाकर सब को सुविधा कर देता है और उसी मे से अपने निर्वाह के लिए उचित मुनाफा ले लेता है।

२९.

व्यापारी कान खोलकर सुन ले कि ब्लैक मार्केट एक प्रकार की चोरी है और इस तरीके मे अगर कमाई करना शीघ्र ही नही छोड़

ल्या जायगा तो उसका प्रतिक्रिया वडी ही भयकर हो सकती है। ब्लक मार्केट करने वाले व्यापारी अपन भविष्य को भूल रहे हैं। वे समाज मे आर्थिक क्रान्ति का आह्वान कर रहे हैं। कहना चाहिए कि आज अज्ञानवश पूजीपति ही पूजीवाद के विरुद्ध वातावरण का निर्माण कर रहे हैं।

३०

पूछो लोगो से कि पहले तुम्हार पास कितना पसा था और तुम्हारी क्या हालत थी? अब कितना गुना पसा है? मगर सन्ताप नही। चोर बाजार अब भी तयार है। कोई भी अनीति और अत्याचार करने स परहेज नही। पता नही कि उसका फल कितना कटुक भुगतना पडेगा।

३१

गरीबो के असन्ताप को दूर करने का तरीका क्या है—यह हमारे शास्त्र हजारो वष पहले ही बतला चुके है। श्रीमन्त अपना हृदय उदार बनावें त्यागशील बनें निधनो के प्रति आन्तरिक स्नेह रखें, समय पर उनकी सहायता करें कोई भी व्यवहार ऐसा न करें जिससे उन्हें अपनी हीनता मालूम पडे सब प्रकार से उन्हे साता पहुँचाने का प्रयत्न करें और धन की ही तरह विद्या बुद्धि और श्रम का महत्त्व समझें तो बिगडती हुई परिस्थिति मे कुछ सुधार हो सकता है।

३२

अन्याय का पसा अव्वल तो सामने ही समाप्त हो जायगा कदाचित् रह गया तो तीसरी पीढ़ी म दिवालिया बना ही देगा। ईमानदारी का एक पसा भी मोहर के बराबर है और बेईमानी की मोहर भी पसे के बराबर नही है।

३३

नीति का एक पसा भी मोहर के बराबर है और अनीति का भण्डार भी क्षार्यों का भण्डार है।

३४.

अनीति करके कोई सुख नही पा सकता। अनीति द्वारा उपार्जन किया हुआ द्रव्य तो चला ही जाता है, साथ मे प्रतिष्ठा को भी ले जाता है, गाँठ की पूँजी को भी ले जाता है और कभी-कभी प्राणो का ग्राहक भी बन जाता है।

३५.

अनीति के सौ रुपयो से नीति का एक पैसा भी अधिक सुख, सन्तोष और शान्तिदायक होता है। नीति की सम्पत्ति आत्मा को सन्तोष प्रदान करती है, जबकि अनीति की कमाई आत्मा को सन्ताप पहुँचाती रहती है। नीति से अगर एक पैसा तुम्हारे पास आयेगा तो वह तुम्हारा होकर रहेगा। अनीति से आया हुआ विपुल द्रव्य भी तुम्हारा होकर नही रहेगा।

३६

दयालु पुरुष धन का अधिक लालच नही करेगा। वह सोचेगा कि संसार मे धन तो परिमित ही है। अगर मैं अपनी वास्तविक आवश्यकता से अधिक इकट्ठा कर लूँगा तो दूसरो को कमी पड जायगी। गरीबों को कष्ट उठाना पडेगा। मेरे पास निरर्थक पडा रहेगा और दूसरो के पास आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी नही रहेगा।

३७.

जिस लोहे के छुरे से बैल काटा जाता है, उसकी निर्जीव चमडी से वह लोहा भी भस्म हो जाता है— यह बात भूलनी नही चाहिये। आज तुम समझो अथवा न समझो मगर एक दिन समझना पडेगा कि गरीब की हाय व्यर्थ नही जायगी। गरीबो की हाय मे वह आग है कि श्रीमंतो की बडी-बडी हवेलियाँ भी उसमे भस्म हो जायेगी।

३८

आज आपके पास पहले से पैसा बढा ही है, घटा नही है। मगर देखना यह है कि आपकी उदारता उसी परिमाण मे बढी है अथवा नही। अगर आपकी उदारता नही बढी तो धन के बढने मे आपका

या हित हुआ ? धन के साथ आपकी ममता रह गई इसका अर्थ यह
था कि आपका पाप बढ़ गया है। उस धन की सार-संभाल करने
की चिन्ता बढ़ गई, व्याकुलता बढ़ गई और आरम्भ-समारम्भ बढ़
गया। यह सब पाप का ही बढ़ना है। ऐसी सम्पत्ति से आपका कुछ
भी हित नहीं होने वाला है, बल्कि अहित ही है।

३९

तू चाहता है मैं अधिक सम्पत्तिशाली होकर सुखी बन जाऊंगा।
परन्तु यह तो देख ले कि जिनके पास अधिक सम्पत्ति है वे क्या सुखी
हैं? नहीं, वे भी तो सुखी नहीं हैं। वे भी तेरी ही तरह तृष्णा की आग
में जल रहे हैं। ऐसी अवस्था में तू कैसे सुखी हो जायेगा? सुख का
असली साधन तो सन्तोष ही है। अतएव हे भव्य! अगर तू वास्तव में
ही सुखी बनना चाहता है तो सन्तोष धारण कर।

४०

धर्म साधना में धन की तृष्णा बहुत बाधक होती है। परन्तु कभी
यह भी सोचते हो कि आखिर इतने धन का क्या करोगे? क्या पाव
भर अन्न के बदले बहुमूल्य मोती खाना चाहते हो? अरे पाव भर
अनाज, थोड़ी-सी जगह और आवश्यक वस्त्र तुम्हें चाहिए और उसके
बदले तुम दुनिया भर की दौलत को हथियाने के लिए आकाश-पाताल
एक कर रहे हो? सोचते क्यों नहीं कि यह सब वृथा है! अपना यह
उत्तम जीवन इस जड़ और विनश्वर सम्पत्ति के पीछे क्यों अकारथ
खो रहे हो? धन की मर्यादा कर लो। मर्यादा कर लोगे तो सन्तोष
आ जायगा। सन्तोष आ जायेगा तो व्याकुलता मिट जायेगी। निरा-
कुलता का अपूर्व सुख प्राप्त होगा और तब भावना धर्म की ओर
जायगी।

४१

तृष्णा तो एक तरह की अग्नि है जो धन-सम्पत्ति के ईंधन से
बुझती नहीं, बढ़ती जाती है।

४२

सम्पत्ति चित्त में शान्ति का संचार नहीं करती बल्कि व्याकुलता को

आग ही सुलगाती है । ऐसी सम्पत्ति के लिए क्यो आत्मा का अहित करते हो ?

४३.

जिनके बाप-दादे गरीब थे, भरपेट रोटियाँ भी नही पाते थे, ऐसे लोग लखपति होकर भी भगवान का भजन नही करते ? पुद्गलो के लिए चिन्तामणि के सदृश मानव-जीवन को बर्बाद कर रहे है। कोई आदमी कौवा को उडाने के लिए हाथ का हीरा फेंक दे तो मूर्ख समझा जाता है मगर धन-दौलत के लिए जीवन को गँवा देना क्या उससे भी बडी मूर्खता नही है ?

४४

तुम गृहस्थ हो तो मै नही कहता कि तुम पैसा मत कमाओ, किंतु इस प्रकार नैतिकता के विरुद्ध व्यवहार करके मत कमाओ ! पैसे के लिए अपना धर्म मत बेचो ! पैसा जीवन के लिए है, जीवन पैसे के लिए नही है । धन की तृष्णा से अन्धे होकर न्याय-अन्याय को मत भूलो ! जिस धन के लिए तुम धर्म को भूल रहे हो, वह साथ जाने वाला नही है। हाँ धनोपार्जन के लिए तुम जो पाप करोगे वह अवश्य ही तुम्हारे साथ जायगा और यह बाँधा हुआ पाप तुम्हे भव-भव मे दुःख देगा।

४५

जीवन और धन मे से जीवन ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है । धन जीवन के लिए है, जीवन धन के लिए नही है । माना कि जीवन को सुखमय बनाने के लिए गृहस्थ अवस्था मे धन की जरूरत होती है, पर इसका अर्थ यह तो नही है कि तुम धन के लिए अपने सारे जीवन को और समस्त सद्गुणो को ही न्योछावर कर दो।

४६.

चाहते हो कि हम धन-सम्पन्न बन जायं, पुत्र-पौत्र आदि परिवार वाले बने रहे, सब प्रकार की सुख-सामग्री हमे प्राप्त हो, मगर धर्म की उपेक्षा करते हो, तो यह कैसे हो सकता है ? नीम का रस पीकर मुँह मीठा करने की इच्छा किस प्रकार सफल हो सकती है ? तुम

धर्म का रक्षण और पालन करोगे तो धर्म तुम्हारा रक्षण और पालन करेगा। धर्म से ही सब सुखों की प्राप्ति होगी।

४७

धर्म की उपेक्षा करके धन की आराधना करना वैसा ही भूलभरा पूर्ण है जैसे किसी वृक्ष के मधुर फल पाने के लिए उसके मूल में पानी न सींच कर पत्तों पर पानी छिड़कना।

४८

भाई! समझ ले तेरे पास धन है और तू चाहे तो उसके द्वारा स्वर्ग भी खरीद सकता है और नरक भी खरीद सकता है, दोनों में से क्या चाहता है? स्वर्ग चाहता है तो धन को ताला में छिपाये रखने से काम नहीं चलेगा। उसे खुले हाथों से खर्च करना होगा। स्वर्ग का मोल चुकाना होगा। गरीबों को दान देना पड़ेगा, धर्म के कामों में व्यय करना होगा। यदि नरक खरीदना है तो तिजोरियों में भर कर, जमीन में गाड़ दे। धन जमीन में गाड़ने के लिए जो गड्ढा बनाता है समझ ले कि नरक में जाने का रास्ता बना रहा है।

४६

भाग्या! पापी जीव मर जायगा, लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति छोड़ जायगा परन्तु उस सम्पत्ति के उपार्जन में जो पाप किये हैं उन्हें साथ अवश्य ले जायगा। उन पापों का फल भोगने के लिए वह नरक कुण्ड में गिरेगा। वहीं सारी अकड़ निकल जायगी।

५०

जिस धन से देश, जाति, समाज और धर्म का भला न हुआ, वह धन वृथा है। ऐसे धनवान का जीवन भी वृथा है। वह उस धन का मालिक नहीं गुलाम है। उसकी जिन्दगी किसी के काम नहीं आई और उसका धन भी किसी के काम नहीं आया। तब वह किस मतलब का है?

५१

वह बड़ा आदमी किस काम का जो हर्ष के अवसर पर स्वयं ही

खा-पी लेता है। स्वय ही विनोद कर लेता है और मौज उडा लेता है। सच्चा वडा आदमी वही है जो अपने हर्ष मे दूसरो को सम्मिलित करता है। जो सुख के समय मे दीन-दु खियो का स्मरण करता है।

५२.

आपका वडप्पन किस काम का है ? घोड़े की पूँछ वडी होती है पर वह अपनी ही मक्खियाँ उडाती है। अगर आपने अपने पडौसियो का भला नही किया तो आपके वडप्पन का क्या महत्त्व है ? जगल के पेड की तरह पैदा हुए, जिन्दा रहे ओर नष्ट हो गये, तो किस काम के ? आपने जीवन का क्या लाभ लिया ?

५३

अगर इस जन्म मे लक्ष्मी का सदुपयोग न करेगा तो फिर कब करेगा ? यह लक्ष्मी या तो तेरे जीते जी ही तुझे छोडकर चली जायगी अथवा किसी समय तू इसे छोडकर जायगा। जब यह निश्चित है, और इसमे तनिक भी सन्देह नही है तो फिर क्यो सोच-विचार करता है।

५४

धन का भण्डार भर लेने से भी धन्य नही होगा, प्रतिष्ठा और परिवार वढा लेने से भी जीवन सफल नही वनेगा। सुकृत करने मे ही जीवन की सार्थकता है।

५५

धन प्राप्त करने की सार्थकता इसी मे है कि वह परोपकार के काम मे आये। जो धन परोपकार के काम मे नही आता वह पुण्य का कारण न वनकर पाप का ही कारण वनता है। उसमे आत्मा का पतन होता है।

५६

धनवानो को अनुचित आदर मिलने के कारण समाज मे धन की पूजा वढती जाती है और गुणो की प्रतिष्ठा घटती जाती है।

५७

धनी था तब क्या था और निर्धन हो गया तो क्या बदला है। उसके मनुष्यत्व में कुछ अन्तर नहीं पड़ गया है। फिर धनी गरीबी की दृष्टि में इतना परिवर्तन हो जाता है? इससे तो यही प्रकट होता है कि वास्तव में यह अभागी दुनिया मनुष्य की कद्र नहीं करती, मानवीय सद्गुणों का मूल्य नहीं जानती। इसे तो सिर्फ वस्तु का मूल्य मालूम है और वह धन है और स्वार्थ का मूल्य है। जब मनुष्य देखता है कि इससे स्वार्थ सिद्ध न होगा तो एकदम आँखें बदल लेता है। ऐसे स्वार्थी संसार पर जितना अनुताप है उतना कम कहा जाय।

५८

भाइयो! मनुष्य का असली मूल्य धन में नहीं है। किसी व्यक्ति को धन से मत तोलो। यह देखो कि उसमें कितनी उदारता है, कितनी दयालुता है, कितनी सरलता है और कितनी नम्रता है। जिसके जीवन में समभाव की जागृति जितनी अधिक हो, वह उतना ही अधिक उन्नतात्मा व्यक्ति है।

५९

लोग पैसे का जितना आदर करते हैं उतना अगर मानवीय सद्गुणों का आदर करें तो संसार स्वर्ग बन जाय।

६०

सम्पत्ति के अभाव में कोई दरिद्र नहीं होता, किन्तु जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है वह वास्तव में दरिद्र है भले ही वह करोड़पति क्यों न हो।

६१

जिस वैभव के लिए मनुष्य इतना गिर जाता है, जिस वैभव के पीछे मनुष्य मनुष्यता को भी त्याग बैठता है और राक्षस बन जाता है, उस वैभव को धिक्कार! लाख बार धिक्कार है।

६२

जिसने सन्तोषरूपी धन का संचय किया है, वही करोड़पति है।

उसके समान कोई करोडपति नही है। आगे धन साथ नही चलेगा, धर्म ही चलेगा।

६३.

धनी जिस धन मे अपनी प्रतिष्ठा समझता है, जिसमे अपना गौरव मानता है समझदार लोग उससे जीवन का अध.पतन देखते है।

६४.

अज्ञानी मनुष्य जिसे अपने जीवन का सर्वस्व समझता है, जिस सम्पदा के लिए धर्म और नीति का भी त्याग करते संकोच नही करता, यहाँ तक कि मरने को भी तैयार हो जाता है, ज्ञानी उसी सम्पत्ति को तुच्छ और निस्सार समझते हैं। ऐसी सम्पत्ति का जो भी मूल्य है, वह केवल मिथ्या कल्पना के ही क्षेत्र मे है। वास्तविकता के क्षेत्र मे उसकी कोई कीमत नही है।

६५.

यदि आपकी मानसिक स्थिति ऐसी ऊँची हो गई है कि आप धन के लिए धर्म को नही त्याग सकते और धन आपको धूल के समान प्रतीत होने लगा है तो आप सम्यग्दृष्टि है, शुक्ल पक्षी है।

६६.

गरीव अगर अपनी गरीवी मे सतोप मानकर चलता हे और जिस किसी उपाय से धनवान् वनने की लालसा नही रखता तो वह धनवान् से तनिक भी कम भाग्यशाली नही हे।

६७.

प्राचीन काल मे वीरता का सत्कार होता था, आज धन का सत्कार होता है? देश का यह पतन क्या सामान्य पतन है?

६८.

आज धन के सम्बन्ध मे प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण और धन को ही प्रतिष्ठा मिलती देखकर लोग विवाह-शादी जैसे अवसरों पर भी धन को ही महत्त्व देते हैं। कन्या का पिता चाहता है कि मुझे लखपति जंवाई मिले और लड़के का पिता चाहता है कि मुझे कोई ऐसा

सम्बन्धी मिले जो धन से भरा घर भर दे ? इस तरह दोनों की नजर धन पर ही होती है। इससे बेचारे गरीबों को कितनी परेशानी होती है, इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। योग्य से योग्य लड़के कुंवारे फिरते हैं और धनवान बूढ़े शादियाँ करके अपने बुढ़ापे को सजाते हैं। जिस देश की और जिस जाति की ऐसी दशा हो उसका उत्थान कैसे होगा ?

६९

माता पिता को सोचना चाहिए कि एकमात्र धन ही किसी के जीवन को सुखी और उन्नत नहीं बना सकता। शिक्षा सुसंस्कार धार्मिकता और नैतिकता आदि सद्गुण जिसमें विद्यमान हों विवेकवान् माता पिता उसी वर को पसन्द करते हैं। वे यह ध्यान में रखते हैं कि हम धन के साथ अपनी कन्या का विवाह नहीं करना है बल्कि मनुष्य के साथ करना है और इसीलिए वे धन से किसी को योग्य नहीं समझ लेते बल्कि सद्गुणों से ही योग्यता की जाँच करते हैं।

७०

बाप से बेटे को जो धन मिलता है उसकी क्या कीमत है ? वह धन तो उलटा अनर्थ का कारण होता है। वह ज्यादा हो गया और श्रम धन न हुआ तो मनुष्य क्या करेगा। मस्ती में पड़ा रहेगा और ब्राण्डी पीएगा और अण्डे खूँसेगा ? इस प्रकार पौद्गलिक धन आत्मा को नरक में ले जाने का ही साधन है। इसके विपरीत है सद्गुरु के द्वारा प्रदान किया हुआ धर्मधन जो इस लोक को भी सुधारता है और परलोक को भी सुधारता है।

७१

भाइयो ! धन का भण्डार या भरी हुई तिजोरियाँ छोड़ जाने से तुम स्मरणीय नहीं बनोगे। उस धन को पाकर तुम्हारे उत्तराधिकारी अगर अनाचारी हो गये तो लोग तुम्हें भी कोसेंगे। ऐसी प्रकार सात मंजिला महल बना लेने से भी तुम गणना के योग्य नहीं बन सकोगे। भूकम्प का एक ही धक्का उसे भूमिसात् बना देगा। नहीं तो काल

उसे धरती मे मिला देगा। पुत्र-पौत्र आदि का वडा परिवार भी तुम्हारा जीवन सार्थक नही वना सकता। ससार की कोई वस्तु तुम्हारा सच्चा स्मारक नहीं वन सकती। अगर तुम चाहते हो कि ससार तुम्हारा नाम ले, तुम स्मरणीय समझे जाओ तो शुद्ध चेतना प्राप्त करो। शुद्ध चेतना अर्थात् विवेक या सम्यग्दर्शन पाकर तुम्हारी शक्ति तुम्हे समीचीन पथ की ओर ले जायगी और आखिर गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाओगे।

७२.

रेहट की घड़ियाँ पानी से भर जाती है और फिर थोडी-सी देर मे ही खाली हो जाती है। खाली होकर वह फिर भर जाती है। इस प्रकार भरने और खाली होने का क्रम चालू ही रहता है। धन की भी यही दशा है। वह कभी आता है और कभी चला भी जाता है, चला जाता है तो आ भी जाता है। आज जो दरिद्र है वह कल ही संपत्तिशाली वन सकता है और आज जो सम्पत्तिशाली है वही कल दाने-दाने के लिए मुँहताज हो सकता है। अतएव धनवानो का कर्त्तव्य है कि जव उनकी दशा अनुकूल हो तव वे धन का दुरुपयोग न करे। गरीवो को सताएँ नही, वल्कि अपने धन से उनकी सहायता करे।

७३.

कोई भोला मनुष्य आपके ऊपर विश्वास करता है। आप चाहे तो सहज ही उसे ठग सकते है। मगर आप उसे ठगना उचित नही समझते और सोचते है कि—'अरे आत्मा' क्या सोना-चाँदी आदि सम्पत्ति तुझे छाती पर रखकर ले जानी है? इस दुनिया की चीजे तो इसी दुनिया मे रह जायेंगी, फूटी कौड़ी भी साथ जाने वाली नही है। फिर वृथा ही इस सम्पत्ति के लिए क्यो पाप कर्म करता है? क्यो अपनी आत्मा को पाप मे कलुपित वनाता है? जव पाप कर्मो का उदय होगा तव पाप से उपार्जित की हुई सम्पत्ति सुख प्रदान नही कर सकेगी, वह उलटा दुःख का ही कारण वनेगी।' ऐसा सोचने वाला अपनी दया करता है।

७४

पुण्य का उपार्जन करोगे तो आगामी जीवन मे भी सुख पाओगे। छल-कपट से धन कमाओगे तो पाप ही पल्ले पडेगा। धन साथ नही जायगा पाप गले पड जायेगा। अत निष्कपट बनो, सरल बनो!

७५

धन-सम्पत्ति को साथ ले जाने का एक ही उपाय है और वह यह कि उसका दान कर दो उसे परोपकार मे लगा दो खरान कर दो।

७६

कन्य लोग अपने धन की रक्षा करने मे बहुत कुशल होते हैं। मगर खेद है कि वे यह नही समझते कि उनका वास्तविक धन क्या है? रुपया-पैसा महल आदि को तुमने धन समझा है परन्तु वह तुम्हारा सच्चा धन नही है। वह पौद्गलिक धन तुम चेतन का धन कैसे हो सकता है? तुम्हारा असली धन चरित्र है। अत तुम्हे चरित्र रूपी धन की रक्षा करनी चाहिये।

७७

भाइयो! कोई भी व्यक्ति लाखो और करोडो की सम्पत्ति इकट्ठी कर सकता है। किन्तु पुण्य के बिना वह भोग नही सकता। खेत मे किसान अदवा गडा कर देते हैं। यह न स्वयं खाता है और न पशु आदि को खाने देता है। इसी प्रकार कृपण जन न खुद खा सकता है और न दूसरो को खाने देता है। वह धन का पहरेदार मात्र है। उसकी रखवाली करना ही उसका काम है।

७८

वृद्ध लोग माला जपते हैं और उसमे भावना करते हैं—हे भगवान सारे गाँव के ग्राहक मेरी ही दुकान पर आ जाएँ। भगवान ग्राहको को घेर कर तेरे घर लाएगे! तूने भगवान को अपना नौकर समझ रक्खा है! अरे सभी सब ग्राहक तेरी दुकानपर आ जायेंगे तो दूसरो के बाल-बच्चे क्या खायेंगे?

७९.

लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए पुण्य की आवश्यकता है। पुण्य का उपार्जन भगवान की स्तुति और भक्ति करने से होता है। जो भगवान की भक्ति करेगा, लक्ष्मी उसकी दासी बन जाएगी। जैसे परछाई से विमुख होकर आप चलते है तो परछाई आपका पीछा करती है, उसी प्रकार आप लक्ष्मी से विमुख होकर भगवद्-भक्ति करेगे तो लक्ष्मी आपका पीछा करेगी। इसके विरुद्ध जैसे परछाई को पकड़ने के लिए दौड़ने वाला व्यक्ति कभी अपनी परछाई को नही पा सकता, उसी प्रकार लक्ष्मी-लक्ष्मी करने वाला और उसके पीछे-पीछे मारा-मारा फिरने वाला पुरुष लक्ष्मी नही पा सकता।

८०

आखिर सभी को एक दिन मरना है फिर धन के लिए यह अनीति क्यो की जानी चाहिए ?

८१

आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान-दर्शन आदि भाव लक्ष्मी आत्मिक सम्पत्ति है। वह सदैव आत्मा मे रहती है। उसे बाहर से लाने की आवश्यकता नही पडती। उसे प्राप्त करने के लिए सिर्फ इतना ही करना पडता है कि आत्मा पर पडे पर्दो को प्रयत्न करके हटा दिया जाय। यह सम्पत्ति एकान्त सुख देने वाली है और सदैव सुख देने वाली है। परलोक मे भी वह साथ देती है। वह अनन्त और अक्षय आनन्द प्रदान करने वाली है।

१

संसार मे जितने भी अनर्थ हो रहे है उन सबके मूल मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप म, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप म भोगो की अभिलाषा ही है। सासारिक भोग ही सब अनर्थों की खान हैं।

२

विषय भोग और उनके साधना की आकाक्षा ही असल म दु ख है और उस आकाक्षा का त्याग सुख है। ज्यो-ज्यो जीवन निवृत्तिमय बनता जायगा त्यो-त्यो सुख की वृद्धि होगी। शान्ति निराकुलता में है व्याकुलता मे नही है।

३

कुत्ता समझता है कि यह जिस हड्डी को चूस रहा है उसमे स खून आ रहा है। उस बेचारे को क्या पता कि जिस खून को वह हड्डी म समझ रहा है वह तो उसका अपना ही है? ऐसी भाँति विषयासक्त जीव भोगो मे सुख की कल्पना करता है जबकि सुख आत्मा मे ही है। मुर्दे के मुह में षटरस भोजन डाल दो क्या वह उसका रसास्वादन करके सुख प्राप्त कर सकेगा? कदापि नहीं।

४

असल बात यह है कि अधिकांश लोग वास्तविक सुख के रूप को ही नहीं समझते हैं। जैसे कुत्ता प्राप्त हड्डी को चाबता है। हड्डी को चबाने से उसके मसूड़ों मे से रुधिर निकलता है और वह उस रुधिर को हड्डी मे से निकलने वाला समझ कर चाटता और आनन्द मनाता है। और वह यह समझता है कि यह स्वाद हड्डी म से आ रहा है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव समझ रहे हैं कि सुख भोगो मे है। परन्तु उनकी धारणा मिथ्या है सुख पुद्गल का गुण ही नही है। वह तो

आत्मा का गुण है और आत्मा मे ही रहता है। आत्मा के सुख गुण के विकार को—सुखाभास को लोग पुद्गलजनित सुख समझते है।

५.

भाइयो! आँखो मे खुजली चलने पर मनुष्य खुजा लेता है और कोई मनाई करता है तो भी नही मानता। उस समय खुजलाने मे ही उसे सुख मिलता है। किन्तु वाद मे जव जलन होती है तो पछताता है। इसी प्रकार यह भोग थोडी देर मजा देते है, किन्तु बाद मे बुरी तरह पछताना पडता है।

६.

कलाकन्द मे सखिया डाल दिया गया हो तो खाने वाले को पहले तो आनन्द आता है, किन्तु थोडी ही देर वाद सारे शरीर मे ऐंठन आरम्भ होती है और प्राणो से हाथ धोना पडता है। यही वात इन्द्रियो के भोगो के सम्बन्ध मे है।

७

भोगो मे उतना ही सुख है जितना तलवार की धार पर लगे हुए शहद को जीभ से चाटने से होता है। क्षणभर मिठास मालूम होती है। परन्तु जीभ कटने के कारण लम्बे समय तक दु ख उठाना पडता है। भोग भोगने से भी इस लोक मे दु ख ही दु ख होते है।

८

विप और विपयो मे अन्तर है तो यही कि विप एक वार मारता है और विपय अनेक वार मारते है। कामभोगो की अधिक विपाक्तता प्रकट करने के लिए शास्त्रकार कहते है कि काम सर्प के समान है। जैसे सर्प भयकर होता है और उससे दूर रहने मे ही कल्याण है, इसी प्रकार विपय भी आत्मा के लिए भयकर है और उनसे दूर रहने मे ही कल्याण है।

९.

जैसे मन भर का पत्थर गले मे बाँधकर डुबकी लगाने वाला पुरुष तल भाग मे जाकर अपने प्राण गँवाता है, उसी प्रकार विपय-भोगो

की गठरी अपने सिर पर लादने वाला मनुष्य पाताल लोक की ओर ही प्रयाण करता है।

१०

यह जीव भोगों को नहीं भोगता है परन्तु भोग ही जीव का भोग लेते हैं। भोगों के लिए अपना जीवन निछावर करने वाले भोग नहीं भोगते वास्तव में भोग ही उनके जीवन के भोगकर समाप्त कर देते हैं। जीव सोचता है कि मैं पाँच वर्ष में हजारपति से लखपति बन गया मगर धन कहता है मैंने इसके अनमोल जीवन के पाँच वर्ष खत्म कर दिये।

११

संसार में जितने भी संयोग हैं वे सब दुःख उत्पन्न करने वाले हैं। थोड़े से समय का संसार का सुख बहुत लम्बे समय तक दुःख देता है और वह सुख भी दुःखों से मिश्रित है जैसे जहर मिला हुआ अमृत। संसार के सुख को ज्ञानीजन इसीलिए सुख नहीं मानते।

१२

विषय भोगों से मिलने वाला सुख वास्तव में सुख नहीं सुखाभास है। सच्चा सुख तो तृप्ति में है और विषय भोगों का सर्वथा त्याग करके एकान्त निराकुल अवस्था में ही तृप्ति हो सकती है। अतएव भोगजन्य सुख को सुख समझना कोरा भ्रम है, दुःखों को निमन्त्रण देना है।

१३

जीव का स्वरूप अनन्त आनन्द है। मगर जीव को अपने स्वरूप का वास्तविक बोध नहीं है। अतएव वह विषयजन्य आनन्द को ही अपना ध्येय मान लेता है और उसी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वास्तव में विषय सुख सुख नहीं सुखाभास है। वह सुख सरीखा प्रतीत होता है। मोही जीव इसी सुखाभास के प्रलोभन में फँस कर अपने जीवन को वृथा गँवा देता है।

१४

भाग्यो! संसार के यह सब सुख दुःख के जनक हैं। जो सुख

दुःखों के जनक हो, वे वास्तव मे दुःख रूप ही है। जितने भी इन्द्रियो के विपय हैं, सव का परिणाम एक मात्र दुःख है।

१५.

जो जीव विषय-भोगों मे आसक्त होकर भविष्य की—परलोक की उपेक्षा करते है, वे मृत्यु के समय और उसके पश्चात् घोर सकट मे पड़ते है।

१६.

यह भोग रोग के भण्डार है। चेतना को मूढ वना देने वाले, आत्मा को पतित वनाने वाले, जीव को अभिशापमय वना देने वाले और समस्त आपदाओं को लाने वाले है। भोगो मे आसक्त हुआ जीव अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। वह अपनी आत्मा की ओर झाँक कर भी नही देख सकता।

१७.

भोग चेतना को जडवत् वना देते है। भोगो का सयोग भी दुःखदायी है और उनका वियोग होने पर भी शोक और पश्चात्ताप होता है। भोगो की वदौलत भयानक व्याधियाँ चेंट जाती है। विश्वास न हो तो अस्पताल मे जाकर पूछ आओ। वहाँ कितने ही लोग भोग के फलस्वरूप नरक-सी यन्त्रणाएँ भोगते है। कई लोग प्रकट रूप से कुछ कह नही सकते, मगर एकान्त मे वैठ कर रोते है।

१८

आग मे घी डाला जायगा तो वह शान्त नही होगी। उसकी ज्वालाएँ अधिकाधिक प्रचण्ड ही होती जायेगी, इसी प्रकार भोग भोगने से अन्तःकरण मे तृप्ति नही हो सकती, शान्ति नही हो सकती, वल्कि अशान्ति की ही वृद्धि होगी। फिर शान्ति पाने की इच्छा मे अशान्ति की राह पर क्यो चलना चाहिए ? धूप से घवरा कर आग की लपटो मे कूदना अगर मूर्खता है तो सच्चे सुख को प्राप्त करने के लिए भोगो के मार्ग पर चलना भी मूर्खता ही है।

१९.

भोग का स्वभाव ही अतृप्ति असन्तोष वढाना है अतएव उनसे

सब कसे आ सकता है। कोई सोचे कि मैं जब सम्राट या बादशाह बन जाऊंगा तो खूब भोग भोगकर तृप्ति संपादित कर लूंगा, किन्तु अरे भोले जीव बादशाह के दिल से तो पूछ देख कि उसका क्या हाल है। उसे सन्तुष्टि मिल सकी है या नहीं ?

२०

संसार का ऐसा कौन-सा पुद्गल है जिसका उपभोग तूने नहीं किया है ? विश्व के कण-कण को अनन्त-अनन्त बार अनन्त अनन्त रूप में तूने भोग लिया है। अब क्या शेष रह गया भोगने को ? यदि अब तक तुझे तृप्ति नहीं हुई तो क्या अब इस जीवन में भोगने से तृप्ति हो जायगी ? रे अज्ञानी जीव ! अपने मोह का त्याग कर। क्यों मन को नचाया नाचता है ? क्यों इन्द्रियों का गुलाम बन कर अपने भविष्य को संकटमय बनाता है ? यह विषय क्षणभर विकृत आनन्द देंगे तो चिरकाल पर्यन्त घोर यातनाओं के कारण बन जायेंगे।

२१

भोगोपभोगों में सुख होता तो विवेकशील पुरुष इनका त्याग करके एकान्त वनवास के कष्टों को क्यों स्वेच्छा पूर्वक सहन करते ? वस्तुतः किसी भी पौद्गलिक पदार्थ में सुख नहीं है और न वह आत्मा को सुखी बना सकता है क्योंकि सुख आत्मा का ही स्वाभाविक धर्म है। जब आत्मा पर पदार्थों से विमुख होकर अपनी ओर उन्मुख होता है और अपने ही सहज स्वरूप में रमण करता है, तब आत्मा का सुख गुण आविर्भूत हो जाता है।

२२

आज किसी अंधेरे कमरे में बंद कर दिया जाय और दरवाजे बंद हों तो पाँच मिनिट भी नहीं रहा जाता मगर नौ मास तक गर्भवास कैसे किया ? आज उन सब दुःखों को भूल गये हो इसी से विषय वासना में फँस कर अपने जीवन को सफल समझ रहे हो परन्तु याद रखना यह पुनः-पुनः गर्भ में उत्पन्न होने का मार्ग है। जिस रास्ते से गये हो वह बहुत दुःखों से परिपूर्ण है। उसी पर फिर क्यों जाते हो ?

२३.

भाइयो ! विपय-वासना का दु ख थोड़ा मत समझो। इसके पीछे आज हजारो-लाखो नही, करोडो जीवन वर्वाद हो रहे है। वडे-वडे प्रतिभाशाली लोग इस चक्कर मे पड़कर मूर्ख वन जाते है। कितने ही उदीयमान नक्षत्रो का विपय-वासना ने उदित होने से पहले ही अन्त कर दिया है। विपय-वासना वह पिशाचिनी है कि न जाने कितनो को अपना भक्ष्य वना चुकी है।

२४.

विपयो मे हलाहल विप भरा है। ज्यादा सिनेमा देखेगा तो आँखो की रोशनी मन्द हो जायगी और ज्यादा मनोज्ञ गध सूँघेगा तो नाक वद हो जायगी। ज्यादा मीठा खाएगा तो बीमारियाँ घर दवाएँगी। अधिक स्पर्श सुख को अनुभव करेगा तो निर्वल, निस्तेज और मुर्दार होकर अकाल मे ही काल के गाल मे चला जायगा। इसलिए ज्ञान की लगाम लगाकर इन घोड़ो को रोक, ऐसा किये विना ये रुकने वाले नही है।

२५

ज्ञानी पुरुप की आत्मा अन्दर ही अन्दर पुकारने लगती है कि हलाहल विष का भक्षण करना कदाचित् अच्छा हो सकता है क्योकि उससे उसी एक भव का नाश होता है, जिसमे विप-भक्षण किया गया है। परन्तु यह भोगों का विप तो अनन्त भवो को विगाडने वाला है। इसके सेवन से असख्य और अनन्त वार मौत का शिकार होना पडता है। अतएव यह भोग-विप हलाहल विप की अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक सहारक है।

२६.

भोगोपभोगो का मार्ग वड़ा ही चक्करदार है, विपम है और नरक एव निगोद तक जाने वाला है। इस मार्ग पर आत्मा अनादि काल से चल रहा है, मगर उसे न शान्ति मिली है, न तृप्ति मिली है, न सुख मिला है, न संतोप मिला है। इतना ही नही, उलटी अशान्ति, अतृप्ति, दुःख एवं असन्तोप की ही प्राप्ति हुई है। इन भोगोपभोगो ने

आत्मा के प्रभुत्व को लुप्त कर दिया है, ऐश्वर्य को मिटा दिया है। अनन्त आनन्द जो आत्मा का नैसर्गिक गुण है इन्हीं भोगों के कारण से आत्मा को नहीं प्राप्त हो रहा है। संसारी जीव इनकी तृष्णा में पड़ कर अपने ज्योतिर्मय अनन्त प्रकाशमय-स्वरूप को भूल गया है।

२७

जब तक आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव से अनभिज्ञ है तभी तक वह बाह्य पदार्थों में सुख समझता है। जब आत्मा के असीम स्वाभाविक सुख का अक्षय खजाना उसे नजर आता है तो बाह्य सुख उसे उपहासास्पद जान पड़ता है। उस भावना उसे नादान छोकरों का खेल-सा जान पड़ता है।

२८

राग और द्वेष रूपी विकारों को जीतना ही साधना है। जितने जितने अंशों में इन विकारों पर विजय प्राप्त होती जाती है उतने ही उतने अंशों में साधना पकती जाती है और जब पूरी तरह पक जाती है अर्थात् पूर्णता पर पहुँच जाती है तो पूर्ण समभाव प्रकाशित हो जाता है।

२९

मनुष्य जब आत्मा के परम चिन्मय स्वरूप को पहचान लेता है तब उसे स्वभावतः विषयों से विरक्ति हो जाती है। अतएव विषय-वासना के बंधन के लिए आत्मज्ञान प्राप्त करना ही सच्चा उपाय है। निरन्तर भावना और अभ्यास से ही विषयों की वासना नष्ट की जा सकती है।

३०

जब कोई मनुष्य जान लेता है कि यह विषधर सर्प है तो क्या उसमें मन लग सकता है? उसके समीप भी खड़ा रह सकता है? कदापि नहीं। सर्प का भान होते ही वह दूर भाग खड़ा होगा। यही सच्चा जानना है। इसी प्रकार जिसने संसार के कोलाहलमयों का असली स्वरूप समझ लिया है वह किस प्रकार उन्हें ग्रहण कर सकता है।

३१

भोगलोलुप लोग वाद मे कितना ही पश्चात्ताप क्यों न करे, अपने कर्मो का फल भुगते विना छुटकारा नही पा सकते। अतएव हे मनुष्य ! तूने अन्य सव प्राणियो से विशिष्ट बुद्धि पाई है, तुझे विवेक भी प्राप्त है, तू अपने भविष्य के विषय मे विचार कर। सोच-समझकर कदम उठा। फूँक-फूँक कर चल। आँखें रहते अन्धा क्यो वनता है ? जान बूझकर क्यो आग मे पड़ता है ?

३२.

भाइयो ! ससार मे बन्धन तो अनेक है किन्तु विपय-भोग के वन्धन के समान और कोई वन्धन नही है। जिसने इस वन्धन को तोड कर फेक दिया है, समझ लो उसने सभी वन्धनों को तोड फेकने की तैयारी कर ली है। अन्य वन्धनों से मुक्ति पाना उसके लिए सरल हो जाता है। अतएव अगर आत्मा का परम कल्याण चाहते हो, तो विपय-वासना की जड को उखाडकर फेकने का प्रयत्न करो।

३३.

भोग का रोग वडा व्यापक है। इसमे उडती चिडियाँ भी फँस जाती है। अतएव भोग के रोग से वचने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये और कभी चित्त को गृद्ध नही होने देना चाहिए।

३४.

पापो से वचने का सवसे उत्तम उपाय अपनी इन्द्रियो पर काबू करना है। जैसे कछुआ अपने अगो और उपागो को सकुचित कर लेता है तो उसके ऊपर शत्रु का प्रहार सफल नही होता इसी प्रकार जो मनुष्य अपनी इन्द्रियो को वश मे कर लेता है, उस पर पापो का जोर नही चलता। जो कछुए की भाँति इन्द्रियो को गोपन करके रखता है, अन्त करण में बुरे विचार नही आने देता और दूसरो का दिल दुखाने वाली भापा का भी प्रयोग नही करता, वह आत्मा को मोक्ष मे ले जायगा।

३५.

इन्द्रियों पर काबू रखने का अर्थ यह नही है कि कानो से सुनना

बन्द कर लो आँखों से देखना बन्द कर दो आँखें फोड़ लो या उन पर पट्टी बाँधे फिरो नाक से सूँघना बन्द कर दो, जीभ से स्वाद लेना छोड़ दो और स्पर्शनेन्द्रिय से किसी भी चीज को छूना त्याग दो। नहीं शास्त्रकारों का आशय यह नहीं है। ऐसा करने से जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। इन्द्रियों पर काबू रखने का अर्थ यह है कि मनोज्ञ अर्थात रुचिकर समझे जाने वाले पदार्थों पर राग मत करो और अमनोज्ञ अर्थात अरुचिकर समझी जानी वाली वस्तुओं पर द्वेष भाव धारण मत करो।

३६

विषय परित्याग का अर्थ यह नहीं है कि आप किसी भी वस्तु का स्पर्श न करें किसी चीज को जीभ में न छूने दें नाक बन्द कर रखें आँखों पर पट्टी बाँध कर रहें और कानों से कोई भी शब्द न सुनें। विषयों के परित्याग का अर्थ यह है कि मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न किया जाय। प्रत्येक अवस्था में समभाव में रमण करना और भले-बुरे शब्दों में विषम भाव धारण न करना, यही विषय प्रमाद के त्याग का अर्थ है।

३७

नदी में आया हुआ वेग बाढ़ का रूप धारण करके अनेक अनर्थ उत्पन्न कर देता है। मगर चतुर इन्जीनियर बाँध बना कर और नहरें निकाल कर जब उस वेग को शान्त कर देते हैं या दूसरी तरफ मोड़ देते हैं तो वही लाभदायक बन जाता है। यही बात यौवन के प्रबल वेग के विषय में भी समझो। विवेकवान व्यक्ति यौवन के प्रबल वेग की दिशा बदल देते हैं। भोगोपभोगों की दिशा से हटाकर उसे आत्म कल्याण की दिशा में ले आते हैं। तब वह अकल्याण के बदले सावों पर कल्याण का कारण बन जाता है।

३८

याद रखो, रेती का लड्डू बना कर दीवार पर मारोगे तो रेती चिपकेगी नहीं किन्तु चिकनी मिट्टी का लड्डू वहीं चिपक कर रह जाएगा। तुम्हारे चित्त में भोगों की स्निग्धता होगी तो चौरासी के

चक्कर मे पड़े रहोगे और भोगो के प्रति रूक्षवृत्ति होगी तो चक्कर मे नही पडोगे ।

३९.

ज्ञानी पुरुषो को पौद्गलिक सुख फीके और निस्सार प्रतीत होते है। उनकी रुचि उनको भोगने की नही होती । यद्यपि वह गृहस्थावास मे रहता है और सासारिक कार्य भी करता है, फिर भी उनमे निमग्न नही होता, लिप्त नही होता—जल मे कमल की भाँति अलिप्त रह कर ही वह दुनियादारी का व्यवहार करता है ।

४०.

इन्द्रियो के विषय इन्द्र के समान आत्मा को क्रीत दास बनाने वाले है ।

४१.

ससर्ग से वासना की वृद्धि होती है ।

४२.

वासनाएँ बढाने से बढती और घटाने से घटती है। भोग भोगने से तृप्ति हो जायगी, यह कल्पना विपरीत है । भोग भोगने से अतृप्ति ही बढती है, कभी तृप्ति नही होती । तृप्ति होती तो कभी की हो गई होती । अनन्त जन्मो मे जो तृप्ति नही हुई, वह अब कुछ वर्षो मे कैसे हो जायगी ?

४३.

इन्द्रिय विजय का मार्ग सम्पत्ति का मार्ग है। अर्थात् यदि तू अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है तो तुझे इसी लोक मे शाति, सन्तोष और निराकुलता रूप परम सम्पत्ति प्राप्त होती है और परलोक मे दिव्य सुख की प्राप्ति होगी ।

४४

ससार का समस्त विषय जनित सुख पराबलम्बी, तुच्छ और अनुपादेय है। साथ ही क्षणिक भी है । स्वेच्छापूर्वक उसका परित्याग

करके परमात्मा का भजन करने से वचनागोचर आनन्द प्राप्त होता है। उसके फलस्वरूप मोक्ष का अमर सुख मिलता है।

४५

लोहे के ऊपर कितना ही वजनदार पत्थर पटको लोहा फलता नहीं लेकिन उसी को आग में रख दिया जाय तो गलकर पानी-पानी हो जाता है, इसी प्रकार मजबूत से मजबूत मन वाले भी खराब निमित्त मिलने पर खराब हो जाते हैं। अतएव जो मन का निग्रह करना चाहते हैं, उन्हें प्रतिकूल संयोगों से सदैव बचते रहना चाहिए।

४६

लोग प्रेम के नाम पर बहुत भ्रम में हैं। वे समझते हैं कि विषय वासना ही प्रेम है। किसी भी एरी-गैरी को घर में डाल लेते हैं कि प्रेम हो गया। परन्तु कहाँ प्रेम की सात्विकता और पवित्रता और कहाँ वासना की गन्दगी! शुद्ध, सहज एवं सात्विक स्नेह अगर सुधा के समान है तो विषयानुराग विष के समान है। दोनों में प्रकाश और अन्धकार के समान अन्तर है।

४७

जब तक दुविधा है तब तक पूर्ण आत्म निष्ठा नहीं हो सकती। संसार के सुख भी चाहो और मोक्ष की कामना भी करो तो यह नहीं बन सकता।

४८

कामना मात्र त्याज्य है। चाहे वह इहलौकिक हो अथवा पारलौकिक। कामना वह विष है जो धर्माचरण के अमृत को भी विषाक्त बना देता है। अतएव उसका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

कर्म-फल

१.

कार्मण वर्गणा के पुद्गल द्रव्यकर्म कहलाते है, और राग-द्वेष आदि जीव के कषाय-भाव भावकर्म कहलाते है। इन दोनों मे कार्य-कारण भाव है। द्रव्यकर्म जव उदय मे आते है तो उनके निमित्त से राग-द्वेप आदि भावकर्म उत्पन्न होते है और जव भावकर्म उत्पन्न होते है तो नये कार्मण-वर्गणा के पुद्गल (द्रव्य-कर्म) आत्मा के साथ वध जाते है। अविच्छिन्न रूप से यह प्रभाव चलता आ रहा है।

२.

द्रव्यकर्मो से भावकर्मो की उत्पत्ति होती है और भावकर्मो से द्रव्यकर्म बँधते है। जैसे मुर्गी मे अडा होता है और अडा से मुर्गी होती है, अथवा बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न है, उसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म मे भी परस्पर कार्य-कारण भाव है।

३.

समान साधन होने पर भी किसी को सफलता और किसी को असफलता मिलती है, कोई लाभ और कोई हानि उठाता है, इन सव का कारण क्या है? वाहर से तो सव एक-से दिखाई देते है फिर भी कार्य मे भिन्नता है तो कोई अदृश्य कारण होना चाहिये। वह अदृश्य कारण पूर्वोपार्जित कर्म ही है। आत्मा पुनर्जन्म न धारण करता हो तो पूर्वोपार्जित कर्म कैसे फल दे सकते है?

४.

वीमार कहता है अमुक औपध का सेवन करने से ज्वर चला गया किन्तु औषध ने भीतर जाकर किस प्रकार मे ज्वर मे लडाई की और क्या काम किया यह वात दुनिया को मालूम नही होती। फिर भी वह यह काम करती ही है। इसी प्रकार मनुष्य या अन्य कोई भी प्राणी जव पाप कर्म करता है तो यह नही मालूम होता है कि पाप

कर्म किस प्रकार आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करते हैं? वह यह भी नही जान पाता कि कब कितने कर्मों का बंध हो गया है परन्तु कर्म औषध की भाँति धीरे धीरे अपने आप कार्य करते हैं। तुम चाहे दिन भर के अपने विचारों का पता न लगा सको मगर कर्मों को सब पता है। तुम जानो या न जानो कर्म तो लेखा लेंगे और राई राई का लेखा लेंगे।

५

कई लोग कहते हैं—परलोक ढकोसला है। हम परलोक नही मानते। मैं ऐसे लोगों से कहना चाहता हूँ कि तुम्हारे दिल में जो यह विचार उत्पन्न हुआ है सो प्रबल पाप का परिणाम है। तुम्हारा हित इसी में है कि शीघ्र से शीघ्र इस मिथ्या विचार को दूर कर दो। क्योंकि परलोक है और तुम्हारे न मानने से मिट नही सकता। पागल कहता है—सरकार किस चिड़िया का नाम है हम नही जानते। मगर जब वह उत्पात मचाता है तो पागलखाने में बन्द कर दिया जाता है और कोड़ों की मार मारकर उसकी अक्ल दुरुस्त की जाती है। जब उसकी अक्ल ठिकाने आती है तो वह मान लेता है कि सरकार है। यही बात तुम्हारे सम्बन्ध में होगी।

६

कर्म यद्यपि जड़ हैं तथापि चेतना का संसर्ग पाकर वे उनमें फल देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे अफीम में मस्ती पैदा कर देने की शक्ति है, शराब में पागल बना देने की शक्ति है, दूध में पुष्टि की शक्ति है, वैसे ही कर्मों में शुभ-अशुभ फल देने की शक्ति है।

७

जैसे नदी में प्रवाह में कोई भी जल बिन्दु एक जगह स्थिर नही रहता तथापि प्रवाह स्थिर है, इसी प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादि है। पुराने कर्म स्थिति का परिपाक होने पर अपना शुभाशुभ-फल देकर अलग हो जाते हैं और नये कर्म बँधते रहते हैं। अतएव कर्मों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है। कोई भी एक कर्म अनादि काल से नहीं है, सिर्फ कर्म प्रवाह अनादिकालीन है।

८

जैसे कोई व्यक्ति किसी से सौ रुपये उधार ले जाता है और पचास चुका कर फिर डेढ सौ ले जाता है। फिर कुछ देता है और फिर कुछ ले जाता है। इस प्रकार पुराना ऋण चुकाता चलता है और नया ले आता है और अपना खाता चालू रखता है इसी तरह जीव नए कर्म उपार्जन करता जाता है और पुराने भोगता जाता है।

९.

भाइयो ! पुण्य और पाप की शक्तियाँ ससार मे वडी जवर्दस्त शक्तियाँ है। मकान वदल सकते हो, वस्त्र वदल सकते हो, आभूपण भी चाहो तो वदल सकते हो, किन्तु पुण्य और पाप को नही वदल सकते। उनके फल अनिवार्य और अमिट है।

१०.

पूर्व जन्म के सस्कार अवश्य ही आत्मा मे सचित रहते है और वर्तमान जीवन बहुत कुछ उन्ही सस्कारो से प्रभावित एव सचालित होता है।

११.

फोनोग्राफ वाजे की चूडी मे राग भरा हुआ है। किन्तु वह यो अनायास नही निकलता। वाजे मे चावी भरी जाती है, सुई लगाई जाती है। तव उसमे से वैसी ही आवाज निकलती है जैसी गाने वाले ने गाई थी। चूडी मे वह आवाज जमा न होती तो सुई लगाने पर भी वह कैसे निकलती। इसी प्रकार अपने भीतर भी पहले जन्म की और उससे भी पहले जन्म की अनेक घटनाओ के सस्कार जमा है। जैसे-जैसे निमित्त मिलते है उसी प्रकार उनका स्मरण आता है।

१२.

जैसे वीज और वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, उसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म की परम्परा भी अनादिकाल मे चली आ रही है। अगर किसी वीज को जला दिया जाय तो अनादि-काल से चली आने वाली परम्परा खत्म हो जाती है। इसी प्रकार

कर्मों की परम्परा को भी तपस्या आदि की आग से भस्म किया जा सकता है।

१३

जैसे रोटी का एक कौर खाया जाता है तो वह पेट में जाकर रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, वीर्य आदि के रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार आप जो हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, दूसरों का अहित सोचते हैं, परस्त्री की तरफ बुरी नीयत से ताकते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ करते हैं, तो उनसे सात या आठ कर्मों का बंध तो अवश्य ही होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे आपकी समझ में न आने पर भी भोजन से रस, रक्त, मांस बनते हैं। किसी के न समझने के कारण कर्मों का बंध रुक नहीं सकता।

१४

जैसे किसी किसी दवा का प्रभाव तीन वर्ष तक रहता है, अमुक शराब का नशा अमुक समय तक रहता है, इसी प्रकार कर्मों का प्रभाव भी भिन्न भिन्न समय तक रहता है।

१५

जीव अपने किये कर्मों के फलस्वरूप ही नाना प्रकार की दुःखमय योनियों में भटका है और भटकता है। या किसी राजा, यहाँ तक कि इन्द्र की भी शक्ति नहीं कि वह किसी को दुर्गति में भेज सके। न कोई किसी को सुगति दे सकता है और न दुर्गति दे सकता है। अपने अपने कर्म ही जीवों को सुगति-दुर्गति के पात्र बनाते हैं।

१६

भाइयो! तुम्हें परलोक की यात्रा करनी है। आप जहाँ जाना चाहें वहीं जा सकते हैं। इसके लिए कोई रोक-टोक नहीं है। मगर तीसरे दर्जे का टिकिट लेकर अगर दूसरे या पहले दर्जे में बैठना चाहेंगे तो नहीं बैठ सकेंगे। रेल्वे की यात्रा में कदाचित् पोल चल जाती है, मगर परलोक की यात्रा में पोल नहीं चल सकती। वहाँ तो जिस दर्जे का टिकिट खरीदेंगे उसी दर्जे में जाना ही पड़ेगा। अतएव अगर आपकी इच्छा प्रथम या द्वितीय दर्जे में जाने की हो तो

आपको पहले ही ध्यान देना चाहिए। पहले ही उसका मूल्य चुकाना चाहिए। वह मूल्य क्या है ? रुपयो और पैसो मे वह मूल्य नही चुकाया जाता। वह दान, त्याग, तप, व्रत, संयम, नियम आदि के रूप मे चुकाया जाता है। निश्चित समझो, तनिक भी सदेह मत रक्खो कि जैसा करोगे वैसा भरोगे।

१७.

कर्मो के आगे वड़े-वड़े वलवान भी दुर्बल वन जाते है। उनके आगे किसी की नही चलती। कर्म क्षणभर में राजा को रक और रक को राजा वना देते है। वास्तव मे कर्मो की गति वडी विचित्र है। इन कर्मो ने महान् से महान् पुरुपो के साथ भी रियायत नही की। रामचन्द्र जैसे मर्यादा पुरुप को सताया, भगवान ऋपभ देव से भी वदला लिया और महावीर स्वामी को भी कष्ट पहुँचाया। जब ऐसे लोकोत्तर महापुरुप भी क्रूरता से नही बच सकते तो साधारण मनुष्य की तो वात ही क्या है ?

१८.

किसी भी तीर्थकर, अवतार, पैगम्बर की ताकत नही कि वह किये हुए कर्मो का फल न भोगे। जो मिर्च खायेगा उसके मुंह मे जलन हुए विना नही रहेगी। कोई शराव पी ले और चाहे कि नशा न आवे, यह कभी हो सकता है ? भाई इस विपय मे किसी की भी नही चलती है। कोई कहे कि यह वड़े आदमी है इन्हे गुनाह नही लगेगे, परन्तु गुनाह उसको तो क्या उसके वाप को भी नही छोड़ने वाले है। जहर अपना काम करेगा और अमृत अपना काम करेगा। चाहे भैरोजी हो या वालाजी हो, पीर हो या और कोई हो, किसी की भी ताकत नही कि गुनाह करके कह सके कि मैं उसका फल नही भोगूंगा। कर्मो के आगे न शनिजी की चलती है, न सूरजजी की चलती है।

१९.

कोई असाधारण व्यक्ति हो या साधारण आदमी हो, भले ही तीर्थंकर ही क्यो न हो, यदि उसने पहले अशुभ कर्म उपार्जन किये है तो उन्हे भोगना ही पडता है। 'समरथ को नहिं दोस गुसाईं' की वात

कर्मों के आगे नहीं चल सकती। अच्छे कर्म करोगे, अच्छा फल पाओगे बुरे कर्म करोगे बुरा फल मिलेगा। कर्म करना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है मगर फल भोगना इच्छा पर निर्भर नहीं है। शराब पीना या न पीना मनुष्य की मर्जी पर है मगर जो पी लेगा उसका मतवाला होना या न होना उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। उसकी इच्छा न होने पर भी उसे मतवाला होना पड़ेगा। इसलिए मैं बार बार कहता हूँ कि खाली हाथ मत जाना।

जीवन निर्माणकारी साहित्य

अवश्य पढ़िये

कविरत्न श्री अशोक मुनि जी का साहित्य

प्रेरक साहित्य

- इनसे सीखें
- महकती मानवता
- दिवाकर-रश्मियाँ

साधना-साहित्य

- साधना-सग्रह
- जिन स्तुति
- नवकार चालीसा

संगीत-साहित्य

- सगीत-सुधा
- सगीत-सरोज
- सगीत-सीकर
- सगीत-सुपमा
- सगीत-सम्मेलन
- सगीत-सग्रह
- संगीत-सुमन
- सगीत-संचय

प्राप्ति-स्थान

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

महावीर बाजार, ब्यावर (राज०)

बोध प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले स्वयंबुद्धसिद्ध कहलाते हैं।

(६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध– जो किसी के उपदेश के बिना ही किसी एक पदार्थ को देख कर दीक्षा धारण करके मोक्ष जाते हैं। वे प्रत्येक बुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।

स्वयंबुद्ध और प्रत्येक बुद्ध दोनों प्रायः एक सरीखे होते हैं, सिर्फ थोड़ी सी परस्पर विशेषताएं होती हैं। वे ये हैं– बोधि, उपधि, श्रुत और लिङ्ग (बाह्य वेष)।

(क) बोधिकृत विशेषता–स्वयंबुद्ध को बाहरी निमित्त के बिना ही जातिस्मरण आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वयंबुद्ध दो तरह के होते हैं– तीर्थङ्कर और तीर्थङ्कर व्यतिरिक्त। यहाँ पर तीर्थङ्कर व्यतिरिक्त लिये जाते हैं क्योंकि तीर्थङ्कर स्वयंबुद्ध तीर्थङ्कर सिद्ध में गिन लिये जाते हैं। प्रत्येक बुद्ध को वृषभ (बैल) मेघ आदि बाहरी कारणों को देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है और दीक्षा लेकर वे अकेले ही विचरते हैं।

(ख) उपधिकृत विशेषता– स्वयंबुद्ध वस्त्र पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (उपकरण) वाले होते है और प्रत्येक बुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधि वाले होते हैं। वे वस्त्र नहीं रखते किन्तु रजोहरण और मुखवस्त्रिका तो रखते ही हैं।

(ग–घ) श्रुत और लिङ्ग (बाह्य वेश) की विशेषता– स्वयंबुद्ध दो तरह के होते है। एक तो वे जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में भी उपस्थित हो आता है और दूसरे वे जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में उपस्थित नहीं होता। पहले प्रकार के स्वयंबुद्ध गुरु के पास जाकर लिङ्ग (वेश) धारण करते है और नियमित रूप से गच्छ मे रहते हैं। दूसरे प्रकार के स्वयंबुद्ध गुरु के पास जाकर वेश स्वीकार करते है अथवा उनको देवता वेश दे देता है। यदि वे अकेले विचरने में समर्थ हों और अकेले विचरने की इच्छा हो

तो व अकेले विचर सकते हैं अन्यथा गच्छ में रहते हैं। प्रत्येक बुद्ध को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में अवश्य उपस्थित होता है। वह ज्ञान जघन्य ग्यारह अङ्ग का और उत्कृष्ट किञ्चिदून (कुछ कम) दस पूर्व का होता है। दीक्षा लेते समय देवता उन्हें लिङ्ग (वेश) देते हैं अथवा वे लिङ्ग रहित भी होते हैं।

(७) बुद्ध बोधित सिद्ध–आचार्यादि के उपदेश से बोध प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले बुद्ध बोधित सिद्ध कहलाते हैं।

(८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध– स्त्रीलिङ्ग से मोक्ष जाने वाले स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं। यहाँ स्त्रीलिङ्ग शब्द स्त्रीत्व का सूचक है। स्त्रीत्व (स्त्रीपना) तीन प्रकार का बतलाया गया है– (क) वेद (ख) शरीराकृति और (ग) वेश। यहाँ पर शरीराकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है क्योंकि वेद के उदय में तो कोई जीव सिद्ध हो नहीं सकता और वेश अप्रमाण है,अतः यहाँ शरीराकृतिरूप स्त्रीत्व की ही विवक्षा है। नन्दी सूत्र में चूर्णिकार ने भी लिखा है कि स्त्री के आकार में रहते हुए जो मोक्ष गये हैं वे स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(९) पुरुषलिङ्ग– पुरुष की आकृति रहते हुए मोक्ष में जाने वाले पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१०) नपुंसक लिङ्ग सिद्ध– नपुंसक की आकृति में रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुंसक लिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(११) स्वलिङ्ग सिद्ध–साधु के वेश (रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) में रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१२) अन्यलिङ्ग सिद्ध–परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुए वस्त्र आदि द्रव्य लिङ्ग में रह कर मोक्ष जाने वाले अन्यलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१३) गृहस्थलिङ्ग सिद्ध– गृहस्थ के वेश में मोक्ष जाने वाले गृहस्थलिङ्ग (गृहीलिङ्ग) सिद्ध कहलाते हैं, जैसे मरुदेवी माता।

(१४) एक सिद्ध– एक एक समय में एक एक मोक्ष जाने वाले एक सिद्ध कहलाते हैं।

(१५) अनेक सिद्ध–एक समय में एक से अधिक मोक्ष जाने वाले अनेक सिद्ध कहलाते हैं। एक समय में अधिक से अधिक कितने मोक्ष जा सकते हैं। इसके लिए बतलाया गया है–

बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुलसीई छन्नउई उ दुरहियमट्ठूत्तर सयं च ॥

भावार्थ– एक समय से आठ समय तक एक से लेकर बत्तीस तक जीव मोक्ष जा सकते हैं इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव सिद्ध हो सकते है। इसी तरह दूसरे समय में भी जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस और तीसरे, चौथे यावत् आठवें समय तक जघन्य एक, दो, उत्कृष्ट बत्तीस जीव सिद्ध हो सकते हैं। आठ समयों के पश्चात् निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है।

तेतीस से लेकर अड़तालीस जीव निरन्तर सात समय तक मोक्ष जा सकते है। इसके पश्चात् निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है। ऊनपचास से लेकर साठ तक जीव निरन्तर छः समय तक मोक्ष जा सकते हैं इसके बाद अवश्य अन्तरा पड़ता है। इकसठ से बहत्तर तक जीव निरन्तर पाँच समय तक, तिहत्तर से चौरासी तक निरन्तर चार समय तक, पचासी से छयानवें [illegible] निरन्तर तीन समय पर्यन्त, सत्तानवें से एक सौ दो तक निरन्तर दो समय तक मोक्ष जा सकते है इसके बाद निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है। एक सौ तीन से लेकर एक सौ आठ तक जीव निरन्तर एक समय तक मोक्ष जा सकते हैं अर्थात् एक समय मे उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध हो सकते है इसके पश्चात् अवश्य अन्तरा पड़ता है।

• तीन आदि समय तक निरन्तर उत्कृष्ट सिद्ध नहीं हो सकते।

लिङ्ग की अपेक्षा सिद्धों का अल्प बहुत्व इस प्रकार है-

थोवा नपुंससिद्धा, थीनर सिद्धा कमेण संखगुणा।

सब से थोड़े नपुंसक लिङ्ग सिद्ध हैं क्योंकि एक समय में उत्कृष्ट दस मोक्ष जा सकते हैं। नपुंसक लिङ्ग सिद्धों से स्त्रीलिङ्ग सिद्ध संख्यातगुणे अधिक हैं क्योंकि एक समय में उत्कृष्ट बीस सिद्ध हो सकते हैं। स्त्रीलिङ्ग सिद्धों से पुरुष लिङ्ग सिद्ध संख्यात गुणे अधिक हैं क्योंकि एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष जा सकते हैं।

(पन्नवणा पद १ जीवप्रज्ञापना प्रकरण)

८५०-मोक्ष के पन्द्रह अंग

अनादि काल से जीव निगोदादि गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। कई जीव ऐसे भी हैं जिन्होंने स्थावर अवस्था को छोड़ कर त्रस अवस्था को भी प्राप्त नहीं किया। त्रसत्व (त्रस अवस्था) आदि मोक्ष के पन्द्रह अंग हैं। इनकी प्राप्ति होना बहुत कठिन है।

(१) जंगमत्व (त्रसपना)- निगोद तथा पृथ्वीकाय आदि को छोड़ कर द्वीन्द्रियादि जङ्गम कहलाते हैं। बहुत थोड़े जीव स्थावर अवस्था से त्रस अवस्था को प्राप्त करते हैं।

(२) पञ्चेन्द्रियत्व- जंगम अवस्था को प्राप्त करके भी बहुत से जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय होकर ही रह जाते हैं, पञ्चेन्द्रियपना प्राप्त होना फिर भी कठिन है।

(३) मनुष्यत्व-पञ्चेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करके भी बहुत से जीव नरक, तिर्यञ्च गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। मनुष्य भव मिलना बहुत दुर्लभ है।

(४) आर्यदेश- मनुष्य भव को प्राप्त करके भी बहुत से जीव अनार्य देश में उत्पन्न हो जाते हैं जहाँ धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इस लिए मनुष्य भव में भी आर्य देश का मिलना कठिन है।

(५) उत्तम कुल-आर्य देश में उत्पन्न होकर भी बहुत से जीव

नीच कुल में उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ उन्हें धर्मक्रिया करने की यथासाध्य सामग्री प्राप्त नहीं होती। इस लिये आर्य देश के पश्चात् उत्तम कुल का मिलना बड़ा मुश्किल है।

(६) उत्तम जाति–पितृपक्ष कुल और मातृपक्ष जाति कहलाता है। विशुद्ध एवं उत्तम जाति का मिलना भी बहुत कठिन है।

(७) रूपसमृद्धि–आँख, कान आदि पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता रूपसमृद्धि कहलाती है। सारी सामग्री मिल जाने पर भी यदि पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता न हो अर्थात् कोई इन्द्रिय हीन हो तो धर्म का यथावत् आराधन नहीं हो सकता। श्रोत्रेन्द्रिय में किसी प्रकार की हीनता होने पर शास्त्र श्रवण का लाभ नहीं लिया जा सकता। चक्षुरिन्द्रिय में हीनता होने पर जीवों के दृष्टि गोचर न होने से उनकी रक्षा नहीं हो सकती। शरीर के हाथ, पैर आदि अवयव पूर्ण न होने से तथा शरीर के पूर्ण स्वस्थ न होने से भी धर्म का सम्यक् आराधन नहीं हो सकता। इस लिए पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता का प्राप्त होना भी बहुत कठिन है।

(८) बल (पुरुषार्थ)–उपरोक्त सारी सामग्री प्राप्त हो जाने पर भी यदि शरीर में बल न हो तो त्याग और तप कुछ भी नहीं हो सकता। अतःशरीर में सामर्थ्य का होना भी परम आवश्यक है।

(९) जीवित–बहुत से प्राणी जन्म लेते ही मर जाते हैं या अल्प-वय में ही मर जाते है। लम्बी आयुष्य मिले बिना प्राणी धर्म क्रिया नहीं कर सकता। अतः जीवित अर्थात् दीर्घ आयु का मिलना भी मोक्ष का अंग है।

(१०) विज्ञान–लम्बी आयुष्य प्राप्त करके भी बहुत से जीव विवेकविकल होते है। उन्हें सत् असत् एवं हिताहित का ज्ञान नहीं होता, इसी लिये जीवादि नव तत्त्व के ज्ञान के प्रति उनकी रुचि नहीं होती। नव तत्त्वों का यथावत् ज्ञान कर आत्महित की

और प्रवृत्ति करना ही सच्चा विज्ञान है।

(११) सम्यक्त्व– सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवा जीवादि पदार्थों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बिना जीव को मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती।

(१२) शील सम्प्राप्ति– बहुत से जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर के भी चारित्र प्राप्त नहीं करते। चारित्र प्राप्ति के बिना जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। विज्ञान, सम्यक्त्व और शील सम्प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मोक्ष के प्रधान अंग हैं। श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि–

'सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'—

अर्थात्–सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग है। इन तीनों की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

(१३) क्षायिक भाव– उन ४ घाती कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होने वाला परिणाम क्षायिक भाव कहलाता है। बहुत से जीव चारित्र प्राप्त करके भी क्षायिक भाव प्राप्त नहीं करते। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं–(१) केवलज्ञान (२) केवल दर्शन (३) दान लब्धि (४) लाभ लब्धि (५) भोग लब्धि (६) उपभोग लब्धि (७) वीर्य लब्धि (८) सम्यक्त्व (९) चारित्र। चार सर्वघाती कर्मों के क्षय होने पर ये नौ भाव प्रकट होते हैं। ये नौ सादि अनन्त हैं।

(१४) केवलज्ञान– क्षायिक भाव की प्राप्ति के पश्चात् घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञान हो जाने पर जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है।

(१५) मोक्ष– आयुष्य पूर्ण होने पर अव्याबाध मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जाती है।

उपरोक्त पन्द्रह मोक्ष के अङ्ग (उपाय) हैं। इन में से बहुत से अंग

इस जीव को प्राप्त हो गये हैं। इस लिये अब शील सम्प्राप्ति (चारित्र प्राप्ति) के लिये प्रयत्न करना चाहिये। चारित्र चिन्तामणि के तुल्य है। इसकी प्राप्ति के बाद दूसरी बातें शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। अतः प्रमाद रहित होकर सदा काल चारित्र प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये। (पंच वस्तुक, गाथा १५६-१६३)

८५१- दीक्षा देने वाले गुरु के पन्द्रह गुण

गृहस्थावास छोड़ कर पाँच महाव्रत रूप मुनि व्रत अंगीकार करने को दीक्षा कहते है। नीचे लिखे पन्द्रह गुणों से युक्त साधु परिव्राजक पद अर्थात् दीक्षा देने वाले गुरु के पद के लिये योग्य होता है-

(१) विधिप्रपन्न प्रव्रज्य- दीक्षा देने वाला गुरु ऐसा होना चाहिए जिसने स्वयं विधि पूर्वक दीक्षा ली हो।

(२) आसेवित गुरु क्रम- जिसने गुरु की चिर काल तक सेवा की हो अर्थात् जो गुरु के समीप रहा हो।

(३) अखण्डित व्रत- दीक्षा अंगीकार करने के दिन से लेकर जिसने कभी भी चारित्र की विराधना न की हो।

(४) विधिपठितागम-सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप आगम जिसने गुरु के पास रह कर विधिपूर्वक पढ़े हों।

(५) तत्त्ववित्- शास्त्रों के अध्ययन से निर्मल ज्ञान वाला होने से जो जीवाजीवादि तत्त्वों को अच्छी तरह जानता हो।

(६) उपशान्त-मन, वचन और काया के विकार से रहित हो।

(७) वात्सल्ययुक्त- साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप संघ में वत्सलता अर्थात् प्रेम रखने वाला हो।

(८) सर्वसत्त्वहितान्वेषी- संसार के सभी प्राणियों का हित चाहने वाला और उसके लिए प्रयत्न करने वाला हो।

(९) आदेय- जिसकी बात दूसरे लोग मानते हों।

(१०) अनुवर्तक- विचित्र स्वाभाव वाले प्राणियों को ज्ञान,

दर्शन, चारित्र की शिक्षा देकर उनका पालन पोषण करने वाला हो।

(११) गम्भीर– रोष अर्थात् क्रोध और ताप अर्थात् प्रमत्त अवस्था में भी निसका दिल की बात को कोई न समझ सके।

(१२) अविषादी– किसी भी प्रकार का उपसर्ग होने पर जो दीनता न दिखावे अर्थात् न घबरावे।

(१३) उपशम लब्ध्यादि युक्त–उपशम लब्धि आदि लब्धियों को धारण करने वाला हो। जिस लब्धि अर्थात् शक्ति से दूसरे को शान्त कर दिया जाय उसे उपशम लब्धि कहते हैं।

(१४) सूत्रार्थभाषक– आगमों के अर्थ को ठीक ठीक बताने वाला हो।

(१५) स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपद– अपने गुरु से जिसे गुरु बनने की अनुमति मिल गई हो

इन पन्द्रह में से जिस गुरु में जितने गुण कम हों वह उनकी अपेक्षा मध्यम या जघन्य गुरु कहा जाता है।

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक ८०-८४ पृ० ७)

८५२ (क)– विनीत के पन्द्रह लक्षण

गुरु आदि बड़े पुरुषों की सेवा शुश्रूषा करने वाला विनीत कहलाता है। विनीत के पन्द्रह लक्षण हैं–

(१) विनीत शिष्य नीचवृत्ति (नम्र) होता है अर्थात् विनीत शिष्य गुरु आदि के सामने नम्र होकर रहता है, नीचे आसन पर बैठता है, हाथ जोड़ता है और चरणों में धोक देता है।

(२) प्रारम्भ किए हुए काम को नहीं छोड़ता, चञ्चलता नहीं करता, जल्दी जल्दी नहीं चलता, किन्तु विनय पूर्वक धीरे धीरे चलता है। कई लोग एक जगह बैठे हुए भी हाथ पैर आदि शरीर के अङ्गों को हिलाया करते हैं किन्तु विनीत शिष्य ऐसा नहीं करता। असत्य, कठोर और अविचारित वचन नहीं बोलता, एक काम

को पूरा किए बिना दूसरा काम शुरू नहीं करता।

(३) अमायी (सरल) होता है अर्थात् गुरु आदि से छल, कपट नहीं करता।

(४) अकुतूहली अर्थात् क्रीड़ा से सदा दूर रहता है। खेल, तमाशे आदि देखने की लालसा नहीं करता।

(५) विनीत शिष्य अपनी छोटी सी भूल को भी दूर करने की कोशिश करता है। वह किसी का अपमान नहीं करता।

(६) वह क्रोध नहीं करता तथा क्रोधोत्पत्ति के कारणों से भी सदा दूर रहता है।

(७) मित्र का प्रत्युपकार करता है अर्थात् अपने साथ किए हुए उपकार का बदला चुकाता है। वह कभी कृतघ्न नहीं बनता।

(८) विद्या पढ़ कर अभिमान नहीं करता किन्तु जैसे फलों के आने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है उसी प्रकार विद्या रूपी फल को प्राप्त कर वह नम्र बन जाता है।

(९) किसी समय आचार्यादि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना (गल्ती) हो जाने पर भी उनका तिरस्कार तथा अपमान नहीं करता अथवा वह पाप की उपेक्षा नहीं करता।

(१०) बड़े से बड़ा अपराध होने पर भी कृतज्ञता के कारण मित्रों पर क्रोध नहीं करता।

(११) अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नहीं करता अर्थात् जिसके साथ एक बार मित्रता कर ली है, यद्यपि वह इस समय सैंकड़ों अपकार (बुराई) भी कर रहा हो, तथापि उसके पहले के उपकार (भलाई) का स्मरण कर उसके दोष प्रकट नहीं करता अपितु उसके लिए भी कल्याणकारी वचन ही कहता है।

(१२) कलह और डमर (लड़ाई) से सदा दूर रहता है।

(१३) कुलीनपने को नहीं छोड़ता अर्थात् अपने को सौंपे हुए

कार्य को नहीं छोड़ता ।

(१४) विनीत शिष्य ज्ञानवान् होता है । किसी समय बुरे विचारों के आजाने पर भी वह कुकार्य में प्रवृत्ति नहीं करता ।

(१५) बिना कारण गुरु के निकट या दूसरी जगह इधर उधर नहीं घूमता फिरता । उपरोक्त गुणों वाला पुरुष विनीत कहलाता है ।

८५२ (ख) वैनयिकी बुद्धि के पन्द्रह दृष्टान्त–इसी भाग के पृष्ठ ४७५ पर दिये हैं । (उत्तरा० अध्य० ११ गाथा १०-१३)

८५३–पूज्यता को बतलाने वाली पन्द्रह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र के विनय समाधि नामक नवें अध्ययन के तीसरे उद्देशे में पूज्यता को बतलाने वाली पन्द्रह गाथाएं आई हैं। उन गाथाओं में बतलाया गया है कि किन २ गुणों के धारण करने से साधु पूज्य (पूजनीय) बन जाता है। उन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है–

(१) जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की पूजा करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य को आचार्य की पूजा यानी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये क्योंकि जो आचार्य की दृष्टि एवं इंगिताकार आदि को जान कर उनके भावानुकूल चलता है वह पूजनीय होता है ।

(२) जो आचार प्राप्ति के लिये विनय करता है, जो भक्ति पूर्वक गुरु वचनों को सुन कर स्वीकार करता है तथा गुरु के कथनानुसार शीघ्र ही कार्य सम्पन्न कर देता है, जो कभी भी गुरु महाराज की आशातना नहीं करता वह शिष्य संसार में पूज्य होता है ।

(३) अपने से गुणों में श्रेष्ठ एवं लघुवयस्क होने पर भी दीक्षा में बड़े मुनियों की विनय भक्ति करने वाला, विनय की शिक्षा में सदा नम्र एवं प्रसन्नमुख रहने वाला, मधुर और सत्य बोलने वाला, आचार्य को वन्दना नमस्कार करने वाला एवं उनके वचनों को कार्यरूप से स्वीकार करने वाला शिष्य पूजनीय होता है ।

(४) संयम यात्रा के निर्वाहार्थ जो सदा विशुद्ध, भिक्षा लब्ध एवं अज्ञात कुलों से थोड़ा थोड़ा ग्रहण किया हुआ आहार पानी भोगता है और जो आहार के मिलने तथा न मिलने पर स्तुति और निन्दा नहीं करता वह साधु संसार में पूजनीय होता है।

(५) संस्तारक, शय्या, आसन, भोजन और पानी आदि के अधिक लाभ हो जाने पर भी जो अल्प इच्छा और अमूर्च्छा भाव रखता है और सदा काल सन्तोषभाव में रत रहता है, तथा अपनी आत्मा को सभी प्रकार से सन्तुष्ट रखता है वह साधु संसार में पूजनीय होता है।

(६) धन प्राप्ति आदि की अभिलाषा से मनुष्य लोहमय तीक्ष्ण बाणों को सहन करने में समर्थ होता है परन्तु जो साधु बिना किसी लोभ लालच के कर्णकटु वचन रूपी कण्टकों को सहन करता है वह निःसन्देह पूजनीय हो जाता है।

(७) शरीर में चुभे हुए लोह कण्टक तो मर्यादित समय तक ही दुःख पहुँचाने वाले होते हे और फिर वे सुयोग्य वैद्य द्वारा सुख पूर्वक निकाले जा सकते हैं किन्तु वचन रूपी कण्टक अतीव दुरुद्धर हैं अर्थात् हृदय में चुभ जाने के बाद वे बड़ी कठिनता से निकलते हैं। कठोर वचन रूपी कण्टक परम्परया वैर भाव को बढ़ाने वाले एवं महाभय को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

(८) समूह रूप से सन्मुख आते हुए कटुवचन प्रहार श्रोत्र मार्ग से हृदय मे प्रविष्ट होते ही दौर्मनस्य भाव उत्पन्न कर देते हैं अर्थात् कटु वचनो को सुनते ही हृदय में दुष्ट भावना उत्पन्न हो जाती है परन्तु जो संयम मार्ग में शूरवीर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला पुरुष इन कटु वचनों के प्रहार को शान्ति से समभाव पूर्वक सहन कर लेता है वह संसार में पूजनीय हो जाता है।

(९) जो मुनि पीठ पीछे या सामने किसी की निन्दा नहीं करता

और परपीड़ाकारी, निश्चयकारी एवं अप्रियकारी वचन भी नहीं बोलता वह साधु पूजनीय हो जाता है।

(१०) जो साधु किसी प्रकार का लोभ लालच नहीं करता, मंत्र, तंत्रादि ऐन्द्रजालिक झगड़ों में नहीं पड़ता, माया के फन्दे में नहीं फंसता, किसी की चुगली नहीं करता, संकट में घबरा कर दीनता धारण नहीं करता, दूसरों से अपनी स्तुति नहीं करवाता और न अपने मुंह से अपनी स्तुति करता है तथा खेल, तमाशे आदि कलाओं में कौतुक नहीं रखता है वह साधु पूजनीय हो जाता है।

(११) हे शिष्य ! गुणों से साधु और अगुणों से असाधु होता है अत एव तुझे साधु गुणों को तो ग्रहण करना चाहिए और अगुणों को सर्वथा छोड़ देना चाहिए क्योंकि अपनी आत्मा को अपनी आत्मा से ही समझाने वाला तथा राग द्वेष में समभाव रखने वाला गुणी साधु ही पूजनीय होता है।

(१२) जो साधु बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, दीक्षित और गृहस्थ आदि की हीलना (निन्दा), खिंसना, (बारम्बार निन्दा) नहीं करता तथा क्रोधादि कषायों से दूर रहता है वह पूजनीय हो जाता है।

(१३) जो शिष्य आचार्य को विनय भक्ति आदि से सम्मानित करते हैं वे स्वयं भी आचार्य से विद्यादान द्वारा सम्मानित होते हैं। जिस प्रकार माता पिता अपनी कन्या को सुशिक्षित कर योग्य वर के साथ पाणिग्रहण द्वारा श्रेष्ठ स्थान में पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार आचार्य भी अपने विनीत शिष्यों को सूत्रार्थ का ज्ञाता बना कर आचार्यपद जैसे ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी साधु ऐसे सम्मान योग्य आचार्यों का सम्मान करता है वह संसार में पूज्य हो जाता है।

(१४) जो मुनि पूर्ण बुद्धिमान्, पाँच महाव्रतों का पालक, तीन गुप्तियों का धारक और चारों कषायों पर विजय प्राप्त करने

वाला होता है और गुणों के सागर गुरुजनों के वचनों को विनय पूर्वक सुन कर तदनुसार आचरण करने वाला होता है वह मुनि संसार में पूजनीय हो जाता है।

(१५) जैनागम के तत्त्वों को पूर्णरूप से जानने वाला, अतिथि, साधुओं की दत्तचित्त से सेवा-भक्ति करने वाला साधु अपने गुरु महाराज की निरन्तर सेवा भक्ति करके पूर्वकृत कर्मों को क्षय कर देता है और अन्त में दिव्य तेजोमयी, अनुपम सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है। (दशवैकालिक अध्ययन ६ उद्देशा ३)

८५४-अनाथता की पन्द्रह गाथाएँ

उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन का नाम महानिर्ग्रन्थीय है। इसमें अनाथी मुनि का वर्णन है।

एक समय मगध देश का स्वामी राजा श्रेणिक सैर करने के लिए जंगल की ओर निकला। सैर करता हुआ राजा मंडितकुक्षि नामक उद्यान में आ पहुँचा। वहाँ एक वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाए हुए एक ध्यानस्थ मुनि को देखा। मुनि की प्रसन्न मुखमुद्रा, कान्तिमय देदीप्यमान विशाल भाल और सुन्दर रूप को देख कर राजा श्रेणिक विस्मित एवं आश्चर्यचकित हो गया। वह विचार करने लगा कि अहा! कैसी इनकी कान्ति है? कैसा इनका अनुपम रूप है? अहो! इस योगीश्वर की कैसी अपूर्व सौम्यता, क्षमा, निर्लोभता तथा भोगों से निवृत्ति है! उस योगीश्वर के दोनों चरणों को नमस्कार करके प्रदक्षिणा देकर न अति दूर और न अति पास इस तरह खड़ा होकर, दोनों हाथ जोड़ कर राजा श्रेणिक विनय पूर्वक इस प्रकार पूछने लगा-

हे आर्य! इस तरुणावस्था मे भोग विलास के समय आपने दीक्षा क्यों ली है? आपको ऐसी क्या प्रेरणा मिली जिससे आपने

इस तरुण वय में यह कठोर व्रत (मुनिव्रत) धारण किया है ? इन बातों का उत्तर मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ।

राजा के प्रश्न को सुन कर मुनि कहने लगे कि हे राजन् ! मैं अनाथ हूँ, मेरा रक्षक कोई नहीं है और न मेरा कोई कृपालु मित्र ही है। इसी लिए मैंने मुनिव्रत धारण कर लिया है।

योगीश्वर का उत्तर सुन कर मगध देश के अधिपति राजा श्रेणिक को हँसी आ गई। वह योगीश्वर से कहने लगा कि क्या आप जैसे प्रभावशाली तथा समृद्धिशाली पुरुष को अभी तक कोई स्वामी नहीं मिल सका है ? हे योगीश्वर ! यदि सचमुच आपका कोई सहायक नहीं है तो मैं सहायक होने को तैयार हूँ। मनुष्यभव (जन्म) अत्यन्त दुर्लभ है इस लिए आप मित्र तथा स्वजनों से युक्त होकर सुख पूर्वक हमारे पास रहो और यथेच्छ भोगों को भोगो।

योगीश्वर कहने लगे कि हे मगधेश्वर श्रेणिक ! तू स्वयं ही अनाथ है। जो स्वयं अनाथ है वह दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है ? मुनि के वचन सुन कर राजा को अति विस्मय एवं आश्चर्य हुआ क्योंकि राजा के लिए ये वचन अश्रुतपूर्व थे। इससे पहले राजा ने ऐसे वचन कभी किसी से नहीं सुने थे। अतः उसे व्याकुलता और संशय दोनों ही हुए। राजा को यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह योगी मेरी शक्ति, सामर्थ्य तथा सम्पत्ति को नहीं जानता है। इसी लिए ऐसा कहता है। राजा अपना परिचय देता हुआ योगीश्वर से कहने लगा कि मैं अनेक हाथी, घोड़ों, करोड़ों आदमियों, शहरों एवं देशों (अंगदेश और मगध देश) का स्वामी हूँ। सुन्दर अन्तःपुर में मनुष्य सम्बन्धी सर्वोत्तम भोग भोगता हूँ। मेरी सत्ता (आज्ञा) और ऐश्वर्य अनुपम है। इतनी विपुल सम्पत्ति होने पर भी मैं अनाथ कैसे हूँ ? हे मुनीश्वर ! कहीं आपका कथन असत्य तो नहीं है ? मुनि कहने लगे कि राजन् ! तू अनाथ और

सनाथ के परमार्थ एवं असली रहस्य को न तो जान ही सका है और न समझ ही सका है। इसीसे तुझे सन्देह हो रहा है। मुझे अनाथता का ज्ञान कहाँ और किस प्रकार हुआ और मैंने दीक्षा क्यों ली, हे राजन्! इस सर्व वृत्तान्त को तू ध्यान पूर्वक सुन–

प्राचीन नगरों में सर्वोत्तम कोशांबी नाम की एक नगरी थी। वहाँ प्रभूतधनसञ्चय नाम के मेरे पिता रहते थे। एक समय तरुण अवस्था में मुझे आँख की अतुल पीड़ा हुई और उस पीड़ा के कारण मेरे सारे शरीर में दाहज्वर हो गया। जैसे कुपित हुआ शत्रु मर्मस्थानों पर अति तीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा प्रहार कर घोर पीड़ा पहुँचाता है वैसी ही तीव्र मेरी आँख की पीड़ा थी। वह दाहज्वर की दारुण पीड़ा इन्द्र के वज्र की तरह मेरी कमर, मस्तक तथा हृदय को पीड़ित करती थी। उस समय वैद्यक शास्त्र में अति प्रवीण, जड़ी बूटी तथा मंत्र तंत्र आदि विद्या में पारंगत, शास्त्र विचक्षण तथा औषधि करने में अति दक्ष अनेक वैद्याचार्य मेरे इलाज के लिये आये। उन्होंने अनेक प्रकार से मेरी चिकित्सा की किन्तु मेरी पीड़ा को शान्त करने में वे समर्थ न हुए। मेरे पिता मेरे लिए सब सम्पत्ति लगा देने को तय्यार थे किन्तु उस दुःख से छुड़ाने में तो वे भी असमर्थ ही रहे। मेरी माता भी मेरी पीड़ा को देख कर दुखित एवं अतिव्याकुल हो जाती थी किन्तु दुःख दूर करने में वह भी असमर्थ थी। मेरे सगे छोटे और बड़े भाई तथा सगी बहिनें भी मुझे उस दुःख से न बचा सकीं। मुझ पर अत्यन्त स्नेह रखने वाली पतिपरायणा मेरी पत्नी ने सब शृङ्गारों का त्याग कर दिया था। रात दिन वह मेरी सेवा में लगी रहती, एक क्षण के लिये भी वह मेरे से दूर न होती थी किन्तु अपने आँसुओं से मेरे हृदय को सिंचन करने के सिवाय वह भी कुछ न कर सकी। मेरे सज्जन स्नेही और कुटुम्बी जन भी मुझे उस दुःख से न छुड़ा सके यही मेरी अनाथता थी।

इस प्रकार चारों तरफ से असहायता और अनाथता का अनुभव होने से मैंने सोचा कि इस अनन्त संसार में ऐसी वेदनाएं सहन करनी पड़ें, यह बात बहुत असह्य है इस लिए अब की बार यदि मैं इस दारुण वेदना से छूट जाऊँ तो क्षांत (क्षमाशील), दान्त तथा निरारम्भी होकर तत्क्षण ही संयम धारण करूँगा। हे राजन्! रात्रि को ऐसा निश्चय करके मैं सो गया। ज्यों ज्यों रात्रि व्यतीत होती गई त्यों त्यों यह मेरी दारुण वेदना भी क्षीण होती गई। प्रातःकाल तो मैं बिलकुल नीरोग हो गया। अपने माता पिता से आज्ञा लेकर क्षान्त दान्त और निरारम्भी होकर संयमी (साधु) बन गया। संयम धारण करने के बाद मैं अपने आपका तथा समस्त त्रस और स्थावर जीवों का नाथ (रक्षक) हो गया।

हे राजन्! यह आत्मा ही आत्मा के लिये वैतरणी नदी तथा कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और यही कामधेनु तथा नन्दन वन के समान सुखदायी भी है। यह आत्मा ही सुख दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। यदि सुमार्ग पर चले तो यह आत्मा ही अपना सब से बड़ा मित्र है और यदि कुमार्ग पर चले तो आत्मा ही अपना सब से बड़ा शत्रु है।

इस प्रकार अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को अपना पूर्व वृत्तान्त सुना कर यह बतलाया कि मुझे किस प्रकार वेदना सहन करनी पड़ी और किस प्रकार मुझे अनाथता का अनुभव हुआ। छः काय जीवों के रक्षक महाव्रतधारी मुनिराज ही सच्चे सनाथ (रक्षक) हैं किन्तु मुनिवृत्ति धारण करके जो उसका सम्यक् प्रकार से पालन नहीं कर सकते वे भी अनाथ ही हैं। यह दूसरे प्रकार की अनाथता है। इसका वर्णन इस अध्ययन की अड़तीसवीं गाथा से लेकर बावनवीं गाथा तक किया गया है। अतः उन पन्द्रह गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है –

(१) हे राजन् ! बहुत से पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार तो कर लेते हैं किन्तु परीषह और उपसर्गों के आने पर कायर बन जाते हैं और साधु धर्म का सम्यक् पालन नहीं कर सकते। यह उनकी अनाथता है।

(२) जो कोई पहले महाव्रतों को ग्रहण करके बाद में अपनी असावधानता एवं प्रमादवश उनका यथोचित पालन नहीं करता, और अपनी आत्मा का निग्रह न कर सकने के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बन कर रसलोलुप बन जाता है। ऐसा भिक्षु रागद्वेष रूपी संसार के बन्धनों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकता क्योंकि किसी भी वस्तु को छोड़ देना सरल है किन्तु उसकी आसक्ति को दूर करना बहुत मुश्किल है।

(३) ईर्या (उपयोग पूर्वक चलना), भाषा (उपयोग पूर्वक निर्दोष भाषा बोलना), एषणा (निर्दोष भिक्षा आदि ग्रहण करने की वृत्ति), पात्र, कम्बल, वस्त्रादि को यतनापूर्वक उठाना, रखना तथा कारणवशात् बची हुई अधिक वस्तु को तथा मल, मूत्र आदि त्याज्य वस्तुओं को यतना पूर्वक निर्दोष स्थान में परठना, इन पाँच समितियों का जो साधु पालन नहीं करता, वह वीतराग प्ररूपित धर्म का आराधन नहीं कर सकता।

(४) जो बहुत समय तक साधुव्रत की क्रिया करके भी अपने व्रत नियमों में अस्थिर हो जाता है तथा तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों से भ्रष्ट हो जाता है ऐसा साधु बहुत वर्षों तक त्याग, संयम, केशलोच आदि कष्टों द्वारा अपने शरीर को सुखाने पर भी संसार सागर को पार नहीं कर सकता।

(५) ऐसा साधु पोली मुट्ठी अथवा खोटे रुपये की तरह सार (मूल्य) रहित हो जाता है, जैसे वैडूर्यमणि के सामने काच का टुकड़ा निरर्थक (व्यर्थ) है वैसे ही ज्ञानी पुरुषों के सामने वह साधु

निर्ग्रन्थ हो जाता है अर्थात् गुणवानों में उसका आदर नहीं होता।

(६) जो रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि मुनि के बाह्य चिह्न मात्र रखता है और केवल आजीविका के लिए ही वेशधारी साधु बनता है ऐसा पुरुष त्यागी नहीं है और त्यागी न होते हुए भी अपने को झूठमूठ ही साधु कहलवाता है। ऐसे वेशधारी ढोंगी साधु को बहुत काल तक नरक और तिर्यञ्च योनि के अन्दर असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं।

(७) जैसे– तालपुट विष (ऐसा दारुण विष जो तत्काल प्राणों का नाश करता है) खाने से, उल्टी रीति से शस्त्र ग्रहण करने से तथा अविधिपूर्वक मंत्र जाप करने से, स्वयं धारण करने वाले का ही नाश हो जाता है वैसे ही चारित्र धर्म को अंगीकार करके जो साधु विषय वासनाओं की आसक्ति में फंस कर इन्द्रिय लोलुप हो जाता है वह अपने आप का पतन कर डालता है।

(८) सामुद्रिक शास्त्र, स्वप्नविद्या, ज्योतिष तथा विविध कौतूहल (जादूगरी) आदि विद्याओं को सीख कर उनके द्वारा आजीविका चलाने वाले कुसाधु को अन्त समय में वे कुविद्याएं शरणभूत नहीं होतीं।

विद्या वही है जिससे आत्मा का विकास हो। जिससे आत्मा का पतन हो वह विद्या, विद्या नहीं किन्तु कुविद्या है।

(९) वह वेशधारी साधु अपने अज्ञान रूपी अन्धकार में सदा दुःखी होता है। चारित्रधर्म का यथावत् पालन न कर सकने के कारण वह इस भव में अपमानित होता है और परलोक में नरक आदि के असह्य दुःख भोगता है।

(१०) जो साधु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बनकर अपने निमित्त बनाई गई, मोल ली गई अथवा केवल एक ही घर से प्राप्त सदोष भिक्षा ग्रहण किया करता है वह कुसाधु अपने पापों के कारण

दुर्गति में जाता है।

(११) शिर का छेदन करने वाला शत्रु भी इतना अपकार नहीं कर सकता जितना कुमार्ग पर चल कर यह आत्मा अपना अपकार कर लेती है। जब यह आत्मा कुमार्ग पर चलती है तब अपना भान भी भूल जाती है। जब मृत्यु आकर गला दबाती है तब उसको अपना भूतकाल याद आता है और फिर उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है।

(१२) साधु वृत्ति अंगीकार करके उसका यथावत् पालन न करने वाले वेशधारी साधु का सारा कष्ट सहन भी व्यर्थ हो जाता है और उसका सारा पुरुषार्थ विपरीत फल देने वाला होता है। ऐसे भ्रष्टाचारी साधु का इस लोक में अपमान होता है और परलोक में महान् दुःखों का भोक्ता बनता है।

(१३) जैसे भोगरस (जिह्वा स्वाद) में लोलुप (मांस खाने वाला) पक्षी स्वयं दूसरे हिंसक पक्षी द्वारा पकड़ा जाकर खूब परिताप पाता है वैसे ही दुराचारी तथा स्वच्छंदी साधु को जिनेश्वर देव के मार्ग की विराधना करके मृत्यु के समय बहुत पश्चाताप करना पड़ता है।

(१४) ज्ञान तथा गुण से युक्त हितशिक्षा को सुन कर बुद्धिमान् पुरुष दुराचारियों के मार्ग को छोड़ कर महातपस्वी मुनीश्वरों के मार्ग पर गमन करे।

(१५) इस प्रकार चारित्र के गुणों से युक्त बुद्धिमान् साधक श्रेष्ठ संयम का पालन कर निष्पाप हो जाते है तथा वे पूर्व संचित कर्मों का नाश कर अन्त में अक्षय मोक्ष सुख को प्राप्त करते है।

इस प्रकार कर्म शत्रुओं के घोर शत्रु, दान्त, महातपस्वी, विपुल यशस्वी, दृढव्रती महामुनीश्वर अनाथी ने अनाथता का सच्चा अर्थ राजा श्रेणिक को सुनाया। इसे सुन कर राजा श्रेणिक अत्यन्त

प्रसन्न हुआ। दोनों हाथ जोड़ कर राजा श्रेणिक उन महामुनीश्वर से इस प्रकार अर्ज करने लगा– हे भगवन् ! आपने मुझे सचा अनाथता का स्वरूप बड़ी ही सुन्दरता से साथ समझा दिया। आपका मानव जन्म पाना धन्य है। आपकी यह दिव्य कान्ति, दिव्य प्रभाव, शान्त मुखमुद्रा, उज्ज्वल सौम्यता धन्य है। जिन श्वर भगवान् के सत्यमार्ग में चलने वाले आप वास्तव में सनाथ हैं, सबान्धव हैं। संयमिन् ! अनाथ जीवों के आप ही नाथ हैं। सब प्राणियों के आप ही रक्षक हैं। हे क्षमा सागर महापुरुष ! मैंने आपके ध्यान में विघ्न (भंग) डाल कर और भोग भोगने के लिए आमन्त्रित करके आपका जो अपराध किया है उसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

इस प्रकार राजाओं में सिंह के समान श्रेणिक राजा ने श्रमण सिंह (साधुओं में सिंह के समान) अनाथी मुनि की परम भक्ति पूर्वक स्तुति की। मुनि का धर्मोपदेश सुन कर राजा श्रेणिक अपने अन्त पुर (सब रानियाँ और दास दासियाँ) और सकल कुटुम्बी जनों सहित मिथ्यात्व का त्याग कर शुद्ध धर्मानुयायी बन गया।

अनाथी मुनि के इस अमृतोपम समागम से राजा श्रेणिक का रोम रोम प्रफुल्लित हो गया। परम भक्ति पूर्वक मुनिश्वर को वन्दना नमस्कार करके अपने स्थान को चला गया।

तीन गुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों (मनदण्ड, वचन दण्ड और कायदण्ड) से विरक्त, गुणों के भण्डार अनाथी मुनि अनासक्त भाव से अप्रतिबन्ध विहार पूर्वक इस पृथ्वी पर विचरने लगे।

साधुता में ही सनाथता है। आदर्श त्याग में ही सनाथता है। आसक्ति में अनाथता है। भोगों में आसक्त होना अनाथता है और इच्छा तथा वासना की परतन्त्रता में भी अनाथता है। अनाथता को छोड़ कर सनाथ होना अपने आप ही अपना मित्र बनना प्रत्येक

मुमुक्षु का कर्तव्य है। (उत्तराध्ययन अध्ययन २८ गा. ३८-४९)

८५५-योग अथवा प्रयोगगति पन्द्रह

मन वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से मन वचन और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्म प्रदेशों में होने वाले परिस्पंद, कंपन या हलन चलन को भी योग कहते हैं। आलम्बन के भेद से इसके तीन भेद हैं-मन, वचन और काया। इनमें मन के चार। वचन के चार और काया के सात, इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं। पन्नवणा सूत्र में योग के स्थान पर प्रयोग शब्द है। इन्हीं को प्रयोगगति भी कहा जाता है-

(१) सत्य मनोयोग-मन का जो व्यापार सत् अर्थात् सज्जन-पुरुष या साधुओं के लिये हितकारी हो, उन्हें मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो उसे सत्यमनोयोग कहते हैं अथवा जीवादि पदार्थों के अनेकान्त रूप यथार्थ विचार को सत्य मनोयोग कहते हैं।

(२) असत्य मनोयोग- सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मनोयोग कहते हैं अथवा जीवादि पदार्थ नहीं हैं, एकान्त सत् है इत्यादि एकान्त रूप मिथ्या विचार असत्य मनोयोग है।

(३) सत्यमृषा मनोयोग- व्यवहार नय से ठीक होने पर भी निश्चय नय से जो विचार पूर्ण सत्य न हो, जैसे- किसी उपवन में धव, खैर, पलाश आदि के कुछ पेड़ होने पर भी अशोकवृक्ष अधिक होने से उसे अशोक वन कहना। वन में अशोकवृक्षों के होने से यह बात सत्य है और धव आदि के वृक्ष होने से मृषा(असत्य)भी है।

(४) असत्यामृषा मनोयोग- जो विचार सत्य नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। किसी प्रकार का विवाद खड़ा होने पर वीतराग सर्वज्ञ के बताए हुए

सिद्धान्त के अनुसार विचार करने वाला आराधक कहा जाता है उसका विचार सत्य है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ के सिद्धान्त से विपरीत विचरता है, जीवादि पदार्थों को एकान्त नित्य आदि बताता है वह विराधक है। उसका विचार असत्य है। जहाँ वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो केवल वस्तु का स्वरूप मात्र दिखाया जाय, जैसे- देवदत्त! घड़ा लाओ इत्यादि चिन्तन में वहाँ सत्य या असत्य कुछ नहीं होता। आराधक विराधक की कल्पना भी वहाँ नहीं होती। इस प्रकार के विचार को असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। यह भी व्यवहार नय की अपेक्षा है। निश्चय नय से तो इसका सत्य या असत्य में समावेश हो जाता है।

(५-६-७-८) ऊपर लिखे मनोयोग के अनुसार वचन योग के भी चार भेद हैं-(५) सत्य वचन योग (६) असत्य वचन योग (७) सत्यमृषा वचन योग (८) असत्यामृषा वचन योग।

काय योग के सात भेद

(९) औदारिक शरीर काय योग- काय का अर्थ है समूह। औदारिक शरीर पुद्गल स्कन्धों का समूह है, इस लिए काय है। इस में होने वाले व्यापार को औदारिक शरीर काय योग कहते हैं। यह योग पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्यों के ही होता है।

(१०) औदारिक मिश्र शरीर काय योग- वैक्रिय, आहारक और कार्मण के साथ मिले हुए औदारिक को औदारिक मिश्र कहते हैं। औदारिक मिश्र के व्यापार को औदारिक मिश्र शरीर-काय योग कहते हैं।

(११) वैक्रिय शरीर काय योग- वैक्रिय शरीर पर्याप्ति के कारण पर्याप्त जीवों के होने वाला वैक्रिय शरीर का व्यापार वैक्रिय शरीर काय योग है।

(१२) वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग–देव और नारकी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में होने वाला काय योग वैक्रिय मिश्र शरीर काययोग है। यहाँ वैक्रिय और कार्मण की अपेक्षा मिश्र योग होता है।

(१३) आहारक शरीर काययोग– आहारक शरीर पर्याप्ति के द्वारा पर्याप्त जीवों को आहारक शरीर काययोग होता है।

(१४) आहारक मिश्र शरीर काययोग–जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय आहारक मिश्र शरीर काय योग होता है।

(१५) तैजस कार्मण शरीर योग–विग्रह गति में तथा सयोगी केवली को समुद्घात के तीसरे, चौथे और ५वें समय में तैजस कार्मण शरीर योग होता है। तैजस और कार्मण सदा एक साथ रहते है, इस लिए उन के व्यापार रूप काय योग को भी एक ही माना है।

काय योग के सात भेदों का विशेष स्वरूप इसी के दूसरे भाग के बोल नं० ५४७ में दिया गया है।

(पन्नवणा पद १६ सू. २०२) (भगवती शतक २५ उद्देशा १ सू. ७१६)

८५६– बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद

जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थ दो वस्तुओं को आपस मे जोड़ देते है उसी प्रकार जो कर्म शरीरनामकर्म के बल से वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों को पहले ग्रहण किए हुए पुद्गलों के साथ जोड़ देता है, उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके बल से औदारिक आदि शरीरों द्वारा ग्रहण होने वाले नए पुद्गल शरीर के साथ चिपक कर एकमेक हो जाते हैं।

पाँच शरीरों में औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये प्रत्येक भव में नए पैदा होते हैं इस लिए प्रथम उत्पत्ति के समय इनका सर्वबन्ध और बाद में देशबन्ध होता है अर्थात् उसी शरीर में नए नए पुद्गल आकर चिपकते रहते हैं। तैजस और कार्मण शरीर

जीव के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं इस लिए उन दोनों का सर्वबन्ध नहीं होता, केवल देशबन्ध ही होता है। बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद हैं–

(१) औदारिक औदारिक बन्धन– जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत अर्थात् पहले ग्रहण किए हुए औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण अर्थात् जिन का वर्तमान समय में ग्रहण किया जा रहा हो ऐसे औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जाय उसे औदारिक औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(२) औदारिक तैजस बन्धन–जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो उसे औदारिक तैजस बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(३) औदारिक कार्मण बन्धन–जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है उसे औदारिक कार्मण बन्धन नामकर्म कहते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। बन्धन नामकर्म के शेष भेद निम्न लिखित हैं–

(४) वैक्रिय वैक्रिय बन्धन।
(५) वैक्रिय तैजस बन्धन।
(६) वैक्रिय कार्मण बन्धन।
(७) आहारक-आहारक बन्धन।
(८) आहारक तैजस बन्धन।
(९) आहारक कार्मण बन्धन।
(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन।
(११) वैक्रिय तैजस कार्मण बन्धन।
(१२) आहारक तैजस कार्मण बन्धन

(१३) तैजस तैजस बन्धन।
(१४) तैजस कार्मण बन्धन।
(१५) कार्मण कार्मण बन्धन।

(कर्मग्रन्थ पहला, गाथा ३७) (कर्मप्रकृति गाथा १ टीका)

८५७– तिथियों के नाम पन्द्रह

एकम से लेकर पूर्णिमा या अमावस्या तक पन्द्रह तिथियाँ हैं। चन्दपण्णत्ति में इनके नाम नीचे लिखे अनुसार दिए हैं–

प्रचलित नाम	दिन का नाम	रात्रि का नाम
(१) प्रतिपदा	पूर्वांग	उत्तमा
(२) द्वितीया	सिद्धमनोरम	सुनक्षत्रा
(३) तृतीया	मनोहर	एलावची
(४) चतुर्थी	यशोभद्र	यशोधरा
(५) पंचमी	यशोधर	सौमनसी
(६) षष्ठी	सर्वकाम समेध	श्रीभूता
(७) सप्तमी	इन्द्रमूर्धाभिषेक	विजया
(८) अष्टमी	सौमनस	वैजयन्ती
(९) नवमी	धनञ्जय	जयन्ती
(१०) दशमी	अर्थसिद्ध	अपराजिता
(११) एकादशी	अभिजित्	इच्छा
(१२) द्वादशी	अत्यसन	समाहारा
(१३) त्रयोदशी	शतंजय	तेजा
(१४) चतुर्दशी	अग्निवेश	अतितेजा
(१५) पञ्चदशी (पूर्णिमा)	उपशम	देवानन्दा

(चन्द्रप्रज्ञप्ति प्राभृत १० प्राभृतप्राभृत १४)

८५८– कर्मभूमि पन्द्रह

जिन क्षेत्रों में असि (शस्त्र और युद्ध विद्या) मसि (लेखन) और

पठन पाठन) और कृषि (खेती) तथा आजीविका के दूसर साधन रूप कर्म अर्थात् व्यवसाय हों उन्हें कर्मभूमि कहते हैं। कर्म-भूमियाँ पन्द्रह हैं अर्थात् मन्द्रह क्षेत्रों में उपरोक्त कर्म होते हैं- पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह।

(१-५) पाँच भरत- जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड मे दो और पुष्करार्द्ध द्वीप में दो। इस प्रकार पाँच भरत हो जाते हैं।

(६-१०)पाँच ऐरवत- जम्बूद्वीप में एक,धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार पाँच एरवत हो जाते हैं।

(११-१५) पाँच महाविदेह- जम्बूद्वीप में एक,धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार कुल ५ महाविदेह हो जाते हैं।

उपरोक्त पन्द्रह क्षेत्रों में स जम्बूद्वीप में तीन क्षेत्र हैं- १ भरत १ एरवत और १ महाविदेह। धातकीखण्ड में ६ क्षेत्र हैं-२ भरत २ ऐरवत और दो महाविदेह। इसी प्रकार पुष्करार्द्ध में भी ६ क्षेत्र हैं। कुल मिलाकर पन्द्रह हो जाते हैं।

(पन्नवणा पद १ सूत्र ३७) (भगवती शतक २० उद्देशा ८ सू ६७५)

८५६- परमाधार्मिक पन्द्रह

पापाचरण और क्रूर परिणामों वाले असुरजाति के देव जो तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार के दुःख देते हैं वे परमाधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के होते हैं-

(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनु (११) कुम्भ (१२) बालुका (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष।

इनके भिन्न भिन्न कार्य दूसरे भाग, बोल नं० ५६० (नरक सात पृष्ठ ३२४ प्रथमावृत्ति) में दिए जा चुके हैं।

(समवायांग १५ समवाय)

८६०– कर्मादान पन्द्रह

अधिक हिंसा वाले धन्धों से आजीविका कमाना कर्मादान है अथवा जिन कार्यों से अधिक कर्मबन्ध हो उन्हें कर्मादान कहते हैं। शास्त्र में श्रावकों का वर्णन करते हुए कहा है–

अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया,
धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मप्पज्जलणा,
धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।
(उववाई सूत्र ४१) (सूयगडाग श्रुतस्कन्ध २ अध्ययन २ सू. ३६)

अर्थात्–श्रावक अल्प आरम्भ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक, धर्म के अनुसार चलने वाले, धर्म में स्थिर, धर्म के कथक, (धर्मोपदेशक), धर्म में होशियार, धर्म के प्रकाश वाले, धार्मिक आचार वाले और धर्म से ही आजीविका उपार्जन करने वाले होते हैं।

इस लिए श्रावक को पापकारी व्यापार न करने चाहिए। श्रावक को कर्मादान जानने चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए। कर्मादान पन्द्रह है–

(१) इंगालकम्मे–(अंगार कर्म) वृक्ष काट कर और जलाकर कोयला बनाना और उसका व्यापार करना।

(२) वणकम्मे–(वन कर्म) वन खरीद कर, वृक्षों को कटवा कर बेचना।

(३) साडीकम्मे–(शाकट कर्म) गाड़ी, इक्का, बग्घी आदि वाहन बनाने और बेचने का धन्धा कर आजीविका चलाना।

(४) भाड़ी कम्मे (भाटक कर्म)–भाड़ा कमाने के लिये गाड़ी आदि से दूसरे के सामान को ढोना, ऊंट–घोड़े बैल आदि पशुओं को किराये पर देकर आजीविका चलाना।

(५) फोडी कम्मे-(स्फोटन कर्म) भूमि (खान आदि) फोड़ना और उसमें से निकले हुए पत्थर मिट्टी धातु आदि पदार्थों को बेच कर आजीविका चलाना।

(६) दन्त वाणिज्जे-(दन्तवाणिज्य) हाथी दांत, शंख आदि का व्यापार करना अर्थात् हाथी दांत आदि निकालने वालों को पेशगी रकम या आर्डर देकर उन्हें निकलवाना और उन्हें बेच कर आजीविका चलाना।

(७) लक्ख वाणिज्जे-(लाक्षावाणिज्य) लाख चपड़ी (यह एक प्रकार का वृक्षों का रस-मद है) का व्यापार करना-जिन वस्तुओं के तैयार करने में त्रस जीवों की हिंसा हो उनका धन्धा करना।

(८) रसवाणिज्जे-(रसवाणिज्य) मदिरा आदि बनाने तथा बेचने का काम करना।

(९) केसवाणिज्जे-(केशवाणिज्य) दासी, दास या पशु आदि को लेकर दूसरी जगह बेच कर आजीविका करना।

(१०) विसवाणिज्जे-(विषवाणिज्य) संखिया आदि विषैले पदार्थों का व्यापार करना। जीव नाशक पदार्थों की गणना विष में है-जिन के खाने या सूंघने से मृत्यु हो जाती है।

(११) जंतपीलण कम्मे-(यन्त्रपीड़नकर्म) तिल, ईख आदि पेरने के यन्त्र कल (कोल्हू घाणी आदि) चलाने का धन्धा करना।

(१२) निल्लंछण कम्मे-(निर्लाञ्छनकर्म) बैल तथा घोड़े आदि को नपुंसक बनाने का धन्धा करना।

(१३) दवग्गिदावणिया-(दवाग्निदापनता) जंगल आदि में आग लगाना।

(१४) सरदहतलायसोसणया -(सरोद्रहतडागशोषणता) झील, कुण्ड, तालाब आदि को सुखाना ।

(१५) असई जण पोसणया-(असतीजनपोषणता) आजीविका निमित्त दुश्चरित्र स्त्रियों एवं शिकारी प्राणियों का पोषण करना ।

नोट-रेशम बनाने का धन्धा भी लाख वाणिज्य में आ जाता है ।

(प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ-सेठिया जैन ग्रंथालय, बीकानेर से उद्धृत)

(उपासकदशाङ्ग अध्य० १ सू० ७ टी.)

(भगवती शतक ८ उ. ५ सू० ३३ टी.)

(हरिभद्रीयावश्यक अध्य० ६ पृ० ८२८)

सोलहवाँ बोल संग्रह

८६१– दशवैकालिक सूत्र द्वितीय चूलिका की सोलह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र में दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। पहली चूलिका में १८ गाथाएं हैं। उनमें धर्म में स्थिर होने का मार्ग बताया गया है। दूसरी चूलिका का नाम विविक्तचर्या है। इस में सोलह गाथाएं हैं और साधु के लिए विहार आदि का उपदेश दिया गया है। गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है–

(१) केवली द्वारा भाषित श्रुत स्वरूप चूलिका को कहूँगा, जिसे सुन कर धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

(२) जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है तो वह नदी के वेग के साथ समुद्र की ओर बहने लगता है इसी प्रकार ना जीव विषय रूपी नदी के प्रवाह में पड़ हुए हैं वे संसार समुद्र की ओर बहे जा रहे हैं। जो जीव संसार सागर से विमुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखते हैं उन्हें विषय रूपी प्रवाह से हट कर अपने को संयम रूपी सुरक्षित स्थान में स्थापित करना चाहिए।

(३) जिस प्रकार काठ नदी में अनुस्रोत (बहाव के अनुसार) बिना किसी कठिनाई के सरलता पूर्वक चला जाता है किन्तु प्रतिस्रोत (बहाव के विपरीत) चलने में कठिनाई होती है उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वाभाविक रूप से अनुस्रोत अर्थात् विषय भोगों की ओर बढ़े चले जाते हैं। प्रतिस्रोत अर्थात् विषय भोगों से विमुख होकर संयम की ओर बढ़ना बहुत कठिन है। सांसारिक कार्यों के लिए बड़े २ वीर कहलाने वाले व्यक्ति भी संयम के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।

नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं इस लिए नदी में अनुस्रोत बहती हुई वस्तु समुद्र में जा पहुँचती है। इसी को अनुस्रोत गति कहते हैं। इसी प्रकार विषय भोग रूपी नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ जीव संसार समुद्र में जा पहुँचता है। इस लिए विषय भोगों की ओर जाने को अनुस्रोत कहा है। उनके विरुद्ध संयम या दीक्षा की ओर प्रवृत्त होना प्रतिस्रोत है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(४) जो साधु ज्ञानादि आचारों में पराक्रम करता है तथा इन्द्रिय जय रूप संयम का धर्ता है अर्थात् चित्त की अव्याकुलता रूप समाधि वाला है उसे योग्य है कि वह अनियतवास आदि रूप चर्या, मूल गुण, उत्तर गुण, पिंडविशुद्धि आदि शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार आचरण करे, अर्थात् शास्त्र में जिस समय जो जो क्रियाएं करने के लिए जैसा विधान किया गया है उसी के अनुसार आचरण करे।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई चारित्र की आराधना मोक्ष रूप फल देने वाली होती है।

(५) इस गाथा में साधु की विहार चर्या का स्वरूप बताया गया है। नीचे लिखी सात बातें साधुओं के लिए आचरणीय और प्रशस्त अर्थात् कल्याणकारी मानी गई हैं—

(क) अनियतवास— बिना किसी विशेष कारण के एक ही स्थान पर अधिक न ठहरना-अनियतवास है। एक ही स्थान पर अधिक दिन ठहरने से स्थान में ममत्व हो जाने की सम्भावना है।

(ख) समुदानचर्या— अनेक घरों से गोचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करना समुदानचर्या है। एक ही घर से भिक्षा लेने में दोष लगने की सम्भावना है।

(ग) अज्ञात— हमेशा नए घरों से भिक्षा तथा उपकरण लेने चाहिए। एक ही घर से सदा भिक्षा आदि लेने में आधाकर्म आदि

ाप लगने की सम्भावना है।

(घ) उञ्छ– मधुकरी या गोचरी वृत्ति के अनुसार प्रत्येक घर से थोड़ा थोड़ा आहार तथा दूसरी वस्तुएं लेना।

(ङ) प्रतिरिक्त– भीड़ रहित एकान्त स्थान में ठहरना। भीड़ भड़क्के वाले स्थान में कोलाहल होने से चित्त स्थिर नहीं रहता।

(च) अल्पोपधि–उपधि अर्थात् भण्डोपकरण आदि धर्म साधन थोड़े रखना। वस्त्र, पात्रादि उपकरण अधिक होने से ममत्व हो जाता है और संयम की विराधना होने का डर रहता है।

(छ) कलहविवर्जना– किसी के साथ कलह न करना।

मुनियों के लिए उपरोक्त विहारचर्या प्रशस्त मानी गई है।

(६) इस गाथा में भी साधुचर्या का वर्णन है।

(क) राजकुल आदि में या जहाँ कोई बड़ा भोज हो रहा हो, आने जाने का मार्ग लोगों से भरा हो, ऐसे स्थान में साधु को भिक्षा के लिए न जाना चाहिए। वहाँ स्त्री तथा सचित्त वस्तु आदि का संघट्टा हो जाने की सम्भावना है तथा भीड़ भड़क्के से धक्का लग जाने से गिर जाने आदि का डर भी है, इस लिए साधु को ऐसे स्थान में न जाना चाहिए।

(ख) स्वपक्ष या परपक्ष की ओर से अपना अपमान हो रहा हो तो उसे शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिए। क्रोध न करके समभाव धारण करना चाहिए।

(ग) उपयोग पूर्वक शुद्ध आहार पानी ग्रहण करना चाहिए।

(घ) हाथ या कड़छी आदि के किसी अचित्त द्रव्य द्वारा संसृष्ट (खरड़े हुए) होने पर ही उनसे आहार पानी लेना चाहिए नहीं तो पुरःकर्म दोष की सम्भावना है। भिक्षा देने के लिए हाथ या कड़छी आदि को सचित्त पानी से धोना पुरःकर्म कहलाता है। यदि हाथ वगैरह पहले से ही शाक वगैरह से संसृष्ट अर्थात् भरे हुए हों तो

उनसे वही वस्तु परोसने में धोने की आवश्यकता नहीं रहती इस लिए वहाँ पुरःकर्म दोष की सम्भावना नहीं है।

(६) जिस पदार्थ के लेने की इच्छा हो यदि उसी से हाथ या परोसने का वर्तन संसृष्ट हो तभी उसे लेना चाहिए।

(७) मोक्षार्थी को मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करना चाहिए। किसी से ईर्ष्या न करनी चाहिए। पौष्टिक पदार्थों का अधिक सेवन न करना चाहिए। प्रतिदिन वार बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग में आत्मचिन्तन और धर्मध्यान करने से आत्मा निर्मल होती है। सदा वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय में लगे रहना चाहिए। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है और चित्त में स्थिरता आती है।

(८) विहार करते समय साधु श्रावकों से शयन, आसन, निषद्या, भक्त, पानी आदि किसी भी वस्तु के लिए प्रतिज्ञा न करावे अर्थात् किसी भी वस्तु के लिए यह न कहे कि अमुक वस्तु लौटने पर मुझे वापिस दे देना और किसी को मत देना इत्यादि। गाँव, कुल, नगर या देश किसी भी वस्तु में साधु को ममत्व न करना चाहिए।

(९) मुनि गृहस्थों का वैयावच्च, अभिवादन, वन्दन, पूजन तथा सत्कार आदि न करे। ऐसे संक्लेश रहित साधुओं के संसर्ग में रहे जिन के साथ रहने में संयम की विराधना न हो।

(१०) यदि अपने से अधिक या बराबर गुणों वाला तथा संयम में निपुण कोई साधु न मिले तो मुनि पाप रहित तथा विषयों में अनासक्त होता हुआ अकेला ही विचरे किन्तु शिथिलाचारी और पासत्थों के साथ न रहे।

(११) एक स्थान पर चतुर्मास में चार महीने और दूसरे समय में उत्कृष्ट एक महीना रहने का शास्त्र में विधान है। जिस स्थान पर एक बार मासकल्प या चतुर्मास करे, दो या तीन चतुर्मास

अथवा मासकल्प दूसरी जगह बिना किए फिर उसी स्थान पर मासकल्प आदि करना नहीं कल्पता अर्थात् साधु जिस स्थान पर जितने समय रहे उससे दुगुना समय दूसरी जगह बिताने के बाद ही फिर पूर्वस्थान पर निवास कर सकता है। जिस स्थान पर चतुर्मास करे, दो चतुर्मास दूसरी जगह करने के बाद ही फिर उस स्थान पर चतुर्मास कर सकता है। इसी प्रकार जहाँ मासकल्प करे उसी जगह फिर मासकल्प दो महीनों के बाद ही कल्पता है।

इस लिए साधु को एक स्थान पर चतुर्मास या मासकल्प के बाद फिर उसी जगह चतुर्मास या मासकल्प नहीं करना चाहिए। साधु को शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार चलना चाहिए। शास्त्र में जैसी आज्ञा है वैसा ही करना चाहिए।

(१२) जो साधु रात्रि के पहले तथा पिछले पहर में आत्म चिन्तन करता है और विचारता है, मैंने क्या कर लिया है, क्या करना बाकी है और ऐसी कौनसी बात है जिस में कर सकता हूँ फिर भी नहीं कर रहा हूँ, वही साधु श्रेष्ठ होता है।

(१३) आत्मार्थी साधु शान्त चित्त से विचार करे- जब मेरे से कोई भूल हो जाती है तो दूसरे लोग क्या सोचते हैं। मेरी आत्मा स्वयं उस समय क्या कहती है। मेरे से भूल होना क्यों नहीं छूटता है इस प्रकार सम्यक् विचार करता हुआ साधु भविष्य में दोषों से छुटकारा पा जाता है।

(१४) साधु जब कभी मन, वचन या काया को पाप की ओर झुकता हुआ देखे तो शीघ्र ही खींच कर सन्मार्ग में लगादे, जैसे लगाम खींचकर कुमार्ग में चलते हुए घोड़े को सन्मार्ग में चलाया जाता है।

(१५) जिसने चंचल इन्द्रियों को जीत लिया है। जो संयम में पूरे धैर्य वाला है। मन, वचन और काया रूप तीनों योग जिस के वश में हैं, ऐसे सत्पुरुष को प्रतिबुद्धजीवी (सदा जागता रहने वाला)

कहा जाता है, क्योंकि वह अपने जीवन को संयम में बिताता है।

(१६) सब इन्द्रियों को वश में रख कर समाधि पूर्वक आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं है वह जाति-पथ अर्थात् जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त होती है और सुरक्षित अर्थात् पापों से बचाई हुई आत्मा सब दुःखों का अन्त करके मोक्ष रूप सुख को प्राप्त होती है। (दशवैकालिक सूत्र २ चूलिका)

८६२—सभिक्खु अध्ययन की सोलह गाथाएं

संसार में पतन के निमित्त बहुत हैं, इस लिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। जिस प्रकार साधु को वस्त्र, पात्र, आहार आदि आवश्यक वस्तुओं में संयम की रक्षा का ध्यान रखना आवश्य है उसी प्रकार मान प्रतिष्ठा की लालसा को रोकना भी साधु के लिए परमावश्यक है। त्यागी जीवन के लिए जो विद्याएं उपयोगी न हों, उनके सीखने में अपने समय का दुरुपयोग न करना चाहिए। तपश्चर्या और सहिष्णुता ये आत्मविकास के मुख्य साधन है। इनका कथन उत्तराध्ययन सूत्र के 'सभिक्खु' नामक पन्द्रहवें अध्ययन की १६ गाथाओं में विस्तार के साथ किया गया है। उन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः यहाँ दिया जाता है—

(१) विवेक पूर्वक सच्चे धर्म का पालन करने वाला, कामभोगों से विरक्त, अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों में आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरो से भिक्षावृत्ति करके आनन्द पूर्वक संयम धर्म का पालन करने वाला ही सच्चा भिक्षु (साधु) है।

(२) राग से निवृत्त, पतन एवं असंयम से अपनी आत्मा को बचाने वाला, परीषह और उपसर्गों को सहन कर समस्त जीवों को आत्मतुल्य जानने वाला और किसी भी वस्तु में मूर्च्छित न होने वाला ही भिक्षु (साधु) है।

(३) यदि कोई पुरुष साधु को कठोर वचन कहे या मार पीट तो उसे अपने पूर्वसंचित कर्मों का फल जान कर समभाव पूर्वक सहन करे, अपनी आत्मा को वश में रख कर चित्त में किसी प्रकार की व्याकुलता न लाते हुए संयम मार्ग में आने वाले कष्टों को जो समभाव पूर्वक सह लेता है वही भिक्षु (साधु) कहलाता है।

(४) जो अल्प तथा जीर्ण शय्या आदि से सन्तुष्ट रहता है, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों को जो समभाव से सहन कर लेता है वही भिक्षु है।

(५) जो सत्कार या पूजा आदि की लालसा नहीं रखता, यदि कोई उसे प्रणाम करे अथवा उसके गुणों की प्रशंसा करे तो भी मन में अभिमान नहीं लाता, क्षमा संयमी, सदाचारी, तपस्वी, ज्ञानवान्, क्रियावान् और आत्मशोधक पुरुष ही सच्चा भिक्षु है।

(६) संयम जीवन के बाधक पापों का त्यागी, दूसरे की गुप्त बात को प्रकाशित न करने वाला, मोह और राग को उत्पन्न करने वाले सांसारिक बन्धनों में न फंसने वाला और तपस्वी जीवन बिताने वाला ही सच्चा भिक्षु है।

(७) नाक, कान आदि छेदन की क्रिया, रागविद्या, भूगोल विद्या, खगोल विद्या (ग्रह नक्षत्र देख कर शुभाशुभ बतलाना), स्वप्नविद्या (स्वप्नों का फल बतलाना), सामुद्रिक शास्त्र (शरीर के लक्षणों द्वारा सुख दुःख बतलाना), अंगस्फुरण विद्या, दण्डविद्या, भूगर्भविद्या (जमीन में गड़े हुए धन को जानने की विद्या), पशु, पक्षियों की बोली जानना आदि कुत्सित विद्याओं द्वारा जो अपना संयमी जीवन दूषित नहीं बनाता वही सच्चा भिक्षु है।

(८) मन्त्र प्रयोग करना, जड़ी बूटी तथा अनेक प्रकार के वैद्यक उपचारों को सीख कर काम में लाना, जुलाब देना, वमन कराना, अञ्जन बनाना, रोग आने पर स्नान करना आदि क्रियाएं

योगियों के लिए योग्य नहीं है इस लिए जो इनका त्याग करता है वही सच्चा भिक्षु है।

(९) जो साधु क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण आदि की भिन्न भिन्न प्रकार की वीरता तथा शिल्प कला आदि की पूजा या झूठी प्रशंसा करके संयमी जीवन को कलुषित नहीं करता वही सच्चा भिक्षु है।

(१०) गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा मुनि होने के बाद जिन जिन गृहस्थों से परिचय हुआ हो उनमें से किसी के भी साथ ऐहिक सुख के लिए जो सम्बन्ध नहीं जोड़ता वही सच्चा भिक्षु है। मुनि का सब के साथ केवल पारमार्थिक भाव से ही सम्बन्ध होना चाहिए।

(११) साधु के लिए आवश्यक शय्या (घास फूस आदि), पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर में मौजूद हों किन्तु मुनि द्वारा उन पदार्थों की याचना करने पर यदि वह न दे तो उसको जरा भी द्वेष युक्त वचन न कहे और न मन में बुरा ही माने वही सच्चा भिक्षु है क्योंकि मुनि को मान और अपमान दोनो मे समान भाव रखना चाहिये।

(१२) जो अनेक प्रकार के आहार, पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थ गृहस्थो से प्राप्त हुए है उनको पहले अपने साथी साधुओं में बाँट कर पीछे स्वयं आहार आदि करता है तथा अपने मन, वचन, काया को जो वश में रखता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१३) गृहस्थ के घर से ओसामण, पतली दाल, जौ का दलिया, ठंडा भोजन, जौ या कांजी का पानी आदि आहार प्राप्त कर, जो उसकी निन्दा नहीं करता तथा सामान्य स्थिति के घरों मे भी जाकर जो भिक्षावृत्ति करता है वही साधु है क्योंकि साधु को अपने संयमी जीवन के निर्वाह के लिए ही आहारादि ग्रहण करने चाहिये, जिह्वा की लोलुपता शांत करने के लिए नहीं।

(१४) लोक में देव, मनुष्य और पशुओ के अनेक प्रकार के

अत्यन्त भयंकर तथा द्वेषोत्पादक शब्द होते हैं उन्हें सुन कर जो नहीं डरता या विकार को प्राप्त नहीं होता वही सच्चा भिक्षु है।

(१५) लोक में प्रचलित भिन्न भिन्न प्रकार के वादों (तन्त्रादि शास्त्रों) को समझ कर जो अपने आत्मधर्म में स्थिर रहता हुआ संयम में दत्तचित्त रहता है, सब परीषहों को जीत कर समस्त जीवों पर आत्मभाव रखता हुआ कषायों पर विजय प्राप्त करता है तथा किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१६) जो शिल्प विद्या द्वारा अपना जीवन निर्वाह न करता हो, जितेन्द्रिय, आन्तरिक तथा बाह्य बन्धनों से मुक्त, अल्प कषाय वाला थोड़ा (परिमित) भोजन करने वाला, सांसारिक बन्धनों को छोड़ कर राग द्वेष रहित विचरने वाला ही सच्चा भिक्षु है।

(उत्तराध्ययन १५ वां स भिक्खु अध्ययन)

८६२– बहुश्रुत साधु की सोलह उपमाएं

निरभिमानी, निर्लोभी संयम मार्ग में सावधान, विनयवान्, बहुत शास्त्रों के ज्ञाता साधु को बहुश्रुत कहते हैं। बहुश्रुत साधु को सोलह उपमाएं दी गई हैं–

(१) जिस तरह शंख में रखा हुआ दूध दो तरह से शोभित होता है अर्थात् दूध भी सफेद होता है और शंख भी सफेद होता है, अत शंख में रखा हुआ दूध देखने में सौम्य लगता है और वह उसमें कभी नहीं बिगड़ता। उसी तरह ज्ञानी साधु धर्म कीर्ति तथा शास्त्र इन दोनों द्वारा शोभित होता है। अर्थात् ज्ञान स्वयं सुन्दर है और धारण करने वाले ज्ञानी का आचरण जब शास्त्रानुकूल हो तब उसकी आत्मा की उन्नति होती है और धर्म की भी कीर्ति बढ़ती है इस तरह ज्ञान और ज्ञानी दोनों शोभित होते हैं।

(२) जिस प्रकार कंबोज देश के घोड़ों में आकीर्ण जाति का घोड़ा सब प्रकार की गति (चाल) में प्रवीण, कुलवन्

और अति वेगवान् होने से उत्तम माना जाता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी भी उत्तम माना जाता है।

(३) जैसे आकीर्ण जाति के उत्तम घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रमी, शूरवीर पुरुष जब संग्राम में जाता है तब दोनों प्रकार से शोभित होता है अर्थात् आगे और पीछे से, बांई तरफ से और दाहिनी तरफ से अथवा वृद्ध पुरुषों द्वारा कहे गये आशीर्वाद रूप वचनों से और बन्दी जनों द्वारा कहे गये स्तुति रूप वचनों से तथा संग्राम के लिये बजाये जाने वाले बाजों के शब्दों से वह शूरवीर पुरुष शोभित होता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी दोनों प्रकार से अर्थात् आन्तरिक शान्ति और बाह्य आचरण से शोभित होता है अथवा दिन और रात के दोनों समय में की जाने वाली स्वाध्याय के घोष (ध्वनि) से बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है अथवा स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों द्वारा 'यह बहुश्रुत ज्ञानी बहुत काल तक जीवित रहे जिससे प्रवचन की बहुत प्रभावना हो' इस प्रकार कहे जाने वाले आशीर्वादों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है।

(४) जिस प्रकार अनेक हथिनियों से सुरक्षित ६० वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ बलवान् हाथी दूसरों से पराभूत नहीं हो सकता उसी प्रकार परिपक्व बुद्धि वाला बहुश्रुत ज्ञानी विचार एवं विवाद के अवसर पर किसी से अभिभूत नहीं होता।

(५) जैसे तीक्ष्ण सींगो वाला और अच्छी तरह भरी हुई ककुद् वाला तथा पुष्ट अंग वाला सांड पशुओं के टोले में शोभित होता है वैसे ही नैगमादि नय रूप तीक्ष्ण शृङ्गों से परपक्ष को भेदन करने वाला और प्रतिभादि गुणों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी साधुओं के समूह में शोभित होता है।

(६) जिस प्रकार अति उग्र तथा तीक्ष्ण दांतों वाला पराक्रमी सिंह किसी से भी पराभूत नहीं होता वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी

किसी से भी पराजित नहीं होता ।

(७) जिस प्रकार पाञ्चजन्य शंख, सुदर्शन चक्र और कौमुदी गदा से युक्त वासुदेव सदा ही अप्रतिहत और अखण्ड बलशाली होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञानी भी अहिंसा, संयम और तप से शोभित होता है ।

(८) जैसे हाथी, घोड़ा, रथ और प्यादे वाली चतुरंगिनी सेना से समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला, चारों दिशाओं का जय करने वाला, नवनिधि, चौदह रत्न और छः खण्ड पृथ्वी का अधिपति, महान् ऋद्धि का धारक, सब राजाओं में श्रेष्ठ चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही चार गतियों का अन्त करने वाला तथा चौदह विद्या रूपी लब्धियों का स्वामी बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(९) जैसे एक हजार नेत्रों वाला, हाथ में वज्र धारण करने वाला, महाशक्तिशाली, पुर नामक दैत्य का नाश करने वाला, देवों का अधिपति इन्द्र शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञान रूपी सहस्र नेत्रों वाला, क्षमा रूपी वज्र को धारण करने वाला और मोह रूपी दैत्य का नाश करने वाला, बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है ।

(१०) जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला, उगता हुआ सूर्य तेज से देदीप्यमान होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार आत्मज्ञान के तेज से दीप्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है।

(११) जैसे नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा, ग्रह तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण शोभा से प्रकाशित होता है वैसे ही आत्मिक शीतलता से बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है।

(१२) जिस प्रकार विविध धान्यों से परिपूर्ण सुरक्षित भण्डार शोभित होता है उसी तरह अङ्ग, उपाङ्ग रूप शास्त्र ज्ञान से पूर्ण बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है ।

(१३) जैसे जम्बूद्वीप के अधिपति अनादृत नामक देव का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में शोभित होता है वैसे ही सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(१४) नीलवान् पर्वत से निकल कर सागर में मिलने वाली सीता नाम की नदी जिस प्रकार सब नदियों में श्रेष्ठ है उसी प्रकार सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी श्रेष्ठ है।

(१५) जिस प्रकार सब पर्वतों में ऊंचा, सुन्दर और अनेक औषधियों से शोभित मेरु पर्वत उत्तम है उसी प्रकार आमर्षौषधि आदि लब्धियों से युक्त अनेक गुणों से अलंकृत बहुश्रुत ज्ञानी भी सब साधुओं में उत्तम है।

(१६) जैसे अक्षय उदक (जिसका जल कभी नहीं सूखता) स्वयम्भूरमण नामक समुद्र नाना प्रकार की मरकत आदि मणियों से परिपूर्ण है वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी सम्यग् ज्ञान रूपी अक्षय जल से परिपूर्ण और अतिशयवान् होता है। इसलिये वह सब साधुओं में उत्तम और श्रेष्ठ है।

उपरोक्त गुणों से युक्त, समुद्र के समान गम्भीर, परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करने वाला, कामभोगों में अनासक्त, श्रुत से परिपूर्ण तथा समस्त प्राणियों का रक्षक महापुरुष बहुश्रुत ज्ञानी शीघ्र ही कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है।

ज्ञान अमृत है। वह शास्त्रों द्वारा, सत्संग द्वारा और महापुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त होता है, अतः मोक्षाभिलाषी प्रत्येक प्राणी को श्रुत (ज्ञान) प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गाथा १५ से ३२)

८६४– दीक्षार्थी के सोलह गुण

गृहस्थ पर्याय छोड़ कर पाँच महाव्रत रूप संयम अंगीकार करने को दीक्षा कहते हैं। दीक्षा अर्थात् मुनिव्रत अंगीकार करने वाले

में नीचे लिखे सोलह गुण होने चाहिए।

(१) आर्यदेशसमुत्पन्न–जिन देशों में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि उत्तम पुरुष होते हैं उन्हें आर्य देश कहते हैं। धर्मभावना भी आर्यदेश में ही होती है, इस लिए दीक्षा अङ्गीकार करके संयम का पालन वही कर सकता है जो आर्यदेशों में उत्पन्न हुआ हो। जैसे मरुस्थल में कल्पवृक्ष नहीं लग सकता, वैसे ही अनार्य देश में उत्पन्न व्यक्ति धर्म में सच्ची श्रद्धा वाला नहीं हो सकता, अतः दीक्षार्थी का पहला गुण यह है कि उसकी उत्पत्ति आर्यदेश में हुई हो।

(२) शुद्धजातिकुलान्वित– जिसका जाति अर्थात् मातृपक्ष और कुल अर्थात् पितृपक्ष दोनों शुद्ध हों। शुद्ध जाति और कुल वाला संयम का निर्दोष पालन करता है। किसी प्रकार की भूल होने पर भी कुलीन होने के कारण रथनेमि की तरह सुधार लेता है।

(३) क्षीणप्रायाशुभकर्मा–जिसके अशुभ अर्थात् चारित्र में बाधा डालने वाले कर्म क्षीण अर्थात् नष्ट हो गए हों। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षय, क्षयोपशम या उपदेश हुए बिना कोई भाव चारित्र अङ्गीकार नहीं कर सकता। ऊपर से दीक्षा ले लेने पर भी शुद्ध संयम का पालन करना उसके लिए असम्भव है।

(४) विशुद्धधी– अशुद्ध कर्मों के दूर हो जाने से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई हो। निर्मल बुद्धि वाला धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर उसका शुद्ध पालन करता है।

(५) विज्ञातसंसारनैर्गुण्य– जिस व्यक्ति ने संसार की निर्गुणता अर्थात् व्यर्थता को जान लिया हो। मनुष्य जन्म दुर्लभ है, जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, धन सम्पत्ति चञ्चल है, सांसारिक विषय दुःख के कारण हैं,

जिनका संयोग होता है उनका वियोग भी अवश्य होता है, प्राणियों की मृत्यु प्रति क्षण होती रहती है। कहा भी है—

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे वसत्यै नरवीर! लोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति॥

अर्थात्— महर्षि व्यास युधिष्ठिर को कह रहे हैं— हे नरवीर! प्राणी पहले पहल जिस रात को गर्भ में बसने के लिए आता है उसी रात से वह दिन रात प्रयाण करता हुआ मृत्यु के समीप जा रहा है।

मृत्यु का फल बहुत ही दारुण अर्थात् भयङ्कर होता है क्योंकि उस समय सब तरह की चेष्टाएं अर्थात् हलन चलन बन्द हो जाती हैं और जीव सभी प्रकार से असमर्थ तथा लाचार हो जाता है।

इस प्रकार संसार के स्वभाव को जानने वाला व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी होता है।

(६) विरक्त—जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो गया हो क्योंकि सांसारिक विषयभोगों में फंसा हुआ व्यक्ति उन्हें नहीं छोड़ सकता।

(७) मन्दकषायभाक्—जिस व्यक्ति के क्रोध, मान, आदि चारों कषाय मन्द हो गये हों। स्वयं अल्प कषाय वाला होने के कारण वह अपने और दूसरे के कषाय आदि को शान्त कर सकता है।

(८) अल्प हास्यादि विकृति— जिसके हास्यादि नोकषाय कम हों। अधिक हँसना आदि गृहस्थों के लिए भी निषिद्ध है।

(९) कृतज्ञ— जो दूसरे द्वारा किए हुए उपकार को मानने वाला हो। कृतघ्न व्यक्ति लोक में निन्दा प्राप्त करता है इस लिए भी वह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१०) विनयविनीत— दीक्षार्थी विनयवान् होना चाहिए क्योंकि विनय ही धर्म का मूल है।

(११) राजसम्मत— दीक्षार्थी राजा, मन्त्री आदि के सम्मत अर्थात् अनुकूल होना चाहिए। राजा आदि से विरोध करने वाले

का दीक्षा देने से अयश होने की सम्भावना रहती है।

(१२) अद्रोही- जो भगड़ालू तथा ठग, धूर्त न हो।

(१३) सुन्दराङ्गभृत्- सुन्दर शरीर वाला हो अर्थात् उस का कोई अंग हीन या गया हुआ न होना चाहिए। अपाङ्ग या नष्ट अवयव वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१४) श्राद्ध- श्रद्धा वाला। दीक्षित भी यदि श्रद्धा रहित हो तो अङ्गारमर्दक के समान वह त्यागने योग्य हो जाता है।

(१५) स्थिर- जो अङ्गीकार किए हुए व्रत में स्थिर रहे। प्रारम्भ किए हुए कार्य को बीच में छोड़ने वाला न हो।

(१६) समुपसम्पन्न- पूर्वोक्त गुणों वाला होकर भी जो दीक्षा लेने के लिए पूरी इच्छा से गुरु के पास आया हो।

उपरोक्त सोलह गुणों वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

(धर्म संग्रह अधिकार ३ श्लोक ७३-७८ पृष्ठ १)

८६५- गवेषणा (उद्गम) के १६ दोष-

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहड उब्भिन्न मालोहड इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥२॥

(१) आधाकर्म- किसी खास साधु को मन में रख कर उस के निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त को पकाना आधाकर्म कहलाता है। यह दोष चार प्रकार से लगता है। प्रतिसेवन- आधाकर्मी आहार का सेवन करना। प्रतिश्रवण- आधाकर्मी आहार के लिए निमन्त्रण स्वीकार करना। संवसन- आधाकर्मी आहार भोगने वालों के साथ रहना। अनुमोदन- आधाकर्मी आहार भोगने वालों की प्रशंसा करना।

(२) औद्देशिक- सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से जो

आहारादि तैयार किये जाते हैं,उन्हें औद्देशिक कहते हैं। इनके दो भेद हैं– ओघ और विभाग। भिक्षुकों के लिये अलग तैयार न करते हुए अपने लिए बनते हुए आहारादि में ही कुछ और मिला देना ओघ है। विवाहादि में याचकों के लिए अलग निकाल कर रख छोड़ना विभाग है। यह उद्दिष्ट,कृत और कर्म के भेद से तीन प्रकार का है। फिर प्रत्येक के उद्देश,समुद्देश,आदेश और समादेश इस तरह चार २ भेद हैं। इन सब की विस्तृत व्याख्या नीचे लिखे हुए ग्रन्थों से जाननी चाहिए। किसी खास साधु के लिए बनाया गया आहार अगर वही साधु ले तो आधाकर्म, दूसरा ले तो औद्देशिक है। आधाकर्म पहिले से ही किसी खास निमित्त से बनाया जाता है। औद्देशिक साधारण दान के लिए पहिले या बाद में कल्पित किया जाता है।

(३) पूतिकर्म– शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाना पूतिकर्म है। आधाकर्मी आहार का थोड़ा सा अंश भी शुद्ध और निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। शुद्ध चारित्र पालने वाले संयमी के लिये वह अकल्पनीय है। जिसमें ऐसे आहार का अंश लगा हो ऐसे बर्तन को भी टालना चाहिए।

(४) मिश्रजात– अपने और साधु के लिये एक साथ पकाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है। इसके तीन भेद हैं– यावदर्थिक, पाखंडिमिश्र और साधुमिश्र। जो आहार अपने लिये और सभी याचकों के लिए इकट्ठा बनाया जाय वह यावदर्थिक है। जो अपने और साधु सन्यासियों के लिए इकट्ठा बनाया जाय वह पाखण्डिमिश्र है। जो सिर्फ अपने और साधुओं के लिये इकट्ठा किया जाय वह साधुमिश्र है।

(५) स्थापन– साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिए आहार को अलग रख देना स्थापन है।

(६) प्राभृतिका–साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिये जीमनवार या निमन्त्रण के समय को आगे पीछे करना।

(७) प्रादुष्करण–देय वस्तु के अन्धेरे में होने पर अग्नि, दीपक आदि का उजाला करके या खिड़की वगैरह खोल कर वस्तु को प्रकाश में लाना अथवा आहारादि को अन्धेरी जगह से प्रकाश वाली जगह में लाना प्रादुष्करण है।

(८) क्रीत–साधु के लिये मोल लिया हुआ आहारादि क्रीत है।

(९) प्रामित्य (पामिच्च)–साधु के लिये उधार लिया हुआ आहारादि प्रामित्य कहलाता है।

(१०) परिवर्तित–साधु के लिए अट्टा सट्टा करके लिया हुआ आहार परिवर्तित कहलाता है।

(११) अभिहृत (अभिहड)– साधु के लिये गृहस्थ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार।

(१२) उद्भिन्न–साधु को घी वगैरह देने के लिये कुप्पी आदि का मुँह (छान्दण) खोल कर देना।

(१३) मालापहृत– ऊपर नीचे या तिरछी दिशा में जहाँ आसानी से हाथ न पहुँच सके वहाँ पैर ऊँचे करके या निसरणी आदि लगा कर आहार देना। इसके चार भेद हैं–ऊर्ध्व, अधः, उभय और तिर्यक्। इनमें से भी हर एक के जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम रूप तीन २ भेद हैं। एडियाँ उठा कर हाथ फैलाते हुए छत में टंगे छींके वगैरह से कुछ निकालना जघन्य ऊर्ध्व मालापहृत है। सीढ़ी वगैरह लगा कर ऊपर की मंज़िल से उतारी गई वस्तु उत्कृष्ट मालापहृत है। इनके बीच की वस्तु मध्यम है। इसी तरह अधः, उभय और तिर्यक् के भेद भी जानने चाहिये।

(१४) आच्छेद्य– निर्बल व्यक्ति या अपने आश्रित रहने वाले नौकर चाकर और पुत्र वगैरह से छीन कर साधुओं को

देना। इसके तीन भेद हैं–स्वामिविषयक, प्रभुविषयक और स्तेनविषयक। ग्राम मालिक स्वामी और अपने घर का मालिक प्रभु कहलाता है। चोर और लुटेरे को स्तेन कहते हैं। इन में से कोई किसी से कुछ छीन कर साधुजी को दे तो क्रमशः तीन दोष लगते हैं।

(१५) अनिसृष्ट–किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सब की इच्छा के बिना देना अनिसृष्ट है।

(१६) अध्यवपूरक–साधुओं का आगमन सुन कर आधण में अधिक डाल देना अर्थात् अपने लिये बनते हुए भोजन में साधुओं का आगमन सुन कर उनके निमित्त से और मिला देना।

नोट–उद्गम के सोलह दोषों का निमित्त गृहस्थ अर्थात् देने वाला होता है। (प्रवचन सारोद्धार द्वार ६७ गाथा ५६५, ५६६) (धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक २ पृ. ३८) (पिंडनिर्युक्ति गाथा ९२, ९३) (पंचाशक १३ वाँ गाथा ५, ६) (पिण्डविशुद्धि गा, ३-४)

८६६– गवेषणा (उत्पादना) के १६ दोष

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए॥ १॥
पुव्विंपच्छासंथव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य॥ २॥

(१) धात्री–बच्चे को खिलाना पिलाना आदि धाय का काम करके या किसी घर में धाय की नौकरी लगवा कर आहार लेना।

(२) दूती– एक दूसरे का सन्देशा गुप्त या प्रकट रूप से पहुँचा कर दूत का काम करके आहारादि लेना।

(३) निमित्त– भूत और भविष्यत् को जानने के शुभाशुभ निमित्त बतलाकर आहारादि लेना।

(४) आजीव–स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अपनी जाति और कुल आदि प्रकट करके आहारादि लेना।

(५) वनीपक–श्रमण, शाक्य सन्यासी आदि में जो जिसका भक्त हो उसके सामने उसी की प्रशंसा करके या दीनता दिखा कर आहारादि लेना।

(६) चिकित्सा– औषधि करना या बताना आदि चिकित्सा का काम करके आहारादि ग्रहण करना।

(७) क्रोध– क्रोध करके या गृहस्थ को शापादि का भय दिखा कर भिक्षा लेना।

(८) मान– अभिमान से अपने को प्रतापी, तेजस्वी, बहुश्रुत बताते हुए अपना प्रभाव जमा कर आहारादि लेना।

(६) माया– वञ्चना या छलना करके आहारादि ग्रहण करना।

(१०) लोभ– आहार में लोभ करना अर्थात् भिक्षा के लिए जाते समय जीभ के लालच से यह निश्चय करके निकलना कि आज तो अमुक वस्तु ही खाएंगे और उसके अनायास न मिलने पर इधर उधर ढूँढना तथा दूध आदि मिल जाने पर जिह्वास्वाद के लिए चीनी आदि के लिए इधर उधर भटकना लोभपिण्ड है।

(११) पूर्वपश्चात्संस्तव (पूर्वपश्चात्संस्तव)–आहार लेने के पहले या पीछे देने वाले की प्रशंसा करना।

(१२) विद्या– स्त्रीरूप देवता से अधिष्ठित या जप, होम आदि से सिद्ध होने वाली अक्षरों की रचना विशेष को विद्या कहते हैं। विद्या का प्रयोग करके आहारादि लेना विद्यापिण्ड है।

(१३) मन्त्र– पुरुषरूप देवता के द्वारा अधिष्ठित ऐसी अक्षर रचना जो पाठ मात्र से सिद्ध हो जाय उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के प्रयोग से लिया जाने वाला आहारादि मन्त्र पिण्ड है।

(१४) चूर्ण– अदृश्य करने वाले सुरमे आदि का प्रयोग करके जो आहारादि लिए जावें उन्हें चूर्णपिण्ड कहते हैं।

(१५) योग– पाँव लेप आदि सिद्धियाँ बता कर जो आहा

मुमुक्षु का कर्तव्य है। (उत्तराध्ययन अध्ययन २८ गा. ३८-४२)

८५५-योग अथवा प्रयोगगति पन्द्रह

मन वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से मन वचन और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्म प्रदेशों में होने वाले परिस्पंद, कंपन या हलन चलन को भी योग कहते हैं। आलम्बन के भेद से इसके तीन भेद हैं-मन, वचन और काया। इनमें मन के चार। वचन के चार और काया के सात, इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं। पन्नवणा सूत्र में योग के स्थान पर प्रयोग शब्द है। इन्हीं को प्रयोगगति भी कहा जाता है-

(१) सत्य मनोयोग-मन का जो व्यापार सत् अर्थात् सज्जन-पुरुष या साधुओं के लिये हितकारी हो, उन्हें मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो उसे सत्यमनोयोग कहते हैं अथवा जीवादि पदार्थों के अनेकान्त रूप यथार्थ विचार को सत्य मनोयोग कहते हैं।

(२) असत्य मनोयोग- सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मनोयोग कहते है अथवा जीवादि पदार्थ नहीं हैं, एकान्त सत् है इत्यादि एकान्त रूप मिथ्या विचार असत्य मनोयोग है।

(३) सत्यमृषा मनोयोग- व्यवहार नय से ठीक होने पर भी निश्चय नय से जो विचार पूर्ण सत्य न हो, जैसे- किसी उपवन में धव, खैर, पलाश आदि के कुछ पेड़ होने पर भी अशोकवृक्ष अधिक होने से उसे अशोक वन कहना। वन में अशोकवृक्षों के होने से यह बात सत्य है और धव आदि के वृक्ष होने से मृषा (असत्य) भी है।

(४) असत्यामृषा मनोयोग- जो विचार सत्य नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते है। किसी प्रकार का विवाद खड़ा होने पर वीतराग सर्वज्ञ के बताए हुए

सिद्धान्त के अनुसार विचार करने वाला आराधक कहा जाता है उसका विचार सत्य है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ के सिद्धान्त से विपरीत विचरता है, जीवादि पदार्थों को एकान्त नित्य आदि बताता है वह विराधक है। उसका विचार असत्य है। जहाँ वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो केवल वस्तु का स्वरूप मात्र दिखाया जाय, जैसे-देवदत्त! घड़ा लाओ इत्यादि चिन्तन में वहाँ सत्य या असत्य कुछ नहीं होता। आराधक विराधक की कल्पना भी यहाँ नहीं होती। इस प्रकार के विचार को असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। यह भी व्यवहार नय की अपेक्षा है। निश्चय नय से तो इसका सत्य या असत्य में समावेश हो जाता है।

(५-६-७-८) ऊपर लिखे मनोयोग के अनुसार वचन योग के भी चार भेद हैं-(५) सत्य वचन योग (६) असत्य वचन योग (७) सत्यमृषा वचन योग (८) असत्यामृषा वचन योग।

काय योग के सात भेद

(६) औदारिक शरीर काय योग- काय का अर्थ है समूह। औदारिक शरीर पुद्गल स्कन्धों का समूह है, इस लिए काय है। इस में होने वाले व्यापार को औदारिक शरीर काय योग कहते हैं। यह योग पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्यों के ही होता है।

(१०) औदारिक मिश्र शरीर काय योग- वैक्रिय, आहारक और कार्मण के साथ मिले हुए औदारिक को औदारिक मिश्र कहते हैं। औदारिक मिश्र के व्यापार को औदारिक मिश्र शरीर काय योग कहते हैं।

(११) वैक्रिय शरीर काय योग- वैक्रिय शरीर पर्याप्ति के कारण पर्याप्त जीवों के होने वाला वैक्रिय शरीर का व्यापार वैक्रिय शरीर काय योग है।

(१२) वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग–देव और नारकी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में होने वाला काय योग वैक्रिय मिश्र शरीर काययोग है। यहाँ वैक्रिय और कार्मण की अपेक्षा मिश्र योग होता है।

(१३) आहारक शरीर काययोग– आहारक शरीर पर्याप्ति के द्वारा पर्याप्त जीवों को आहारक शरीर काययोग होता है।

(१४) आहारक मिश्र शरीर काययोग–जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय आहारक मिश्र शरीर काय योग होता है।

(१५) तैजस कार्मण शरीर योग–विग्रह गति में तथा सयोगी केवली को समुद्घात के तीसरे, चौथे और ५वें समय में तैजस कार्मण शरीर योग होता है। तैजस और कार्मण सदा एक साथ रहते हैं, इस लिए उन के व्यापार रूप काय योग को भी एक ही माना है।

काय योग के सात भेदों का विशेष स्वरूप इसी के दूसरे भाग के बोल नं० ५४७ में दिया गया है।

(पन्नवणा पद १६ सू. २०२) (भगवती शतक २५ उद्देशा १ सू. ७१६)

८५६– बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद

जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थ दो वस्तुओं को आपस मे जोड़ देते है उसी प्रकार जो कर्म शरीरनामकर्म के बल से वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों को पहले ग्रहण किए हुए पुद्गलों के साथ जोड़ देता है, उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके बल से औदारिक आदि शरीरो द्वारा ग्रहण होने वाले नए पुद्गल शरीर के साथ चिपक कर एकमेक हो जाते हैं।

पाँच शरीरों में औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये प्रत्येक भव में नए पैदा होते हैं इस लिए प्रथम उत्पति के समय इनका सर्वबन्ध और बाद में देशबन्ध होता है अर्थात् उसी शरीर में नए नए पुद्गल आकर चिपकते रहते हैं। तैजस और कार्मण शरीर

जीव के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं इस लिए उन दोनों का सर्वबन्ध नहीं होता, केवल देशबन्ध ही होता है। बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद हैं-

(१) औदारिक-औदारिक बन्धन- जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत अर्थात् पहले ग्रहण किए हुए औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण अर्थात् जिन का वर्तमान समय में ग्रहण किया जा रहा हो उन औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जाय उसे औदारिक औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(२) औदारिक तैजस बन्धन-जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो उसे औदारिक तैजस बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(३) औदारिक कार्मण बन्धन-जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है उसे औदारिक कार्मण बन्धन नामकर्म कहते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। बन्धन नामकर्म के शेष भेद निम्न लिखित हैं-

(४) वैक्रिय वैक्रिय बन्धन।
(५) वैक्रिय तैजस बन्धन।
(६) वैक्रिय कार्मण बन्धन।
(७) आहारक आहारक बन्धन।
(८) आहारक तैजस बन्धन।
(९) आहारक कार्मण बन्धन।
(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन।
(११) वैक्रिय तैजस कार्मण बन्धन।
(१२) आहारक तैजस कार्मण बन्धन

(१३) तैजस तैजस बन्धन ।

(१४) तैजस कार्मण बन्धन ।

(१५) कार्मण कार्मण बन्धन ।

(कर्मग्रन्थ पहला, गाथा ३७) (कर्मप्रकृति गाथा १ टीका)

८५७– तिथियों के नाम पन्द्रह

एकम से लेकर पूर्णिमा या अमावस्या तक पन्द्रह तिथियाँ हैं। चन्द्रपण्णत्ति में इनके नाम नीचे लिखे अनुसार दिए हैं–

प्रचलित नाम	दिन का नाम	रात्रि का नाम
(१) प्रतिपदा	पूर्वांग	उत्तमा
(२) द्वितीया	सिद्धमनोरम	सुनक्षत्रा
(३) तृतीया	मनोहर	एलापची
(४) चतुर्थी	यशोभद्र	यशोधरा
(५) पंचमी	यशोधर	सौमनसी
(६) षष्ठी	सर्वकाम समेध	श्रीभूता
(७) सप्तमी	इन्द्रमूर्धाभिषेक	विजया
(८) अष्टमी	सौमनस	वैजयन्ती
(९) नवमी	धनञ्जय	जयन्ती
(१०) दशमी	अर्थसिद्ध	अपराजिता
(११) एकादशी	अभिजित्	इच्छा
(१२) द्वादशी	अत्यसन	समाहारा
(१३) त्रयोदशी	शतंजय	तेजा
(१४) चतुर्दशी	अग्निवेश	अतितेजा
(१५) पञ्चदशी (पूर्णिमा)	उपशम	देवानन्दा

(चन्द्रप्रज्ञप्ति प्राभृत १० प्राभृतप्राभृत १४)

८५८– कर्मभूमि पन्द्रह

जिन क्षेत्रों में असि (शस्त्र और युद्ध विद्या) मसि (लेखन और

पठन पाठन) और कृषि (खेती) तथा आजीविका के दूसरे साधन रूप कर्म अर्थात् व्यापार हों उन्हें कर्मभूमि कहते हैं। कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं अर्थात् पन्द्रह क्षेत्रों में उपरोक्त कर्म होते हैं- पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह।

(१-५) पाँच भरत- जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध द्वीप में दो। इस प्रकार पाँच भरत हो जाते हैं।

(६-१०) पाँच ऐरवत- जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार पाँच ऐरवत हो जाते हैं।

(११-१५) पाँच महाविदेह- जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार कुल ५ महाविदेह हो जाते हैं।

उपरोक्त पन्द्रह क्षेत्रों में से जम्बूद्वीप में तीन क्षेत्र हैं- १ भरत १ ऐरवत और १ महाविदेह। धातकीखण्ड में ६ क्षेत्र हैं- २ भरत २ ऐरवत और दो महाविदेह। इसी प्रकार पुष्करार्द्ध में भी ६ क्षेत्र हैं। कुल मिलाकर पन्द्रह हो जाते हैं।

(पन्नवणा पद १ सूत्र ३७) (भगवती शतक २० उद्देशा ८ सू. ६७५)

८५६- परमाधार्मिक पन्द्रह

पापाचरण और क्रूर परिणामों वाले असुरजाति के देव जो तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार से दुःख देते हैं वे परमाधार्मिक कहलाते हैं। ये पन्द्रह प्रकार के होते हैं-

(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनु (११) कुम्भ (१२) वालुका (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष।

इनके भिन्न भिन्न कार्य दूसरे भाग, बोल नं० ४६० (नरक पाल पृष्ठ ३२४ प्रथमावृत्ति) में दिए जा चुके हैं।

(समवायांग १५ समवाय)

८६०- कर्मादान पन्द्रह

अधिक हिंसा वाले धन्धों से आजीविका कमाना कर्मादान है अथवा जिन कार्यों से अधिक कर्मबन्ध हो उन्हें कर्मादान कहते हैं। शास्त्र में श्रावकों का वर्णन करते हुए कहा है-

अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया,
धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मप्पज्जलणा,
धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।
(उववाई सूत्र ४१) (सूयगडांग श्रुतस्कन्ध २ अध्ययन २ सू. ३६)

अर्थात्-श्रावक अल्प आरम्भ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक, धर्म के अनुसार चलने वाले, धर्म में स्थिर, धर्म के कथक, (धर्मोपदेशक), धर्म में होशियार, धर्म के प्रकाश वाले, धार्मिक आचार वाले और धर्म से ही आजीविका उपार्जन करने वाले होते हैं।

इस लिए श्रावक को पापकारी व्यापार न करने चाहिए। श्रावक को कर्मादान जानने चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए। कर्मादान पन्द्रह हैं-

(१) इंगालकम्मे-(अंगार कर्म) वृक्ष काट कर और जलाकर कोयला बनाना और उसका व्यापार करना।

(२) वणकम्मे-(वन कर्म) वन खरीद कर, वृक्षों को कटवा कर बेचना।

(३) साडीकम्मे-(शाकट कर्म) गाड़ी, इक्का, बग्घी आदि वाहन बनाने और बेचने का धन्धा कर आजीविका चलाना।

(४) भाड़ी कम्मे (भाटक कर्म)-भाड़ा कमाने के लिये गाड़ी आदि से दूसरे के सामान को ढोना, ऊंट-घोड़े बैल आदि पशुओं को किराये पर देकर आजीविका चलाना।

(५) फोडी कम्मे-(स्फोटन कर्म) भूमि (खान आदि) फोड़ना और उसमें से निकले हुए पत्थर मिट्टी धातु आदि पदार्थों को बेच कर आजीविका चलाना।

(६) दन्त वाणिज्जे-(दन्तवाणिज्य) हाथी दांत, शंख आदि का व्यापार करना अर्थात् हाथी दांत आदि निकालने वालों को पेशगी रकम या आर्डर देकर उन्हें निकलवाना और उन्हें बेच कर आजीविका चलाना।

(७) लक्ख वाणिज्जे-(लाक्षावाणिज्य) लाख चपड़ी (यह एक प्रकार का वृक्षों का रस-मद है) का व्यापार करना-जिन वस्तुओं के तैयार करने में त्रस जीवों की हिंसा हो उनका धंधा करना।

(८) रसवाणिज्जे-(रसवाणिज्य) मदिरा आदि बनाने तथा बेचने का काम करना।

(९) केसवाणिज्जे-(केशवाणिज्य) दासी, दास या पशु आदि को लेकर दूसरी जगह बेच कर आजीविका करना।

(१०) विसवाणिज्जे-(विषवाणिज्य) संखिया आदि विषैले पदार्थों का व्यापार करना। जीव नाशक पदार्थों की गणना विष में है-जिन के खाने या सूंघने से मृत्यु हो जाती है।

(११) जतपीलण कम्म-(यन्त्रपीडनकर्म) तिल, ईख आदि पेरने के यन्त्रकल (कोल्हू घाणी आदि) चलाने का धन्धा करना।

(१२) निल्लंछण कम्मे-(निर्लाञ्छनकर्म) बैल तथा घोड़े आदि को नपुंसक बनाने का धन्धा करना।

(१३) दवग्गिदावणिया-(दवाग्निदापनता) जंगल में आग लगाना।

(१४) सरदहतलायसोसणया -(सरोद्रहतडागशोषणता) झील, कुण्ड, तालाब आदि को सुखाना।

(१५) असई जण पोसणया- (असतीजनपोषणता) आजीविका निमित्त दुश्चरित्र स्त्रियां एवं शिकारी प्राणियों का पोषण करना।

नोट-रेशम बनाने का धन्धा भी लाख वाणिज्य में आ जाता है।

(प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ-सेठिया जैन ग्रंथालय, बीकानेर से उद्धृत)

(उपासकदशाङ्ग अध्य० १ सू० ७ टी.)

(भगवती शतक ८ उ. ५ सू० ३३ टी.)

(हरिभद्रीयावश्यक अध्य० ६ पृ० ८२८)

सोलहवाँ बोल संग्रह

८६१– दशवैकालिक सूत्र द्वितीय चूलिका की सोलह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र में दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। पहली चूलिका में १८ गाथाएं हैं। उनमें धर्म में स्थिर होने का मार्ग बताया गया है। दूसरी चूलिका का नाम विविक्तचर्या है। इस में सोलह गाथाएं हैं और साधु के लिए विहार आदि का उपदेश दिया गया है। गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है–

(१) केवली द्वारा भाषित श्रुत स्वरूप चूलिका को कहूँगा, जिसे सुन कर धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

(२) जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है तो वह नदी के वेग के साथ समुद्र की ओर बहने लगता है इसी प्रकार जो जीव विषय रूपी नदी के प्रवाह में पड़े हुए हैं वे संसार समुद्र की ओर बहे जा रहे हैं। जो जीव संसार सागर से विमुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखते हैं उन्हें विषय रूपी प्रवाह से हट कर अपने को संयम रूपी सुरक्षित स्थान में स्थापित करना चाहिए।

(३) जिस प्रकार काठ नदी में अनुस्रोत (बहाव के अनुसार) बिना किसी कठिनाई के सरलता पूर्वक चला जाता है किन्तु प्रतिस्रोत (बहाव के विपरीत) चलने में कठिनाई होती है उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वाभाविक रूप से अनुस्रोत अर्थात् विषय भोगों की ओर बढ़े चले जाते हैं। प्रतिस्रोत अर्थात् विषय भोगों से विमुख होकर संयम की ओर बढ़ना बहुत कठिन है। सांसारिक कार्यों के लिए बड़े २ वीर कहलाने वाले व्यक्ति भी संयम के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।

नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं इस लिए नदी में अनुस्रोत बहती हुई वस्तु समुद्र में जा पहुँचती है। इसी को अनुस्रोत गति कहते हैं। इसी प्रकार विषय भोग रूपी नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ जीव संसार समुद्र में जा पहुँचता है। इस लिए विषय भोगों की ओर जाने को अनुस्रोत कहा है। उनके विरुद्ध संयम या दीक्षा की ओर प्रवृत्त होना प्रतिस्रोत है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(४) जो साधु ज्ञानादि आचारों में पराक्रम करता है तथा इन्द्रिय जय रूप संयम का धनी है अर्थात् चित्त की अव्याकुलता रूप समाधि वाला है उसे योग्य है कि वह अनियतवास आदि रूप चर्या, मूल गुण, उत्तर गुण, पिंडविशुद्धि आदि शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार आचरण करे, अर्थात् शास्त्र में जिस समय जो जो क्रियाएं करने के लिए जैसा विधान किया गया है उसी के अनुसार आचरण करे।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई चारित्र की आराधना मोक्ष रूप फल देने वाली होती है।

(५) इस गाथा में साधु की विहार चर्या का स्वरूप बताया गया है। नीचे लिखी सात बातें साधुओं के लिए आचरणीय और प्रशस्त अर्थात् कल्याणकारी मानी गई है–

(क) अनियतवास– बिना किसी विशेष कारण के एक ही स्थान पर अधिक न ठहरना-अनियतवास है। एक ही स्थान पर अधिक दिन ठहरने से स्थान में ममत्व हो जाने की सम्भावना है।

(ख) समुदानचर्या– अनेक घरों से गोचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करना समुदानचर्या है। एक ही घर से भिक्षा लेने में दोष लगने की सम्भावना है।

(ग) अज्ञात– हमेशा नए घरों से भिक्षा तथा उपकरण लेने चाहिए। एक ही घर से सदा भिक्षा आदि लेने में आधाकर्म आदि

दोष लगने की सम्भावना है।

(घ) उञ्छ– मधुकरी या गोचरी वृत्ति के अनुसार प्रत्येक घर से थोड़ा थोड़ा आहार तथा दूसरी वस्तुएं लेना।

(ङ) प्रतिरिक्त– भीड़ रहित एकान्त स्थान में ठहरना। भीड़ भड़क्के वाले स्थान में कोलाहल होने से चित्त स्थिर नहीं रहता।

(च) अल्पोपधि–उपधि अर्थात् भण्डोपकरण आदि धर्म साधन थोड़े रखना। वस्त्र, पात्रादि उपकरण अधिक होने से ममत्व हो जाता है और संयम की विराधना होने का डर रहता है।

(छ) कलहविवर्जना– किसी के साथ कलह न करना।

मुनियों के लिए उपरोक्त विहारचर्या प्रशस्त मानी गई है।

(६) इस गाथा में भी साधुचर्या का वर्णन है।

(क) राजकुल आदि में या जहाँ कोई बड़ा भोज हो रहा हो, आने जाने का मार्ग लोगों से भरा हो, उस स्थान में साधु को भिक्षा के लिए न जाना चाहिए। वहाँ स्त्री तथा सचित्त वस्तु आदि का सेवन हो जाने की सम्भावना है तथा भीड़ भड़क्के में धक्का लग जाने से गिर जाने आदि का डर भी है, इस लिए साधु को उस स्थान में न जाना चाहिए।

(ख) स्वपक्ष या परपक्ष की ओर से अपना अपमान हो रहा हो तो उसे शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिए। क्रोध न करके क्षमाभाव धारण करना चाहिए।

(ग) उपयोग पूर्वक शुद्ध आहार पानी ग्रहण करना चाहिए।

(घ) हाथ या कड़छी आदि के किसी अचित्त द्रव्य द्वारा संसृष्ट (भरे हुए) होने पर ही उनसे आहार पानी लेना चाहिए नहीं तो पुरःकर्म दोष की सम्भावना है। भिक्षा देने के लिए हाथ या कड़छी आदि को सचित्त पानी से धोना पुरःकर्म कहलाता है। यदि हाथ वगैरह पहले से ही शाक वगैरह से संसृष्ट अर्थात् भरे हुए हों तो

उनसे वही वस्तु परोसने में धोने की आवश्यकता नहीं रहती इस लिए वहाँ पुरःकर्म दोष की सम्भावना नहीं है।

(ङ) जिस पदार्थ के लेने की इच्छा हो यदि उसी से हाथ या परोसने का बर्तन संसृष्ट हो तभी उसे लेना चाहिए।

(७) मोक्षार्थी को मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करना चाहिए। किसी से ईर्ष्या न करनी चाहिए। पौष्टिक पदार्थों का अधिक सेवन न करना चाहिए। प्रतिदिन बार बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग में आत्मचिन्तन और धर्मध्यान करने से आत्मा निर्मल होती है। सदा वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय में लगे रहना चाहिए। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है और चित्त में स्थिरता आती है।

(८) विहार करते समय साधु श्रावकों से शयन, आसन, निषद्या, भक्त, पानी आदि किसी भी वस्तु के लिए प्रतिज्ञा न करावे अर्थात् किसी भी वस्तु के लिए यह न कहे कि अमुक वस्तु लौटने पर मुझे वापिस दे देना और किसी को मत देना इत्यादि। गाँव, कुल, नगर या देश किसी भी वस्तु में साधु को ममत्व न करना चाहिए।

(९) मुनि गृहस्थों का वेयावच्च, अभिवादन, वन्दन, पूजन तथा सत्कार आदि न करे। ऐसे संक्लेश रहित साधुओं के संसर्ग में रहे जिन के साथ रहने में संयम की विराधना न हो।

(१०) यदि अपने से अधिक या बराबर गुणों वाला तथा संयम में निपुण कोई साधु न मिले तो मुनि पाप रहित तथा विषयों में अनासक्त होता हुआ अकेला ही विचरे किन्तु शिथिलाचारी और पासत्थों के साथ न रहे।

(११) एक स्थान पर चतुर्मास में चार महीने और दूसरे समय में उत्कृष्ट एक महीना रहने का शास्त्र में विधान है। जिस स्थान पर एक बार मासकल्प या चतुर्मास करे, दो या तीन चतुर्मास

अथवा मासकल्प दूसरी जगह बिना किए फिर उसी स्थान पर मासकल्प आदि करना नहीं कल्पता अर्थात् साधु जिस स्थान पर जितने समय रहे उससे दुगुना समय दूसरी जगह बिताने के बाद ही फिर पूर्वस्थान पर निवास कर सकता है। जिस स्थान पर चतुर्मास करे, दो चतुर्मास दूसरी जगह करने के बाद ही फिर उस स्थान पर चतुर्मास कर सकता है। इसी प्रकार जहाँ मासकल्प करे उसी जगह फिर मासकल्प दो महीनों के बाद ही कल्पता है।

इस लिए साधु को एक स्थान पर चतुर्मास या मासकल्प के बाद फिर उसी जगह चतुर्मास या मासकल्प नहीं करना चाहिए। साधु को शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार चलना चाहिए। शास्त्र में जैसी आज्ञा है वैसा ही करना चाहिए।

(१२) जो साधु रात्रि के पहले तथा पिछले पहर में आत्म चिन्तन करता है और विचारता है, मैंने क्या कर लिया है, क्या करना बाकी है और ऐसी कौनसी बात है जिसे मैं कर सकता हूँ फिर भी नहीं कर रहा हूँ, वही साधु श्रेष्ठ होता है।

(१३) आत्मार्थी साधु शान्त चित्त से विचार करे- अब मेरे से कोई भूल हो जाती है तो दूसरे लोग क्या सोचते हैं। मेरी आत्मा स्वयं उस समय क्या कहती है। मेरे से भूल होना क्यों नहीं छूटता है इस प्रकार सम्यक् विचार करता हुआ साधु भविष्य में दोषों से छुटकारा पा जाता है।

(१४) साधु जब कभी मन, वचन या काया को पाप की ओर झुकता हुआ देखे तो शीघ्र ही खींच कर सन्मार्ग में ले आवे, जैसे लगाम खींच कर कुमार्ग में चलते हुए घोड़े को सन्मार्ग में चलाया जाता है।

(१५) जिसने चंचल इन्द्रियों को जीत लिया है। जो संयम में धैर्य वाला है। मन, वचन और काया रूप तीनों योग जिसके वश में हैं, उस सत्पुरुष को प्रतिबुद्धजीवी (सदा जागता रहने वाला

कहा जाता है, क्योंकि वह अपने जीवन को संयम में बिताता है।

(१६) सब इन्द्रियों को वश में रख कर समाधि पूर्वक आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं है वह जाति-पथ अर्थात जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त होती है और सुरक्षित अर्थात् पापों से बचाई हुई आत्मा सब दुःखों का अन्त करके मोक्ष रूप सुख को प्राप्त होती है। (दशवैकालिक सूत्र २ चूलिका)

८६२—सभिक्खु अध्ययन की सोलह गाथाएं

संसार में पतन के निमित्त बहुत हैं, इस लिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। जिस प्रकार साधु को वस्त्र,पात्र, आहार आदि आवश्यक वस्तुओं में संयम की रक्षा का ध्यान रखना आवश्य है उसी प्रकार मान प्रतिष्ठा की लालसा को रोकना भी साधु के लिए परमावश्यक है। त्यागी जीवन के लिए जो विद्याएं उपयोगी न हों ,उनके सीखने में अपने समय का दुरुपयोग न करना चाहिए। तपश्चर्या और सहिष्णुता ये आत्मविकास के मुख्य साधन हैं। इनका कथन उत्तराध्ययन सूत्र के 'सभिक्खु' नामक पन्द्रहवें अध्ययन की १६ गाथाओं में विस्तार के साथ किया गया है। उन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः यहाँ दिया जाता है—

(१) विवेक पूर्वक सच्चे धर्म का पालन करने वाला, कामभोगों से विरक्त, अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों में आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरों से भिक्षावृत्ति करके आनन्द पूर्वक संयम धर्म का पालन करने वाला ही सच्चा भिक्षु (साधु) है।

(२) राग से निवृत्त, पतन एवं असंयम से अपनी आत्मा को बचाने वाला, परीषह और उपसर्गों को सहन कर समस्त जीवों को आत्मतुल्य जानने वाला और किसी भी वस्तु में मूर्च्छित न होने वाला ही भिक्षु (साधु) है।

(३) यदि कोई पुरुष साधु को कठोर वचन कहे या मार पीट करे तो उसे अपने पूर्वसंचित कर्मों का फल जान कर समभाव पूर्वक सहन कर, अपनी आत्मा को वश में रख कर चित्त में किसी प्रकार की व्याकुलता न लाते हुए संयम मार्ग में ध्यान देने वाले कष्टों को जो समभाव पूर्वक सह लेता है वही भिक्षु (साधु) कहलाता है।

(४) जो अल्प तथा जीर्ण शय्या आदि से सन्तुष्ट रहता है, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों को जो समभाव से सहन कर लेता है वही भिक्षु है।

(५) जो सत्कार या पूजा आदि की लालसा नहीं रखता, यदि कोई उसे प्रणाम करे अथवा उसके गुणों की प्रशंसा करे तो भी मन में अभिमान नहीं लाता, ऐसा संयमी, सदाचारी, तपस्वी, ज्ञानवान्, क्रियावान् और आत्मशोधक पुरुष ही सच्चा भिक्षु है।

(६) संयम जीवन के बाधक पापों का त्यागी, दूसरे की गुप्त बात को प्रकाशित न करने वाला, मोह और राग को उत्पन्न करने वाले सांसारिक बन्धनों में न फंसने वाला और तपस्वी जीवन बिताने वाला ही सच्चा भिक्षु है।

(७) नाक, कान आदि छेदन की क्रिया, रागविद्या, भूगाल विद्या, स्वर्गोल विद्या (ग्रह नक्षत्र देख कर शुभाशुभ बतलाना), स्वप्नविद्या (स्वप्नों का फल बतलाना), सामुद्रिक शास्त्र (शरीर के लक्षणों द्वारा सुख दुःख बतलाना), अंगस्फुरण विद्या, दण्डविद्या भूगर्भविद्या (जमीन में गड़े हुए धन को जानने की विद्या), पशु, पक्षियों की बोली जानना आदि दूषित विद्याओं द्वारा जो अपना संयमी जीवन दूषित नहीं बनाता वही सच्चा भिक्षु है।

(८) मन्त्र प्रयोग करना, जड़ी बूटी तथा अनेक प्रकार के वैद्यक उपचारों को सीख कर काम में लाना, जुलाब देना, वमन कराना, अञ्जन बनाना, रोग स्नान कर आमन्त्रण करना आदि क्रियाएं

योगियों के लिए योग्य नहीं है इस लिए जो इनका त्याग करता है वही सच्चा भिक्षु है।

(९) जो साधु क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण आदि की भिन्न भिन्न प्रकार की वीरता तथा शिल्प कला आदि की पूजा या झूठी प्रशंसा करके संयमी जीवन को कलुषित नहीं करता वही सच्चा भिक्षु है।

(१०) गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा मुनि होने के बाद जिन जिन गृहस्थों से परिचय हुआ हो उनमें से किसी के भी साथ ऐहिक सुख के लिए जो सम्बन्ध नहीं जोड़ता वही सच्चा भिक्षु है। मुनि का सब के साथ केवल पारमार्थिक भाव से ही सम्बन्ध होना चाहिए।

(११) साधु के लिए आवश्यक शय्या (घास फूस आदि), पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर में मौजूद हों किन्तु मुनि द्वारा उन पदार्थों की याचना करने पर यदि वह न दे तो उसको जरा भी द्वेष युक्त वचन न कहे और न मन में बुरा ही माने वही सच्चा भिक्षु है क्योंकि मुनि को मान और अपमान दोनों मे समान भाव रखना चाहिये।

(१२) जो अनेक प्रकार के आहार, पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थ गृहस्थों से प्राप्त हुए है उनको पहले अपने साथी साधुओ में बाँट कर पीछे स्वयं आहार आदि करता है तथा अपने मन, वचन, काया को जो वश मे रखता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१३) गृहस्थ के घर से ओसामण, पतली दाल, जौ का दलिया, ठंडा भोजन, जौ या कांजी का पानी आदि आहार प्राप्त कर, जो उसकी निन्दा नहीं करता तथा सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर जो भिक्षावृत्ति करता है वही साधु है क्योंकि साधु को अपने संयमी जीवन के निर्वाह के लिए ही आहारादि ग्रहण करने चाहिये, जिह्वा की लोलुपता शांत करने के लिए नहीं।

(१४) लोक मे देव, मनुष्य और पशुओं के अनेक प्रकार के

अत्यन्त भयंकर तथा द्वेषोत्पादक शब्द होते हैं उन्हें सुन कर जो नहीं डरता या विकार को प्राप्त नहीं होता वही सच्चा भिक्षु है।

(१५) लोक में प्रचलित भिन्न भिन्न प्रकार के वादों (तन्त्रादि शास्त्रों) को समझ कर जो अपने आत्मधर्म में स्थिर रहता हुआ संयम में दत्तचित्त रहता है, सब परीषहों को जीत कर समस्त जीवों पर आत्मभाव रखता हुआ कषायों पर विजय प्राप्त करता है तथा किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१६) जो शिल्प विद्या द्वारा अपना जीवन निर्वाह न करता हो, जितेन्द्रिय, आन्तरिक तथा बाह्य बन्धनों से मुक्त, अल्प कषाय वाला थोड़ा (परिमित) भोजन करने वाला, सांसारिक बन्धनों को छोड़ कर राग द्वेष रहित विचरने वाला हो वही सच्चा भिक्षु है।

(उत्तराध्ययन १५ वां स भिक्खु अध्ययन)

८६३–बहुश्रुत साधु की सोलह उपमाएं

निरभिमानी, निर्लोभी संयम मार्ग में सावधान, विनयवान्, बहुत शास्त्रों के ज्ञाता साधु को बहुश्रुत कहते हैं। बहुश्रुत साधु की सोलह उपमाएं दी गई हैं–

(१) जिस तरह शंख में रक्खा हुआ दूध दो तरह से शोभित होता है अर्थात् दूध भी सफेद होता है और शंख भी सफेद होता है, अतः शंख में रक्खा हुआ दूध देखने में सौम्य लगता है और वह उसमें कभी नहीं बिगड़ता। उसी तरह ज्ञानी साधु धर्म कीर्ति तथा शास्त्र इन दोनों द्वारा शोभित होता है। अर्थात् ज्ञान स्वयं सुन्दर है और धारण करने वाले ज्ञानी का आचरण जब शास्त्रानुकूल हो तब उसकी आत्मा की उन्नति होती है और धर्म की भी कीर्ति बढ़ती है इस तरह ज्ञान और ज्ञानी दोनों शोभित होते हैं।

(२) जिस प्रकार कम्बोज देश के घोड़ों में आकीर्ण जाति का घोड़ा सब प्रकार की गति (चाल) में श्रेष्ठ, सुलक्षण

और अति वेगवान् होने से उत्तम माना जाता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी भी उत्तम माना जाता है।

(३) जैसे आकीर्ण जाति के उत्तम घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रमी, शूरवीर पुरुष जब संग्राम में जाता है तब दोनों प्रकार से शोभित होता है अर्थात् आगे और पीछे से, बांई तरफ से और दाहिनी तरफ से अथवा वृद्ध पुरुषों द्वारा कहे गये आशीर्वाद रूप वचनों से और बन्दी जनों द्वारा कहे गये स्तुति रूप वचनों से तथा संग्राम के लिये बजाये जाने वाले बाजों के शब्दों से वह शूरवीर पुरुष शोभित होता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी दोनों प्रकार से अर्थात् आन्तरिक शान्ति और बाह्य आचरण से शोभित होता है अथवा दिन और रात के दोनों समय में की जाने वाली स्वाध्याय के घोष (ध्वनि) से बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है अथवा स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों द्वारा 'यह बहुश्रुत ज्ञानी बहुत काल तक जीवित रहे जिससे प्रवचन की बहुत प्रभावना हो' इस प्रकार कहे जाने वाले आशीर्वादों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है।

(४) जिस प्रकार अनेक हथिनियों से सुरक्षित ६० वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ बलवान् हाथी दूसरों से पराभूत नहीं हो सकता उसी प्रकार परिपक्व बुद्धि वाला बहुश्रुत ज्ञानी विचार एवं विवाद के अवसर पर किसी से अभिभूत नहीं होता।

(५) जैसे तीक्ष्ण सींगों वाला और अच्छी तरह भरी हुई ककुद् वाला तथा पुष्ट अंग वाला सांड पशुओं के टोले में शोभित होता है वैसे ही नैगमादि नय रूप तीक्ष्ण शृङ्गों से परपक्ष को भेदन करने वाला और प्रतिभादि गुणों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी साधुओं के समूह में शोभित होता है।

(६) जिस प्रकार अति उग्र तथा तीक्ष्ण दांतों वाला पराक्रमी सिंह किसी से भी पराभूत नहीं होता वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी

किसी से भी पराजित नहीं होता ।

(७) जिस प्रकार पाञ्चजन्य शंख, सुदर्शन चक्र और कौमुदी गदा से युक्त वासुदेव सदा ही अप्रतिहत और अखण्ड बल शाली होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञानी भी अहिंसा, संयम और तप से शोभित होता है ।

(८) जैसे हाथी, घोड़ा, रथ और प्यादे वाली चतुरंगिनी सेना से समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला, चारों दिशाओं का जय करने वाला, नवनिधि, चौदह रत्न और छः खण्ड पृथ्वी का अधिपति, महान् ऋद्धि का धारक, सब राजाओं में श्रेष्ठ चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही चार गतियों का अन्त करने वाला तथा चौदह विद्या रूपी लब्धियों का स्वामी बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(९) जैसे एक हजार नेत्रों वाला, हाथ में वज्र धारण करने वाला, महाशक्तिशाली, पुर नामक दैत्य का नाश करने वाला, देवों का अधिपति इन्द्र शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञान रूपी सहस्र नेत्रों वाला, क्षमा रूपी वज्र का धारण करने वाला और मोह रूपी दैत्य का नाश करने वाला, बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है ।

(१०) जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला, उगता हुआ सूर्य तेज से देदीप्यमान होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार आत्मज्ञान के तेज से दीप्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है ।

(११) जैसे नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा, ग्रह तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण शोभा से प्रकाशित होता है वैसे ही आत्मिक शीतलता से बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है।

(१२) जिस प्रकार विविध धान्यों से परिपूर्ण सुरक्षित भण्डार शोभित होता है उसी तरह अङ्ग उपाङ्ग रूप शास्त्र ज्ञान से पूर्ण बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है ।

(१३) जैसे जम्बूद्वीप के अधिपति अनादृत नामक देव का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में शोभित होता है वैसे ही सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(१४) नीलवान् पर्वत से निकल कर सागर में मिलने वाली सीता नाम की नदी जिस प्रकार सब नदियों में श्रेष्ठ है उसी प्रकार सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी श्रेष्ठ है।

(१५) जिस प्रकार सब पर्वतों में ऊंचा, सुन्दर और अनेक औषधियों से शोभित मेरु पर्वत उत्तम है उसी प्रकार आमर्षोषधि आदि लब्धियों से युक्त अनेक गुणों से अलंकृत बहुश्रुत ज्ञानी भी सब साधुओं में उत्तम है।

(१६) जैसे अक्षय उदक (जिसका जल कभी नहीं सूखता) स्वयम्भूरमण नामक समुद्र नाना प्रकार की मरकत आदि मणियों से परिपूर्ण है वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी सम्यग् ज्ञान रूपी अक्षय जल मे परिपूर्ण और अतिशयवान् होता है। इसलिये वह सब साधुओं में उत्तम और श्रेष्ठ है।

उपरोक्त गुणों से युक्त, समुद्र के समान गम्भीर, परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करने वाला, कामभोगों में अनासक्त, श्रुत से परिपूर्ण तथा समस्त प्राणियों का रक्षक महापुरुष बहुश्रुत ज्ञानी शीघ्र ही कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है।

ज्ञान अमृत है। वह शास्त्रों द्वारा, सत्संग द्वारा और महापुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त होता है, अतः मोक्षाभिलाषी प्रत्येक प्राणी को श्रुत (ज्ञान) प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गाथा १५ से ३२)

८९४– दीक्षार्थी के सोलह गुण

गृहस्थ पर्याय छोड़ कर पाँच महाव्रत रूप संयम अंगीकार करने को दीक्षा कहते हैं। दीक्षा अर्थात् मुनिव्रत अंगीकार करने वाले

में नीचे लिखे सोलह गुण होने चाहिए।

(१) आर्यदेशसमुत्पन्न–जिन देशों में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि उत्तम पुरुष होते हैं उन्हें आर्य देश कहते हैं। धर्मभावना भी आर्यदेश में ही होती है, इस लिए दीक्षा अङ्गीकार करके संयम का पालन वही कर सकता है जो आर्यदेशों में उत्पन्न हुआ हो। जैसे मरुस्थल में कल्पवृक्ष नहीं लग सकता, वैसे ही अनार्य देश में उत्पन्न व्यक्ति धर्म में सदा श्रद्धा वाला नहीं हो सकता, अतः दीक्षार्थी का पहला गुण यह है कि उसकी उत्पत्ति आर्यदेश में हुई हो।

(२) शुद्धजातिकुलान्वित– जिसकी जाति अर्थात् मातृपक्ष और कुल अर्थात् पितृपक्ष दोनों शुद्ध हों। शुद्ध जाति और कुल वाला संयम का निर्दोष पालन करता है। किसी प्रकार की भूल होने पर भी कुलीन होने के कारण रथनेमि की तरह सुधार लेता है।

(३) क्षीणप्रायाशुभकर्मा–जिसके अशुभ अर्थात् चारित्र में बाधा डालने वाले कर्म क्षीण अर्थात् नष्ट हो गए हों। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षय, क्षयोपशम या उपशम हुए बिना कोई भाव चारित्र अङ्गीकार नहीं कर सकता। ऊपर से दीक्षा ले लेने पर भी शुद्ध संयम का पालन करना उसके लिए असम्भव है।

(४) विशुद्धधी– अशुद्ध कर्मों के दूर हो जाने से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई हो। निर्मल बुद्धि वाला धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर उसका शुद्ध पालन करता है।

(५) विज्ञातसंसारनैर्गुण्य– जिस व्यक्ति ने संसार की निर्गुणता अर्थात् व्यर्थता का ज्ञान लिया हो। मनुष्य जन्म दुर्लभ है, जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, धन सम्पत्ति चञ्चल है, सांसारिक विषय दुःख के कारण हैं,

जिनका संयोग होता है उनका वियोग भी अवश्य होता है, प्राणियों की मृत्यु प्रति क्षण होती रहती है। कहा भी है—

यस्मेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे वसत्यै नरवीर ! लोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥

अर्थात्— महर्षि व्यास युधिष्ठिर को कह रहे है— हेनरवीर ! प्राणी पहले पहल जिस रात को गर्भ में वसने के लिए आता है उसी रात से वह दिन रात प्रयाण करता हुआ मृत्यु के समीप जा रहा है।

मृत्यु का फल बहुत ही दारुण अर्थात् भयङ्कर होता है क्योंकि उस समय सब तरह की चेष्टाएं अर्थात् हलन चलन बन्द हो जाती हैं और जीव सभी प्रकार से असमर्थ तथा लाचार हो जाता है।

इस प्रकार संसार के स्वभाव को जानने वाला व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी होता है।

(६) विरक्त—जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो गया हो क्योंकि सांसारिक विषयभोगों में फंसा हुआ व्यक्ति उन्हें नहीं छोड़ सकता।

(७) मन्दकषायभाक्—जिस व्यक्ति के क्रोध, मान, आदि चारों कषाय मन्द हो गये हों। स्वयं अल्प कषाय वाला होने के कारण वह अपने और दूसरे के कषाय आदि को शान्त कर सकता है।

(८) अल्प हास्यादि विकृति— जिसके हास्यादि नोकषाय कम हों। अधिक हँसना आदि गृहस्थों के लिए भी निषिद्ध है।

(९) कृतज्ञ— जो दूसरे द्वारा किए हुए उपकार को मानने वाला हो। कृतघ्न व्यक्ति लोक में निन्दा प्राप्त करता है इस लिए भी वह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१०) विनयविनीत— दीक्षार्थी विनयवान् होना चाहिए क्योंकि विनय ही धर्म का मूल है।

(११) राजसम्मत— दीक्षार्थी राजा, मन्त्री आदि के सम्मत अर्थात् अनुकूल होना चाहिए। राजा आदि से विरोध करने वाले

का दीक्षा देने से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है।

(१२) अक्षुद्र- जो झगड़ालू तथा उग्र, क्रूर न हो।

(१३) सुन्दराङ्गभृत्- सुन्दर शरीर वाला हो अर्थात् उस का कोई अंग हीन या गया हुआ न होना चाहिए। अपाङ्ग या नष्ट अवयव वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१४) श्राद्ध- श्रद्धा वाला। दीक्षित भी यदि श्रद्धा रहित हो तो अङ्गारमर्दक के समान वह त्यागने योग्य हो जाता है।

(१५) स्थिर- जो अङ्गीकार किए हुए व्रत में स्थिर हो। प्रारम्भ किए हुए कार्य को बीच में छोड़ने वाला न हो।

(१६) समुपसम्पन्न- पूर्वोक्त गुणों वाला होकर भी जो दीक्षा लेने के लिए पूरी इच्छा से गुरु के पास आया हो।

उपरोक्त सोलह गुणों वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

(धर्म संग्रह अधिकार ३ श्लोक ७३-७८ पृष्ठ ३)

८६५- गवेषणा (उद्गम) के १६ दोष-

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥२॥

(१) आधाकर्म- किसी खास साधु को मन में रख कर उस के निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त को पकाना आधाकर्म कहलाता है। यह दोष चार प्रकार से लगता है। प्रतिसेवन- आधाकर्मी आहार का सेवन करना। प्रतिश्रवण- आधाकर्मी आहार के लिए निमन्त्रण स्वीकार करना। संवसन- आधाकर्मी आहार भोगने वालों के साथ रहना। अनुमोदन- आधाकर्मी आहार भोगने वालों की प्रशंसा करना।

(२) औद्देशिक- सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से उ

आहारादि तैयार किये जाते हैं,उन्हें औद्देशिक कहते है। इनके दो भेद हैं– ओघ और विभाग। भिक्षुकों के लिये अलग तैयार न करते हुए अपने लिए बनते हुए आहारादि में ही कुछ और मिला देना ओघ है। विवाहादि में याचकों के लिए अलग निकाल कर रख छोड़ना विभाग है। यह उद्दिष्ट,कृत और कर्म के भेद से तीन प्रकार का है। फिर प्रत्येक के उद्देश,समुद्देश,आदेश और समादेश इस तरह चार २ भेद हैं। इन सब की विस्तृत व्याख्या नीचे लिखे हुए ग्रन्थों से जाननी चाहिए। किसी खास साधु के लिए बनाया गया आहार अगर वही साधु ले तो आधाकर्म, दूसरा ले तो औद्देशिक है। आधाकर्म पहिले से ही किसी खास निमित्त से बनाया जाता है। औद्देशिक साधारण दान के लिए पहिले या बाद में कल्पित किया जाता है।

(३) पूतिकर्म– शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाना पूतिकर्म है। आधाकर्मी आहार का थोड़ा सा अंश भी शुद्ध और निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। शुद्ध चारित्र पालने वाले संयमी के लिये वह अकल्पनीय है। जिसमें ऐसे आहार का अंश लगा हो ऐसे बर्तन को भी टालना चाहिए।

(४) मिश्रजात– अपने और साधु के लिये एक साथ पकाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है। इसके तीन भेद है– यावदर्थिक, पाखंडिमिश्र और साधुमिश्र। जो आहार अपने लिये और सभी याचकों के लिए इकट्ठा बनाया जाय वह यावदर्थिक है। जो अपने और साधु सन्यासियों के लिए इकट्ठा बनाया जाय वह पाखण्डिमिश्र है। जो सिर्फ अपने और साधुओं के लिये इकट्ठा किया जाय वह साधुमिश्र है।

(५) स्थापन– साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिए आहार को अलग रख देना स्थापन है।

(६) प्रामित्य—साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिये भोजनवार या निर्मंत्रण के समय को आगे पीछे करना।

(७) प्रादुष्करण—देय वस्तु के अन्धेरे में होने पर अग्नि, दीपक आदि का उजाला करके या खिड़की वगैरह खोल कर वस्तु को प्रकाश में लाना अथवा आहारादि को अन्धेरी जगह से प्रकाश वाली जगह में लाना प्रादुष्करण है।

(८) क्रीत—साधु के लिये मोल लिया हुआ आहारादि क्रीत है।

(९) प्रामित्य (पामिच्च)—साधु के लिये उधार लिया हुआ आहारादि प्रामित्य कहलाता है।

(१०) परिवर्तित—साधु के लिए अट्टा सट्टा करके लिया हुआ आहार परिवर्तित कहलाता है।

(११) अभिहृत (अभिहड)—साधु के लिये गृहस्थ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार।

(१२) उद्भिन्न—साधु को घी वगैरह देने के लिये कुप्पी आदि का मुंह (ढक्कन) खोल कर देना।

(१३) मालापहृत—ऊपर, नीचे या तिरछी दिशा में जहाँ आसानी से हाथ न पहुँच सके वहाँ पंजों पर खड़े होकर या निसरणी आदि लगा कर आहार देना। इसके चार भेद हैं—ऊर्ध्व, अध, उभय और तिर्यक्। इनमें से भी हर एक के जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम रूप तीन तीन भेद हैं। एडियाँ उठा कर हाथ फैलाते हुए छत में टंगे छींके वगैरह से कुछ निकालना जघन्य ऊर्ध्व मालापहृत है। सीढ़ी वगैरह लगा कर ऊपर के मंजिल से उतारी गई वस्तु उत्कृष्ट मालापहृत है। इनके बीच की वस्तु मध्यम है। इसी तरह अध, उभय और तिर्यक् के भेद भी जानने चाहिये।

(१४) आच्छेद्य—निर्बल व्यक्ति या अपने आश्रित रहने वाले नौकर चाकर और पुत्र वगैरह से छीन कर साधुओं को

देना। इसके तीन भेद हैं-स्वामिविषयक, प्रभुविषयक और स्तेनविषयक। ग्राम मालिक स्वामी और अपने घर का मालिक प्रभु कहलाता है। चोर और लुटेरे को स्तेन कहते हैं। इन में से कोई किसी से कुछ छीन कर साधुजी को दे तो क्रमशः तीन दोष लगते हैं।

(१५) अनिसृष्ट-किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सब की इच्छा के बिना देना अनिसृष्ट है।

(१६) अध्यवपूरक-साधुओं का आगमन सुन कर आधण में अधिक ऊर देना अर्थात् अपने लिये बनते हुए भोजन में साधुओं का आगमन सुन कर उनके निमित्त से और मिला देना।

नोट-उद्गम के सोलह दोषों का निमित्त गृहस्थ अर्थात् देने वाला होता है। (प्रवचन सारोद्धार द्वार ६७ गाथा ५६५, ५६६) (धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक २ पृ. ३८) (पिंडनिर्युक्ति गाथा ९२,९३) (पंचाशक १३ वाँ गाथा ५, ६) (पिण्डविशुद्धि गा, ३-४)

८६६- गवेषणा (उत्पादना) के १६ दोष

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस ए ए॥ १॥
पुव्विंपच्छासंथव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य॥ २॥

(१) धात्री-बच्चे को खिलाना पिलाना आदि धाय का काम करके या किसी घर में धाय की नौकरी लगवा कर आहार लेना।

(२) दूती- एक दूसरे का सन्देशा गुप्त या प्रकट रूप से पहुँचा कर दूत का काम करके आहारादि लेना।

(३) निमित्त- भूत और भविष्यत् को जानने के शुभाशुभ निमित्त बतलाकर आहारादि लेना।

(४) आजीव-स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अपनी जाति और कुल आदि प्रकट करके आहारादि लेना।

(५) वनीपक–श्रमण, शाक्य संन्यासी आदि में जो जिसका भक्त हो उसके सामने उसी की प्रशंसा करके या दीनता दिखा कर आहारादि लेना।

(६) चिकित्सा– औषधि करना या बताना आदि चिकित्सा का काम करके आहारादि ग्रहण करना।

(७) क्रोध– क्रोध करके या गृहस्थ को शापादि का भय दिखा कर भिक्षा लेना।

(८) मान– अभिमान से अपने को प्रतापी, तेजस्वी, बहुश्रुत बताते हुए अपना प्रभाव जमा कर आहारादि लेना।

(९) माया– वञ्चना या छलना करके आहारादि ग्रहण करना।

(१०) लोभ– आहार में लोभ करना अर्थात् भिक्षा के लिए जाते समय जीभ के लालच से यह निश्चय करके निकलना कि आज तो अमुक वस्तु ही खाएंगे और उसके अनायास न मिलने पर इधर उधर ढूँढना तथा दूध आदि मिल जाने पर जिह्वास्वादवश चीनी आदि के लिए इधर उधर भटकना लोभपिण्ड है।

(११) पूर्वपश्चात्संस्तव (पुव्विंपच्छासंथव)–आहार लेने के पहले या पीछे देने वाले की प्रशंसा करना।

(१२) विद्या–स्त्रीरूप देवता से अधिष्ठित या जप, होम आदि से सिद्ध होने वाली अक्षरों की रचना विशेष को विद्या कहते हैं। विद्या का प्रयोग करके आहारादि लेना विद्यापिण्ड है।

(१३) मन्त्र–पुरुषरूप देवता के द्वारा अधिष्ठित ऐसी अक्षर रचना जो पाठ मात्र से सिद्ध हो जाय उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के प्रयोग से लिया जाने वाला आहारादि मन्त्र पिण्ड है।

(१४) चूर्ण– अदृश्य करने वाले सुरमे आदि का प्रयोग करके जो आहारादि लिए जायें उन्हें चूर्णपिण्ड कहते हैं।

(१५) योग– पादलेप आदि सिद्धियाँ दिखा कर जो आहार

रादि लिए जायँ उन्हें योग पिण्ड कहते हैं।

(१६) मूलकर्म–गर्भस्तम्भ, गर्भाधान, गर्भपात आदि संसार सागर में भ्रमण कराने वाली सावद्य क्रियाएं करना मूलकर्म है।

नोट– उत्पादना के दोष साधु से लगते हैं। इनका निमित्त साधु ही होता है। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ६७ गाथा ५६७, ५६८) (धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक २२ पृष्ठ ४०) (पिण्डनिर्युक्ति गाथा ४०८, ४०९) (पंचाशक १३वाँ, गाथा १८–१९) (पिण्डविशुद्धि गा. ५८-५९

८६७– साधु को कल्पनीय ग्रामादि १६ स्थान

विहार करते हुए साधु या साध्वी को नीचे लिखे सोलह स्थानों में रहना कल्पता है।

(१) ग्राम– जहाँ राज्य की तरफ से अठारह प्रकार का कर (महसूल) लिया जाता हो उसे ग्राम कहते हैं।

(२) नगर– जहाँ गाय, बैल आदि का कर न लिया जाता हो ऐसी बड़ी आबादी को नगर कहते हैं।

(३) खेड (खेटक)– जिस आबादी के चारों ओर मिट्टी का परकोटा हो उसे खेड़ या खेड़ा कहते है।

(४) कब्बड (कर्वट)– थोड़ी आबादी वाला गाँव।

(५) मण्डप– जिस स्थान से गाँव अढ़ाई कोस की दूरी पर हो उसे मण्डप कहते है। ऐसे स्थान में वृक्ष के नीचे या प्याऊ आदि में साधु ठहर सकता है।

(६) पाटण (पत्तन)– व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान, जहाँ सब वस्तुएं मिलती हों उसे पाटण कहते हैं।

(७) आगर (आकर)– सोना चाँदी आदि धातुओं के निकलने की खान को आगर कहते है।

(८) द्रोणमुख– समुद्र के किनारे की आबादी जहाँ जाने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हों। आज कल इसे

चन्दरगाह कहते हैं।

(९) निगम- जहाँ अधिकतर वाणिज्य करने वाले महाजनों की आबादी हो उसे निगम कहते हैं।

(१०) राजधानी- जहाँ राजा स्वयं रहता हो।

(११) आश्रम- जंगल में तपस्वी, सन्यासी आदि के ठहरने का स्थान आश्रम कहलाता है।

(१२) सन्निवेश- जहाँ सार्थवाह अर्थात् बड़े बड़े व्यापारी बाहर से आकर उतरते हों।

(१३) संबाह-पर्वत गुफा आदि में जहाँ किसानों की आबादी हो अथवा गाँव के लोग अपना धन माल आदि की रक्षा के लिए जहाँ आकर छिप जाते हैं उसे संबाह कहते हैं।

(१४) घोष- जहाँ गाय चराने वाले गूजर लोग रहते हैं।

(१५) अंसिय-गाँव के बीच की जगह को अंसिय कहते हैं।

(१६) पुटभेद- दूसरे २ गाँवों के व्यापारी जहाँ अपनी वस्तु बेचने के लिए इकट्ठे होते हैं उसे पुटभेद कहते हैं। आजकल इसे मण्डी कहा जाता है।

ऊपर लिखे सोलह ठिकानों में से जहाँ आबादी के चारों ओर परकोटा है और परकोटे के बाहर आबादी नहीं है। वहाँ गर्मी अथवा सर्दी में साधु को एक मास ठहरना कल्पता है।

ऊपर लिखे ठिकानों में से परकोटे वाले स्थान में यदि परकोटे के बाहर भी आबादी है तो वहाँ साधु गर्मी तथा सर्दी में दो महीने ठहर सकता है, एक महीना कोट के अन्दर और एक महीना बाहर। अन्दर रहते समय गोचरी भी कोट के अन्दर ही करनी चाहिए और बाहर रहते समय बाहर।

साध्वी के लिए साधु से दुगुने काल तक रहना कल्पता है अर्थात् कोट के बाहर की आबादी वाले स्थान में दो मास और कोट

के भीतर दो मास।

ऊपर लिखे कोट वाले स्थानों में जहाँ बाहर आने जाने के लिए एक ही द्वार हो उस स्थान में साधु और साध्वी को एक साथ रहना नहीं कल्पता अर्थात् ऐसे स्थान में साधु रहे तो साध्वी को न रहना चाहिए और साध्वी रहे तो साधु को न रहना चाहिए।

अगर ग्रामादि में आने जाने के लिए कई द्वार हो तो उसमें साधु साध्वी एक ही काल में सुख पूर्वक रह सकते हैं।

किसी बड़ी दुकान के ऊपर या आस पास जहाँ, बहुत लोगों का आना जाना हो ऐसे किसी सार्वजनिक स्थान के पास, किसी गली की नुक्कर पर, तिराहे या चौराहे पर, पञ्चायती के चौंतरे आदि के पास, राजमार्ग में अथवा जहाँ बहुत से मार्ग इकट्ठे होते हों ऐसे स्थानों में साध्वी को रहना नहीं कल्पता। साधु को उपरोक्त स्थानों में रहना कल्पता है।

साध्वी को विना द्वार या विना किवाड़ वाले मकान में रहना नहीं कल्पता। अगर कारणवश विना किवाड़ वाले किसी स्थान मे रहना पड़ जाय तो चद्दर का एक परदा सोने की जगह और एक उस मकान के द्वार पर बाँध देना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध करके ही साध्वी को वहाँ सोना कल्पता है।

साधु खुले किवाड़ वाले या विना किवाड़ वाले मकान में ठहर सकता है। (बृहत्कल्प उद्देशा १ सूत्र ६)

८६८– आश्रव आदि के सोलह भांगे

जीवों के शुभाशुभ परिणामो के अनुसार आश्रव, क्रिया, वेदना और निर्जरा ये चार बातें होती है। परिणामों की तीव्रता और मन्दता के कारण ये चारो बाते महान् और अल्प रूप में परिणत होती हैं। किन जीवो में किसकी अल्पता और किसकी महत्ता ... जाती है यह बताने के लिये आश्रव, क्रिया, वेदना और निर्जरा

इन चार के चतुःसंयोगी सोलह भंग बनते हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) महास्रव महाक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(२) महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(३) महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(४) महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(५) महास्रव अल्पक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(६) महास्रव अल्पक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(७) महास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(८) महास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(९) अल्पास्रव महाक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(१०) अल्पास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(११) अल्पास्रव महाक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(१२) अल्पास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(१३) अल्पास्रव अल्पक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(१४) अल्पास्रव अल्पक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(१५) अल्पास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(१६) अल्पास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।

उपरोक्त सोलह भांगों में से नारकी जीवों में सिर्फ दूसरा भांगा (महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा) पाया जाता है। नारकी जीवों के बहुत कर्मों का बन्ध होता रहता है इस लिये वे महास्रव वाले हैं। कायिकी आदि बहुत क्रिया वाले होने से महाक्रिया वाले हैं तथा असातावेदनीय का तीव्र उदय होने से नारकी जीव महावेदना वाले होते हैं। इतनी तीव्र वेदना सहन करने पर भी अविरति होने के कारण नारकी जीवों के अल्प निर्जरा होती है, इस लिए महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्प निर्जरा रूप दूसरा भांगा इन में घटित होता है।

असुरकुमारों से स्तनितकुमारों तक दस भवनपति देवों में सिर्फ एक चौथा भांगा (महाश्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा) पाया जाता है। इनमें असातावेदनीय का उदय प्रायः नहीं होने से वेदना भी अल्प है और निर्जरा भी अल्प है। इसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों में भी सिर्फ एक चौथा भांगा पाया जाता है।

एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य सभी में ये सोलह ही भांगे पाये जाते हैं।

(भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ४ सू. ६५४)

८६३- वचन के सोलह भेद

मन में रहा हुआ अभिप्राय प्रकट करने के लिए भाषावर्गणा के परमाणुओं को बाहर निकालना अर्थात् वाणी का प्रयोग करना वचन कहलाता है। इसके सोलह भेद हैं-

(१) एकवचन-किसी एक के लिए कहा गया वचन एक वचन कहलाता है। जैसे- पुरुषः (एक पुरुष)।

(२) द्विवचन- दो के लिए कहा गया वचन द्विवचन कहलाता है। जैसे- पुरुषौ (दो पुरुष)।

(३) बहुवचन- दो से अधिक के लिए कहा गया वचन, जैसे- पुरुषाः (तीन या उससे अधिक पुरुष)।

(४) स्त्रीवचन- स्त्रीलिंग वाली किसी वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- इयं स्त्री (यह औरत)।

(५) पुरुषवचन- किसी पुल्लिंग वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- अयं पुरुषः (यह पुरुष)।

(६) नपुंसकवचन- नपुंसकलिंग वाली वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- इदं कुण्डम् (यह कुण्ड)। कुण्डम् शब्द संस्कृत नपुंसक लिंग है। हिन्दी में नपुंसकलिंग नहीं होता।

(७) अध्यात्मवचन– मन में कुछ और रख कर दूसरे को ठगने की बुद्धि से कुछ और कहने की इच्छा होने पर भी शीघ्रता के कारण मन में रही हुई बात का निकल जाना अध्यात्मवचन है।

(८) उपनीतवचन–प्रशंसा करना, जैसे अमुक स्त्री सुन्दर है।

(९) अपनीतवचन–निन्दात्मक वचन जैसे यह स्त्री कुरूपा है।

(१०) उपनीतापनीत वचन– प्रशंसा करके निन्दा करना, जैसे– यह स्त्री सुन्दर है किन्तु दुष्ट स्वभाव वाली है।

(११) अपनीतोपनीत वचन– निन्दा के बाद प्रशंसा करना। जैसे यह स्त्री कुरूपा है किन्तु सुशील है।

(१२) अतीतवचन– भूत काल की बात कहना अतीत वचन है। जैसे मैंने अमुक कार्य किया था।

(१३) प्रत्युत्पन्न वचन– वर्तमान काल की बात कहना प्रत्युत्पन्न वचन है। जैसे– यह करता है। यह जाता है।

(१४) अनागत वचन– भविष्य काल की बात कहना अनागत वचन है। जैसे– यह करेगा। यह जायगा।

(१५) प्रत्यक्ष वचन– प्रत्यक्ष अर्थात् सामने की बात कहना। जैसे सामने उपस्थित व्यक्ति के लिए कहना 'यह'।

(१६) परोक्ष वचन– परोक्ष अर्थात् पीठ पीछे हुई बात का कहना, जैसे सामने अनुपस्थित व्यक्ति के लिए कहना वह इत्यादि।

ये सोलह वचन यथार्थ वस्तु के सम्बन्ध में जानने चाहिए। इन्हें सम्यक् उपयोग पूर्वक कहे तो भाषा प्रज्ञापनी होती है। इस प्रकार की भाषा मृषाभाषा नहीं कही जाती। (पन्नवणा पद ११ सूत्र १६१) (आचारांग श्रु० २ चू० १ अ० ४ उद्दे० १)

८७०– मेरु पर्वत के सोलह नाम

यह पर्वत मध्य लोक के बीच में है। इसके सोलह नाम हैं–

(१) मंदर (२) मेरु (३) मनोरम (४) सुदर्शन (५) स्वयंप्रभ

(६) गिरिराज (७) रत्नोच्चय (८) प्रिय दर्शन (६) लोक मध्य (१०) लोक नाभि (११) अर्थ (१२) सूर्यावर्त (१३) सूर्यावरण (१४) उत्तर (भरत आदि सब क्षेत्रों से मेरु पर्वत उत्तर दिशा में पड़ता है) (१५) दिगादि (सब दिशाओं का निश्चय कराने वाला) (१६) अवतंस।
(समवायांग १६ वत्त. ४ सू. १०६) (जम्बूद्वीप पण्णत्ति मेरु अधिकार)

८७१– महायुग्म सोलह

राशि अर्थात् संख्याविशेष को युग्म कहते है। छोटी राशि को क्षुद्रयुग्म और बड़ी को महायुग्म कहते हैं। महायुग्म सोलह हैं। इन्हें समझने के लिए नीचे लिखे पदों का अर्थ जानना आवश्यक है।

(क) कृतयुग्म– जिस संख्या को चार से भाग देने पर कुछ बाकी न बचे अर्थात् भाग चार पर समाप्त हो जाय उसे कृतयुग्म कहते हैं।

(ख) त्र्योज– जिस संख्या को चार से भाग देने पर तीन बाकी बचें उसे त्र्योज कहते हैं।

(ग) द्वापर– जिस संख्या को चार से भाग देने पर दो बाकी बचें उसे द्वापर कहते हैं।

(घ) कल्योज– जिस संख्या को चार से भाग देने पर एक बाकी बचे उसे कल्योज कहते है।

(ङ) अपहार समय– जितनी बार घटाया जाय उन्हें अपहार समय कहते है।

(च) अपह्रियमाण वस्तु– वह संख्या जिसमे से भाग दिया जाय। महायुग्मों में ऊपर लिखी बातें ही घुमा फिरा कर आती है। सोलह महायुग्म नीचे लिखे अनुसार हैं–

(१) कृतयुग्म कृतयुग्म– जिस राशि में चार का अपहार करते हुए चार पर पर्यवसान हो जाय अर्थात् शेष कुछ न रहे, यदि उस राशि के अपहार समय भी कृतयुग्म हो तो उसे कृतयुग्म कृतयुग्म कहते हैं। जैसे– १६। सोलह में से चार संख्या को चार ही बार

घटाया जा सकता है और अपहार (घटाना) भी चार पर समाप्त हो जाता है, शेष कुछ नहीं बचता, इस लिए यह कृतयुग्म कृतयुग्म है।

इनमें पहला पद अपहारसमय की अपेक्षा और दूसरा अपहियमाण वस्तु की अपेक्षा है। १६ में अपहारसमय ४ हैं इस लिए कृतयुग्म हैं। घटाई जाने वाली संख्या भी कृतयुग्म है।

(२) कृतयुग्मत्र्योज– जो राशि त्र्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर शेष तीन बच जायँ और अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार हों उसे कृतयुग्म त्र्योज कहते हैं। जैसे– १९। १९ में से चार संख्या चार ही बार घटाई जा सकती है, इस लिए अपहार समय कृतयुग्म हैं तथा चार चार घटाने पर शेष तीन बच जाते हैं इस लिए अपहियमाण वस्तु त्र्योज है।

(३) कृतयुग्मद्वापरयुग्म– जो राशि द्वापर हो अर्थात् जिसमें चार २ घटाने पर दो बच जायँ तथा जिसमें अपहारसमय कृतयुग्म अर्थात् चार हों तो उसे कृतयुग्म द्वापर युग्म कहते हैं। जैसे– १८। अठारह में अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार हैं, संख्या द्वापर है।

(४) कृतयुग्मकल्योज– जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिसमें चार २ घटाने पर एक बाकी बच जाय तथा जिसमें अपहार समय चार हों उसे कृतयुग्मकल्योज कहते हैं। जैसे– १७। सतरह में अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार है और संख्या कल्योज है।

(५) त्र्योजकृतयुग्म– जो राशि कृतयुग्म हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर कुछ बाकी न बचे तथा अपहार समय त्र्योज अर्थात् तीन हों उसे त्र्योजकृतयुग्म कहते हैं। जैसे १२। बारह संख्या में चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज है और चार घटाने पर शेष कुछ नहीं रहता इस लिए राशि कृतयुग्म है।

(६) त्र्योज त्र्योज– जो राशि त्र्योज हो और उसके अपहार

समय भी त्र्योज हो तो उसे त्र्योज त्र्योज कहते हैं। जैसे–१५। पन्द्रह में से चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज है और चार चार घटाने पर तीन बचते हैं इस लिए राशि भी त्र्योज है।

(७) त्र्योज द्वापर युग्म– जो राशि द्वापर हो अर्थात् चार चार घटाने पर दो बाकी बचें और अपहार समय त्र्योज हों अर्थात् तीन हों तो उसे त्र्योजद्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे–१४। चौदह में चार चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज हैं और चौदह संख्या द्वापर है।

(८) त्र्योज कल्योज–जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर एक बाकी बचता हो और अपहार समय त्र्योज हो उसे त्र्योज कल्योज कहते हैं। जैसे १३। तेरह में चार चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज है और तेरह संख्या कल्योज है।

(९) द्वापरयुग्म कृतयुग्म–जो राशि कृतयुग्म हो अर्थात् चार चार घटाने पर अन्त में चार ही रहें कुछ बाकी न बचे तथा अपहार समय द्वापर हों अर्थात् अन्त में दो बचें तो उसे कृतयुग्म द्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– ८। आठ में चार चार कम करने पर शेष कुछ नहीं बचता इस लिए यह कृतयुग्म है और दो ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म हैं।

(१०) द्वापरयुग्म त्र्योज–जो राशि त्र्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर बाकी तीन बच जायें और अपहार समय द्वापरयुग्म हों तो उसे द्वापर युग्म त्र्योज कहते है। जैसे–११। ग्यारह में चार को दो ही बार घटाया जा सकता है, इस लिए अपहार समय द्वापर है और चार चार घटाने पर तीन बाकी बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है।

(११) द्वापरयुग्म द्वापरयुग्म– जो राशि द्वापर युग्म हो और अपहार समय भी द्वापरयुग्म हो तो उसे द्वापरयुग्म द्वापर युग्म कहते हैं। जैसे– १०। दस में से चार २ बार दो ही बार कम किया जा सकता है इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म है और चार २ कम करने पर २ बचते हैं अतः अपह्रियमाण वस्तु भी द्वापरयुग्म है।

(१२) द्वापरयुग्मकल्योज– जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिस में से चार २ कम करने पर एक बाकी बचे और अपहार समय द्वापर युग्म हो तो उसे द्वापरयुग्म कल्योज कहते हैं। जैसे– ९। नौ में से चार २ दो ही बार कम किए जा सकते हैं। इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म है तथा चार चार कम करने पर शेष एक बचता है इस लिए अपह्रियमाण वस्तु कल्योज है।

(१३) कल्योजकृतयुग्म– जो राशि कृतयुग्म हो और अपहार समय कल्योज हो तो उसे कल्योजकृतयुग्म कहते हैं। जैसे– ४। चार में से चार घटाने पर शेष कुछ नहीं बचता इस लिए राशि कृतयुग्म है तथा चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है।

(१४) कल्योजत्र्योज– जो राशि त्र्योज हो और अपहार समय कल्योज हो तो उसे कल्योजत्र्योज कहते हैं। जैसे– ७। सात में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है और चार घटाने पर शेष तीन बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है।

(१५) कल्योजद्वापरयुग्म– जो राशि द्वापरयुग्म हो और अपहार समय कल्योज हो तो उसे कल्योजद्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– ६। छः में से चार एक ही बार घटाया जा सकता है। इस लिए अपहार समय कल्योज है और चार घटाने पर शेष दो बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु द्वापरयुग्म है।

(१६) कल्योज-कल्योज यदि अपह्रियमाण वस्तु और अपहार समय दोनों कल्योज हों तो उसे कल्योजकल्योज कहते हैं। जैसे- ५। पाँच में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है। इस लिए अपहार समय कल्योज है तथा चार घटाने पर एक बच जाता है इस लिए अपह्रियमाण वस्तु भी कल्योज है।

नोट- ऊपर उदाहरण में दी गई संख्याएं जघन्य हैं। इसी क्रमको लेकर बड़ी संख्याओं को भी यथासम्भव महायुग्मों में बाँटा जा सकता है। (भगवती शतक ३५ उद्देशा १ सू. ८५५)

८७२- द्रव्यावश्यक के सोलह विशेषण

जिस व्यक्ति ने आगम सीख लिया हो या कण्ठस्थ कर लिया हो वह जिस समय उपयोग रहित हो, उस समय उसे द्रव्यावश्यक कहते हैं। द्रव्यावश्यक के सोलह विशेषण हैं-

(१) शिक्षित- सारे आवश्यक सूत्र को सीख लिया हो।

(२) स्थित- हृदय में स्थिर कर लिया हो अर्थात् जमा लिया हो।

(३) जित- जीत लिया हो अर्थात् शीघ्र स्मरण में आने वाला बना लिया हो।

(४) मित- आवश्यक में कितने अक्षर हैं कितने पद हैं, इत्यादि संख्या द्वारा उसके परिमाण को जान लिया हो।

(५) परिजित- इस प्रकार कण्ठस्थ कर लिया हो कि उल्टा फेरने पर भी तत्काल सारा स्मरण में आ जाय।

(६) नामसम- जिस प्रकार अपना नाम स्थिर अर्थात् जमा हुआ होता है उसी प्रकार यदि आवश्यक भी स्थिर हो जाय तो वह नामसम है।

(७) घोषसम- गुरु द्वारा बताए गए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि घोष अर्थात् स्वरों का उन्हीं के समान उच्चारण करके जो ग्रहण किया गया हो उसे घोषसम कहते हैं।

के कारण अधूरा न हो उसे परिपूर्ण कहते हैं।

(१४) परिपूर्णघोष– आवृत्ति करते समय जिसमें उदात्त आदि स्वर पूर्ण हों। सीखते समय उदात्त आदि स्वरों का गुरु के कथनानुसार उच्चारण करना घोषसम है। सीखने के बाद पुनरावृत्ति करते समय स्वरों का ठीक ठीक उच्चारण करना परिपूर्णघोष है।

(१५) कण्ठोष्ठविप्रमुक्त– बालक अथवा गूंगे के समान जो स्वर अव्यक्त न हो। कण्ठ या ओठों में ही शब्द को न रख कर स्पष्ट उच्चारण किया गया हो।

(१६) गुरुवाचनोपगत– गुरु के द्वारा सिखाया गया हो, स्वयं पुस्तक आदि बाँच कर या स्वतन्त्र रूप से सीखा हुआ न हो अथवा छिप कर सुना हुआ न हो।

नोट– अनुयोगद्वार सूत्र मे प्रशस्त के स्थान पर अहीनाक्षर और अनधिकाक्षर दोनों अलग अलग दिए है इसलिए उस अपेक्षा से १७ विशेषण हो जाते है। यहाँ विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार सोलह दिए गए है।

(अनुयोगद्वार सू. १३) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८५१-८५७)

८७३– चन्द्रगुप्त राजा के सोलह स्वप्न

पाँचवें आरे के प्रारम्भ में पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) नगर मे चन्द्रगुप्त राजा राज्य करता था। उसी समय चौदह पूर्वों के धारण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए धर्म का प्रचार कर रहे थे।

चन्द्रगुप्त राजा के प्रियदर्शना नाम की भार्या थी। राजा श्रमणोपासक था। जीव अजीव आदि तत्त्वों का जानकार था। उसकी रग रग में धर्म व्याप रहा था।

एक बार वह पाक्षिक पौषध ग्रहण करके धर्म जागरणा कर रहा था। रात्रि के तीसरे पहर मे जब कुछ जग रहा था और कुछ

(१४) चौदहवें स्वप्न में महामूल्य रत्न को तेज हीन देखा।

फल– भारतवर्ष के साधुओं में चारित्र रूपी तेज घट जाएगा। वे कलह करनेवाले, झगड़ालू, अविनीत, ईर्ष्यालु, संयम में दुःख समझने वाले, आपस में प्रेम भाव थोड़ा रखने वाले, लिंग, प्रवचन और साधर्मिकों का अवगुण निकालने वाले, दूसरे की निन्दा तथा अपनी प्रशंसा करने वाले, संवेगधारी श्रुतधारी तथा सच्चे धर्म के प्ररूपक साधुओं से ईर्ष्या करने वाले अधिक हो जाएंगे।

(१५) १५वें स्वप्न में राजकुमार को बैल की पीठ पर चढ़े देखा।

फल– क्षत्रिय राजा जिनधर्म को छोड़ कर मिथ्यात्व स्वीकार कर लेंगे। त्यागी पुरुष को नहीं मानेंगे। नीच की बातें अच्छी लगेंगी। कुबुद्धि को अधिक मानेंगे तथा दुर्जनों का विश्वास करेंगे।

(१६) सोलहवें स्वप्न में दो काले हाथियों को युद्ध करते देखा।

फल– अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अकालवृष्टि अधिक होगी। पुत्र और शिष्य आज्ञा मे नहीं रहेंगे। देव गुरु तथा माता पिता की सेवा नहीं करेंगे। (हस्तलिखित व्यवहारचूलिका के आधार से)

८७४–महावीर की वसति विषयक १६ गाथाएं

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध, नवम अध्ययन दूसरे उद्देशे मे सोलह गाथाएं है। उनमें भगवान् महावीर ने विहार करते हुए जिन जिन स्थानों पर निवास किया और जैसे आचरण किया उनका वर्णन है। गाथाओं का भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है–

(१) 'विहार करते समय भगवान् महावीर ने जिन जिन स्थानों पर निवास किया तथा जिन शयन और आसनो का सेवन किया उन्हें बताइए।' जम्बू स्वामी द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर सुधर्मा स्वामी ने कहना शुरू किया–

(२) भगवान् किसी समय दीवार वाले सूने घरों में, सभागृह (गाँव में जो स्थान पञ्चायत आदि के लिए अथवा किसी आग-

शब्दों के भयङ्कर उपसर्ग भगवान समितिपूर्वक सहन करते थे।

(१०) भगवान विविध प्रकार के दुःख तथा रति अरति की परवाह न करते हुए, बिना अधिक बोले समिति पूर्वक सदा संयम में लीन रहते थे।

(११) निर्जन स्थान में भगवान को खड़े देख कर लोग अथवा रात्रि के समय व्यभिचारी पुरुष पूछते थे– तुम कौन हो? उस समय भगवान् कुछ नहीं बोलते थे। इस पर वे क्रुद्ध होकर भगवान् को पीटने लगते, किन्तु भगवान् धर्मध्यान में लीन रहते हुए उसे सम-भाव पूर्वक सहन करते थे, किसी के प्रति वैर भावना नहीं रखते थे।

(१२) लोग पूछते थे, अरे! यहाँ कौन खड़ा है? कभी कभी भगवान् उत्तर देते–'मैं भिक्षुक खड़ा हूँ।' यह सुन कर वे कहते– यहाँ से जल्दी चला जा! इसे सुन कर वहाँ से जाना उत्तम समझ कर भगवान् दूसरी जगह चले जाते। अगर वे कुछ न कहते और क्रोध करने लगते तो भगवान् मौन रह कर वहीं खड़े रहते।

(१३-१४-१५) शीत काल में जब ठण्डी हवा जोर से चलने लगती, लोग थर थर काँपने लगते, जब सामान्य साधु सरदी से तंग आकर बिना हवा वाले स्थान, अग्नि या कम्बल आदि की इच्छा करने लगते थे, इस प्रकार जब सरदी भयङ्कर कष्ट देने लगती उस समय भी संयमी भगवान् महावीर निरीह रह कर खुले स्थान में खड़े खड़े शीत को सहन करते थे। यदि रहने के स्थान में शीत अत्यन्त असह्य हो जाता तो रात्रि को थोड़ी देर के लिए बाहर चले जाते थे। मुहूर्त मात्र बाहर घूम कर फिर निवास स्थान मे आकर समभाव पूर्वक शीत को सहते थे।

(१६) निरीह और मतिमान् भगवान् महावीर ने इस प्रकार कठोर आचार का पालन किया। दूसरे मुनियों को भी उन्हीं के समान बर्तना चाहिए। (आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अध्य० ६ उद्देशा ३)

के द्वारा गच्छपाल में नियुक्त किए जाने पर वे पाँच सौ साधुओं के साथ विहार करने लगे। उनके एक भाई का नाम बाहु था। बाहु मुनि लब्धि वाले और उद्यमी थे। वे दूसरे साधुओं की अशन पान आदि के द्वारा सेवा किया करते थे। दूसरे भाई का नाम सुबाहु था। सुबाहु मुनि मन में बिना ग्लानि के स्वाध्याय आदि से थके हुए साधुओं की पगचोंपी आदि द्वारा वैयावच्च किया करते थे। तीसरे और चौथे भाई का नाम पीठ और महापीठ था। वे दिन रात शास्त्रों के स्वाध्याय में लगे रहते थे।

एक दिन आचार्य ने बाहु और सुबाहु की प्रशंसा करते हुए कहा-ये दोनों साधु धन्य हैं जो दूसरे साधुओं की धार्मिक क्रियाओं को अच्छी तरह पूरा कराने के लिए सदा तैयार रहते हैं। यह सुन कर पीठ और महापीठ मन में सोचने लगे- आचार्य महाराज ने लोक व्यवहार के अनुसार यह बात कही है क्योंकि लोक में दूसरे का काम करने वाले की ही प्रशंसा होती है। बहुत बड़ा होने पर भी जो व्यक्ति दूसरे के काम नहीं आता वह कुछ नहीं माना जाता, मन में ऐसा विचार आने से उन्होंने स्त्री जातिनामकर्म को बाँध लिया। आयुष्य पूरी होने पर वे पाँचों भाई सर्वार्थसिद्ध विमान में गए। वहाँ से चव कर वैर चक्रवर्ती का जीव भगवान् ऋषभ देव के रूप में उत्पन्न हुआ। बाहु और सुबाहु भरत और बाहुबली के रूप में उत्पन्न हुए। बाकी दो अर्थात् पीठ और महापीठ ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में उत्पन्न हुए। (पञ्चाशक सोलहवाँ)

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में अयोध्या नाम की नगरी थी। वर्तमान हुँडावसर्पिणी के तीसरे आरे के अन्त में वहाँ नाभि राजा नाम के पंद्रहवें कुलकर हुए। उनके पुत्र भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर, प्रथम राजा, प्रथम धर्मोपदेशक और प्रथम धर्म चक्र-वर्ती थे। उनकी माता का नाम मरुदेवी था। युगलधर्म का उच्छेद

चाहिएं। माता के रहन सहन, भोजन और विचारों का गर्भ पर पूरा असर होता है, इस लिए माता को इस प्रकार रहना चाहिए जिससे स्वस्थ, सुन्दर और उत्तम गुणों वाली सन्तान उत्पन्न हो।

सुमंगला रानी ने अपनी सन्तान को श्रेष्ठ और सद्गुण सम्पन्न बनाने के लिए ऊपर कहे हुए नियमों का अच्छी तरह पालन किया। गर्भ का समय पूरा होने पर शुभ समय में सुमंगला रानी के पुत्र और पुत्री का जोड़ा उत्पन्न हुआ।

सुनन्दा रानी ने भी ऊपर कहे हुए चौदह स्वप्नों में से चार महा-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूरा होने पर उसने भी पुत्र पुत्री के जोड़े को जन्म दिया। इसके बाद सुमंगला रानी ने पुत्रों के उनचास जोड़ों को जन्म दिया। इस प्रकार आदि राजा ऋषभदेव के सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं।

सुमंगला देवी ने जिस जोड़े को पहले पहल जन्म दिया उसमें पुत्र का नाम भरत और पुत्री का नाम ब्राह्मी रक्खा गया। सुनन्दा देवी के पुत्र का नाम बाहुबली और पुत्री का नाम सुन्दरी रक्खा गया।

पुत्र और पुत्री जब सीखने योग्य उमर के हुए तो उनके पिता ऋषभदेव ने अपने उत्तराधिकारी भरत को सभी प्रकार की शिल्प-कला, ब्राह्मी को १८ प्रकार की लिपिविद्या और सुन्दरी को गणित विद्या सिखाई। भरत को पुरुष की ७२ कलाएं और ब्राह्मी को स्त्री की ६४ कलाएं सिखाईं।

ऋषभदेव बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में रहे। इसके बाद ६३ लाख पूर्व तक राज्य किया। एक लाख पूर्व आयुष्य बाकी रहने पर अर्थात् तेरासी लाख पूर्व की आयु होने पर उन्होंने राज्य का कार्य भरत को सम्भला दिया। बाहुबली आदि ९९ पुत्रों को भिन्न भिन्न देशों का राज्य दे दिया। एक वर्ष तक बरसी दान देकर दीक्षा अंगीकार की। एक वर्ष की कठोर तपस्या के

है उनकी आज्ञा मिलने पर मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।

ब्राह्मी भरत के पास आई। उसके सामने अपनी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। भरत ने साधुओं के कठिन मार्ग को बता कर ब्राह्मी को दीक्षा न लेने के लिये समझाना शुरू किया किन्तु ब्राह्मी अपने विचारों पर दृढ़ रही। भरत ने जब अच्छी तरह समझ लिया कि ब्राह्मी अपने निश्चय पर अटल है, उसे कोई भी विचलित नहीं कर सकता तो उसने प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी। भरत महाराज ब्राह्मी को साथ लेकर भगवान् के पास आए और कहने लगे-

भगवन् ! मेरी बहिन ब्राह्मी दीक्षा अंगीकार करना चाहती है। इसने योग्य शिक्षा प्राप्त की है। संसार में रहते हुए भी विषय वासना से दूर रही है। सब प्रकार की सुख सामग्री होने पर भी इसका मन विषय भोगों में नहीं लगता। आपका उपदेश सुन कर इसका संसार से मोह हट गया है। यह जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से छुटकारा पाना चाहती है, इस लिए इसने दीक्षा लेने का निश्चय किया है। दीक्षा का मार्ग कठोर है, यह बात इसे अच्छी तरह मालूम है। इसमे दुःख और कष्टों को सहन करने की पर्याप्त शक्ति है। संयम अंगीकार करने के बाद यह चारित्र का शुद्ध पालन करेगी, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। इसकी दीक्षा के लिए मेरी आज्ञा है। इसे दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। मैं आपको अपनी बहिन की भिक्षा देता हूँ, इसे स्वीकार करके मुझे कृतकृत्य कीजिए।

सब के सामने भरत महाराज के ऐसा कहने पर भगवान् ने ब्राह्मी को दीक्षा दे दी।

(२) सुन्दरी

ब्राह्मी को दीक्षित हुई जान कर सुन्दरी की इच्छा भी दीक्षा लेने की हुई किन्तु अन्तराय कर्म के उदय से भरत ने उसे आज्ञा न दी। आज्ञा न मिलने से वह संयम अंगीकार न कर सकी।

अङ्गीकार कर सकूँ। सुन्दरी सहर्ष दीक्षा ले सकती है। सुन्दरी को इस सुकार्य से रोकना न तो उचित है और न इसकी कोई आवश्यकता ही है अब मैं इसके लिए उसे सहर्ष आज्ञा दे दूँगा।

जिस समय भरत ने यह निश्चय किया, संयोग वश उसी समय तरण तारण, जगदाधार, प्रथम तीर्थङ्कर श्री आदि जिनेश्वर विचरते हुए अयोध्या में पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहर गए।

वनपाल द्वारा भरत को यह समाचार मालूम होते ही वे स्वजन, परिजन और पुरजन सहित बड़े ठाट बाठ के साथ प्रभु को वन्दना करने के लिए उस उद्यान में गए। वहाँ पहुँचते ही छत्र, चमर, शस्त्र, मुकुट और जूते इन पाँच वस्तुओं को अलग रख कर उन्होंने जिनेश्वर भगवान् को भक्ति पूर्वक वन्दना किया। इसके बाद उन का धर्मोपदेश सुनने के लिए वे भी अन्यान्य श्रोताओं के साथ वहीं बैठ गए। भगवान् उस समय बहुत ही मधुर शब्दों में धर्मोपदेश दे रहे थे, उसे सुन कर भरत को बहुत ही आनन्द हुआ।

धर्मोपदेश समाप्त होने पर भरत ने भगवान् से नम्रतापूर्वक कहा—हे जगत्पिता ! मेरी बहिन सुन्दरी आज से साठ हजार वर्ष पहले दीक्षा लेने को तैयार हुई थी, किन्तु मैंने उसके इस कार्य में बाधा देकर उसे दीक्षा लेने से रोक दिया था। उस समय मुझे भले बुरे का ज्ञान न था। अब मुझे मालूम होता है कि मेरा वह कार्य बहुत ही अन्यायपूर्ण था। निःसन्देह अपने इस कार्य से मैं पाप का भागी हुआ हूँ। हे भगवन् ! मुझे बतलाइए कि मैं अब किस तरह इस पाप से मुक्त हो सकता हूँ।

जिनेश्वर भगवान् से यह निवेदन करने के बाद भरत से सुन्दरी को दीक्षा लेने की आज्ञा देते हुए उससे क्षमा प्रार्थना की। सुन्दरी ने उनका यह पश्चात्ताप देख कर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—मुझे दीक्षा लेने में जो विलम्ब हुआ है उसमें कर्मों का ही दोष है,

इतने में इन्द्र ने स्वर्ग से आकर कहा—तुम लोग व्यर्थ सेना का संहार क्यों कर रहे हो? अगर तुम्हें लड़ना ही है तो तुम दोनों पञ्च-युद्ध करो। दोनों भाइयों ने इन्द्र की बात को मान लिया। सेनाओं द्वारा लड़ने से होने वाले रक्तपात को व्यर्थ समझ कर पाँच प्रकार से मल्लयुद्ध करने का निश्चय किया। पहले के चार युद्धों में बाहुबली की जीत हुई, फिर मुष्टि युद्ध की बारी आई। बाहुबली की भुजाओं में बहुत बल था। उसे अपनी विजय पर विश्वास था। भरत के मुष्टिप्रहार को उसने समभाव से सह लिया। इसके बाद स्वयं प्रहार करने के लिए मुष्टि उठाई। उसी समय शक्रेन्द्र ने उसे पकड़ लिया और बाहुबली से कहा—बाहुबली! यह क्या कर रहे हो! बड़े भाई पर हाथ चलाना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुच्छ राज्य के लिए क्रोध के वशीभूत होकर तुम कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हो, यह मन में सोचो।

बाहुबली की मुष्ठि उठी की उठी ही रह गई। उनके मन में पश्चात्ताप होने लगा। वे मन में सोचने लगे— 'जिस राज्य के लिए इस प्रकार का अनर्थ करना पड़े वह कभी सुखदायक नहीं हो सकता। इस लिए इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। वास्तविक सुख तो संयम से प्राप्त हो सकता है।' यह सोच कर उन्होने संयम लेने का निश्चय कर लिया।

उठाई हुई मुष्ठि को वापिस लेना अनुचित्त समझ कर बाहुबली उसी मुष्ठि द्वारा अपने सिर का पंचमुष्टि लोच करके वन में चले गए। वहाँ जाकर ध्यान लगा लिया। अभी तक उनके हृदय से अभिमान दूर न हुआ था। मन में सोचा— मेरे छोटे भाइयों ने भगवान् के पास पहले से दीक्षा ले रक्खी है। यदि मैं अभी भगवान् के दर्शनार्थ गया तो उन्हे भी वन्दना करनी पड़ेगी। यह सोच कर वे भगवान् को वन्दना

हमें आपके पास भेजा है। आप हाथी पर चढ़े बैठे हैं। जरा नीचे उतरिए। आपने राज्य का लोभ छोड़ कर संयम तो धारण किया किन्तु छोटे भाइयों को वन्दना न करने का अभिमान आ गया। इसी कारण इतने दिन ध्यान में खड़े रहने पर भी आपको केवल ज्ञान नहीं हुआ। इस लम्बे और कठोर ध्यान से आपका शरीर कैसा कृश हो गया है। पक्षियों ने आपके कन्धों पर घोंसले बना लिए। डाँसों, मच्छरों और मक्खियों ने शरीर को चलनी बना दिया किन्तु आप ध्यान से विचलित न हुए। ऐसा उग्र तप करते हुए भी आपने अभिमान को आश्रय क्यों दे रक्खा है? यह अभिमान आपकी महान् करणी को सफल नहीं होने देता।

साध्वी वचन सुणी करी, चमक्या चित्त मझारो रे।
हय, गय, रथ, पायक छाँडिया, पर चढ़ियो अहंकारो रे॥
वैरागे मन वालियो, मूक्यो निज अभिमानो रे।
चरण उठाया वन्दवा, पाया केवल ज्ञानो रे॥

अपनी बहिनों के सन्देश को सुन कर बाहुबली चौंक पड़े। मन ही मन कहने लगे क्या मैं सचमुच हाथी पर बैठा हूँ? हाथी, घोड़े, राज्य, परिजन आदि सब को छोड़ कर ही मैंने दीक्षा ली थी। फिर हाथी की सवारी कैसी? हाँ अब समझ में आया। मैं अहंकार रूपी हाथी पर बैठा हूँ। मेरी बहिनें ठीक कह रही हैं। मैं कितने भ्रम में था। छोटे और बड़े की कल्पना तो सांसारिक जीवों की है। आत्मा अनादि और अनन्त है। फिर उसमें छोटा कौन और बड़ा कौन? आत्मजगत् में वही बड़ा है जिसने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। संसारावस्था में छोटे होने पर भी मेरे भाइयों ने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। मेरी आत्मा में अब भी अहङ्कार भरा हुआ है, बहुत से दोष हैं। इस लिए वास्तव में वे ही मुझ से बड़े हैं। मुझे उन्हें नमस्कार करना चाहिए।

कर वे उसे कर्तव्य भार मानते थे। परस्पर सहयोग से प्रजा का पालन करते हुए दोनों अपने जीवन को सुखपूर्वक बिता रहे थे।

कुछ दिनों बाद धारिणी ने एक महान् सुन्दरी कन्या को जन्म दिया। उज्ज्वल रूप तथा शुभ लक्षणों वाली उस पुत्री के जन्म से माता पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। बड़े समारोह के साथ उसका जन्मोत्सव मनाया। माता पिता ने कन्या का नाम वसुमती रक्खा।

उसे देख कर धारिणी सोचा करती थी कि वसुमती को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वह अपने कल्याण के साथ मानव समाज का भी हित कर सके। बचपन से ही उसे नम्रता, सरलता आदि गुणों की शिक्षा मिलने लगी। उसमें धर्म तथा न्याय के दृढ़ संस्कार जमाए जाने लगे। जैसे जैसे बड़ी हुई उसे दूसरी बातें भी सिखाई जाने लगीं। संगीत, पढ़ना, लिखना, सीना, पिरोना, भोजन बनाना, घर संवारना आदि स्त्री को सभी कलाओं में वह प्रवीण हो गई। उसकी बोली, उसका स्वभाव और उसका रहन सहन सभी को प्रिय लगता था। उसे देख कर सभी प्रसन्न हो उठते थे। सखियाँ उसे देवी मानती थीं। धारिणी उसे देख कर फूली न समाती थी।

धीरे धीरे वसुमती ने किशोरावस्था में प्रवेश किया। उसके शरीर पर यौवन के चिह्न प्रकट होने लगे। गुण और सौन्दर्य एक दूसरे की होड़ करने लगे। सखियाँ वसुमती के विवाह की बातें करने लगीं किन्तु उसके हृदय में अब भी वही कुमार-सुलभ सरलता तथा पवित्रता थी। वासना उसे छूई तक न थी। उसके मुख पर वही बचपन का भोलापन था। चेहरे पर निर्दोष हँसी थी। अपने गुणों से दूसरों को मोहित कर लेने पर भी उसका मन अभिमान से सर्वथा शून्य था, जैसे अपने उन गुणों से वह स्वयं अपरिचित थी।

राजा दधिवाहन को वसुमती के लिए योग्य वर खोजने की हुई किन्तु धारिणी वसुमती से जगत्कल्याण की आशा

और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगी।

प्रातःकाल होते ही वसुमती की सखियाँ उसे जगाने के लिए महल में आई किन्तु वसुमती वहा न मिली। ढूंढती ढूंढती वे अशोकवाटिका में चली आई। वहां उसे चिन्तित अवस्था में बैठी हुई देख कर आपस में कहने लगीं– वसुमती को अब अकेली रहना अच्छा नहीं लगता। वह किसी योग्य साथी की चिन्ता कर रही है। वे सब मिल कर वसुमती से विवाह सम्बन्धी तरह तरह के मजाक करने लगीं।

वसुमती को उनकी अज्ञानता पर दया आगई। वह सोचने लगी– स्त्री समाज का हृदय कितना विकृत हो गया है। उसे इतना भी ज्ञान नहीं है कि विवाह के सिवाय भी चिन्ता का कोई कारण हो सकता है। उसने सखियों को फटकारते हुए कहा– जन्म से एक साथ रहने पर भी तुम मुझे न समझ सकीं। मुझे भी अपने समान तुच्छ विचारों वाली समझ लिया है। विवाह न करने का तो मैं निश्चय कर चुकी हूँ फिर उससे सम्बन्ध रखने वाली कोई चिन्ता मेरे मन में आ ही कैसे सकती है?

मेरे विचार में प्रत्येक स्त्री पुरुष पर तीन व्यक्तियों के ऋण है– माता, पिता और धर्माचार्य। सासू, श्वसुर, पति आदि का ऋण भी स्त्री पर होता है किन्तु उसे करना या न करना अपने हाथ की बात है। पहले तीन ऋण तो प्रत्येक प्राणी पर होते हैं। उन्हें चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। मेरी माता ने मुझे शिक्षा दी है की धर्म और समाज की सेवा द्वारा इन ऋणों को अवश्य चुकाना। मनुष्य जन्म बार २ नहीं मिलता। विषयभोग में उसे गँवा देना मूर्खता है। मानव जीवन का उद्देश्य परमार्थ ही है। जो कन्या पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकती लिए विवाह का विधान है। जो ब्रह्मचर्य का पालन

वह प्राणिमात्र से मित्रता चाहता था, उन पर आधिपत्य नहीं।

शतानीक के विचार इसके सर्वथा विपरीत थे। वह दिन रात राज्य को बढ़ाने की चिन्ता में लगा रहता था। न्याय और धर्म का गला घोट कर भी वह राज्य और वैभव बढ़ाना चाहता था। जनता पर आतङ्क जमा कर शासन करना अपना धर्म समझता था। अपनी राज्यलिप्सा को पूर्ण करने के लिए निर्दोष प्राणियों को कुचलना, उनके खून से होली खेलना खेल समझता था।

शतानीक की दृष्टि में समृद्ध चम्पापुरी सदा खटका करती थी। न्याय पूर्वक राज्य करने से फैलने वाली दधिवाहन की कीर्ति भी उसके लिए असह्य हो उठी थी। ईर्ष्यालु जब गुणों द्वारा अपने प्रतिस्पर्द्धी को नहीं जीत सकता तो वह उसे दूसरे उपायों से नुकसान पहुँचाने की चेष्टा करता है किन्तु उससे उसकी अपकीर्ति ही बढ़ती है, वह अपने स्वार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता।

दधिवाहन या चम्पापुरी पर किसी प्रकार का दोष मढ़ कर उस पर चढ़ाई कर देने की चालें शतानीक अपने मन्त्रिमण्डल के साथ सोचा करता था। अपनी बुरी कामना को पूर्ण करने के लिए दूसरे पर किसी प्रकार का अपवाद लगा देना, उसे अपराधी बता कर इच्छित वस्तु पर अधिकार जमा लेना, उसे नीचा दिखाने के लिए कोई झूठा दोष मढ़ देना तथा मनमानी करते हुए भी स्वयं निर्दोष बने रहना शतानीक की दृष्टि में राजनीति थी।

चम्पापुरी का राज्य हड़पने के लिए शतानीक कोई बहाना ढूँढ रहा था, किन्तु दधिवाहन के हृदय में युद्ध करने या किसी का राज्य छीनने की बिल्कुल इच्छा न थी। आस पास के सभी राजाओं से उसकी मित्रतापूर्ण सन्धि थी। इस लिए न उसे किसी शत्रु का डर था और न उससे किसी दूसरे को भय था। इसी कारण से उसने राज्य के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए थोड़ी सी सेना रख

इसके लिए मैंने आप से पहले भी निवेदन किया था। हम लोगों ने सदा शान्ति के लिए प्रयत्न किया किन्तु वह हमारी इस इच्छा को कायरता समझता रहा। अब एक ही उपाय है कि शत्रु का सामना करके उसे बता दिया जाय कि चम्पा पर चढ़ाई कोई हँसी खेल नहीं है। जब तक शत्रु को पराजित न किया जाएगा वह मानने का नहीं। शान्ति की बातों से उसका उत्साह दुगुना बढ़ता है। दूसरे मन्त्रियों ने भी युद्ध करने की ही सलाह दी।

मन्त्रियों की बात सुन कर राजा कहने लगा– वर्तमान राजनीति के अनुसार तो हमें युद्ध ही करना चाहिए, किन्तु इसके भयङ्कर परिणाम पर भी विचार करना आवश्यक है। शतानीक ने राज्य के लोभ में पड़ कर आक्रमण किया है। लोभी न्याय और अन्याय को भूल जाता है। अगर हम उसका सामना करें तो व्यर्थ ही लाखों मनुष्य मारे जाएंगे। अगर चम्पा का राज्य छोड़ देने पर यह नरहत्या बच जाय तो क्यों इस भयङ्कर पाप को किया जाय?

मन्त्री– महाराज! शत्रु द्वारा आक्रमण हो जाने पर धर्म की बातें करना कायरता है ऐसे मौके पर क्षत्रिय का यह कर्तव्य है कि शत्रु का सामना करे।

राजा– क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना नहीं है। उसका धर्म न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करना है। अन्याय और अधर्म को हटाने के लिए जो अपने प्राणों को त्याग सकता है वही असली क्षत्रिय है। क्षात्रत्व हिंसा में नहीं है किन्तु अहिंसा में है। यदि शतानीक को न्याय और नीति के लिये समझाया जाय तो सम्भव है, वह मान जाय। इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए मैं स्वयँ शतानीक के पास जाऊँगा।

मन्त्रियों के विरोध करने पर भी दधिवाहन ने शतानीक के पास अकेले जाने का निश्चय कर लिया।

विचार कीजिये। लाखों निर्दोष मनुष्य आपस में कट कर समाप्त हो जाते हैं। हजारों बहनें विधवा हो जाती हैं। देश नवयुवकों से खाली हो जाता है चारों ओर बालक, वृद्ध और अबलाओं की करुण पुकार रह जाती है। एक व्यक्ति की लिप्सा का परिणाम यह महान् संहार कभी न्याय नहीं कहा जा सकता। हिंसा राक्षसी वृत्ति है। उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। आपका जरासा सन्तोष इस भीषण हत्याकाण्ड को बचा सकता है।

शतानीक– मुझे सन्तोष की आवश्यकता नहीं है। राजनीति राजा को सन्तोषी होने का निषेध करती है। पृथ्वी पर वे ही शासन करते हैं जो वीर हैं, शक्तिशाली हैं। क्षत्रियों के लिए तलवार ही न्याय है और अपनी राज्यलिप्सा रूपी अग्नि को सदा प्रज्वलित रखना ही उनका धर्म है।

दधिवाहन को निश्चय हो गया कि शतानीक लोभ में पड़ कर अपनी बुद्धि को खो बैठा है। इस प्रकार की बातें करके वह मुझे युद्ध के लिए उत्तेजित करना चाहता है लेकिन इसके कहने पर क्रोध में आकर विवेक खो बैठना बुद्धिमत्ता नहीं है। गम्भीरतापूर्वक विचार करके मुझे किसी प्रकार युद्ध को रोकना चाहिए।

दधिवाहन को विचार में पड़ा देख कर शतानीक ने कहा– आप सोच क्या कर रहे हैं ? यदि शक्ति हो तो हमारा सामना कीजिए। यदि युद्ध से डर लगता है तो आत्मसमर्पण करके हमारी अधीनता स्वीकार कर लीजिए। यदि दोनों बातें पसन्द नहीं हैं तो यहाँ क्यों आए? सीधा जंगल में भाग जाना चाहिए था। इस प्रकार न्याय की दुहाई देकर अपनी कायरता को छिपाने से क्या लाभ ?

दधिवाहन ने निश्चय कर लिया कि जब तक शतानीक का लोभ शान्त न किया जाय, युद्ध नहीं टल सकता। इसके लिए है कि मैं राज्य छोड़ कर वन में चला जाऊँ। यदि

चम्पा नगरी के पास पहुँचने पर उसे मालूम पड़ा कि दधिवाहन की सेना सामना करने के लिए तैयार खड़ी है। शतानीक ने भी अपनी सेना को युद्ध की आज्ञा दे दी। दोनों सेनाओं में घमासान संग्राम छिड़ गया। दधिवाहन की सेना बड़ी वीरता से लड़ी किन्तु शतानीक की सेना के सामने मुट्ठी भर बिना नायक की फौज कितनी देर ठहर सकती थी। शतानीक की सेना से परास्त हो कर उसे रणभूमि छोड़ कर भागना पड़ा।

चम्पानगरी के दरवाजे तोड़ दिए गए। शतानीक की सेना लूट मचाने लगी। सारे नगर में हाहाकार मच गया। सैनिकों का विरोध करना साक्षात् मृत्यु थी। पाशविकता का नग्न ताण्डव होने लगा किन्तु उसे देख कर शतानीक प्रसन्न हो रहा था। राक्षसी वृत्ति अपना भीषण रूप धारण करके उसके हृदय में पैठ चुकी थी।

चम्पापुरी में एक ओर तो यह नृशंस काण्ड हो रहा था दूसरी ओर महल में बैठी हुई महारानी धारिणी वसुमती को उपदेश दे रही थी। दधिवाहन का राज्य छोड़ कर चले जाना, अपनी सेना का हार जाना, शतानीक के सैनिकों का नगरी में प्रवेश तथा लूट मार आदि सभी घटनाएं धारिणी को मालूम हो चुकी थीं किन्तु उसने धैर्य नहीं छोड़ा। सेवकों ने आकर खबर दी कि राजमहल भी सिपाहियों द्वारा लूटा जाने वाला है, किन्तु धारिणी ने फिर भी धैर्य नहीं छोड़ा। वह वसुमती को कहने लगी— बेटी! तेरे स्वप्न का एक भाग तो सत्य हो रहा है। चम्पापुरी दुःखसागर में डूबी हुई है। तेरे पिता वन मे चले गए है। यह समय हमारी परीक्षा का है। इस समय घबराना ठीक नहीं है। धर्म यह सिखाता है कि भयंकर विपत्ति को भी अपने कर्मों का फल समझ कर धैर्य रखना चाहिए। ऐसे समय में धैर्य त्याग देने वाला कभी जीवन में सफल

का दूसरा भाग सत्य करने का उत्तर-

रथी अपने मन में भावी सुखों की कल्पना करता हुआ रथ के चारों ओर परदा डाल कर उसे हाँकने लगा। नगरी की ओर जाना उचित न समझ उसने सीधे वन की ओर प्रस्थान किया। रथी अपनी हवाई उमङ्गों तथा भविष्य की सुखद कल्पनाओं में डूबा हुआ रथ को हाँके चला जा रहा था और अन्दर बैठी हुई धारिणी वसुमती को उपदेश दे रही थी– बेटी! यह समय घबराने का नहीं है। तुम्हारे पिता तो हमें छोड़ कर चले ही गए। यह भी पता नहीं है कि मुझे भी तेरा साथ कब छोड़ देना पड़े, इसलिए तुम्हें वीरता पूर्वक प्रत्येक विपत्ति का सामना करने के लिए अपने ही पैरों पर खड़ी होना चाहिए। वीर अपनी रक्षा स्वयं करता है किसी दूसरे की सहायता नहीं चाहता। अपने स्वप्न के दूसरे भाग को भी तुम्हें अकेली ही पूरा करना पड़ेगा। चम्पापुरी में लाखों मनुष्यों का रक्त बहा है। निर्दोष प्रजा को लूटा गया है। चम्पापुरी पर लगे हुए इस कलङ्क को मिटाना ही उसका उद्धार है। उसका यह कलङ्क फिर युद्ध करने से न मिटेगा। युद्ध से तो वह दुगुना हो जायगा। इस लिए तुम्हें अहिंसात्मक संग्राम की तैयारी करनी चाहिए। इस संग्राम में विजय ही विजय है, कोई पराजित नहीं होता। इसमे दोनो शत्रु मिल कर एक हो जाते है, फिर पराजय का प्रश्न ही खड़ा नही होता।

हिंसात्मक युद्ध की अपेक्षा अहिंसात्मक युद्ध में अधिक वीरता चाहिए। इसके लिए लड़ने वाले मे नीचे लिखी बातें बहुत अधिक मात्रा में चाहिएं। इस युद्ध में सब से पहले अपार धैर्य की आवश्यकता है। भयङ्कर से भयङ्कर कष्ट आने पर भी धैर्य छोड़ देने वाला अहिंसात्मक युद्ध नहीं कर सकता। सहिष्णुता के साथ भावना का पवित्र रह[illegible] से वैर न रखना, भय रहित होना तथा सतत [illegible] है। अहिंसात्मक युद्ध

तो भी मैं तो तुम्हें अपना भाई ही समझूंगी। मैं क्षत्राणी हूँ, अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकती।

यह कह कर धारिणी ने रथी के सब प्रलोभन ठुकरा दिए। रथी का मस्तक एक बार तो लज्जा से झुक गया किन्तु उसे काम ने अन्धा बना रक्खा था। धर्म अधर्म, पाप पुण्य या न्याय अन्याय की बातों का उस पर कोई असर न पड़ा।

रथी ने दधिवाहन को कायर, डरपोक और भगोड़ा बता कर रानी पर अपनी वीरता का सिक्का जमाने की चेष्टा की किन्तु वह भी बेकार गई। इन सब उपायों के व्यर्थ हो जाने पर उसने बलप्रयोग करने का निश्चय किया। धारिणी रथी के भावों को समझ गई। रथी बलपूर्वक अपनी वासना पूर्ण करने के लिए उठा ही था कि धारिणी ने अपनी जीभ पकड़ कर बाहर खींच ली। उसके मुँह से खून की धारा बहने लगी। प्राणपखेरू उड़ गए। निर्जीव शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अपने बलिदान द्वारा धारिणी ने वसुमती तथा समस्त महिलाजगत् के सामने तो महान् आदर्श रक्खा ही,साथ हीसे सारथी के जीवन को भी एकदम पलट दिया। कामान्ध होने के कारण जिस पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा उसे आत्मोत्सर्ग द्वारा सत्य का मार्ग सुझा दिया। क्रूरता और कामलिप्सा को छोड़ कर वह दयालु और सदाचारी बन गया। महान् आत्माएं जिस कार्य को अपने जीवित काल में पूरा नहीं कर सकतीं उसे आत्मबलिदान द्वारा पूरा करती है।

धारिणी के प्राणत्याग को देख कर रथी भौंचक्का सा रह गया। वह कर्तव्यमूढ़ हो गया। उसे यह आशा न थी कि धारिणी इस [illegible] त्याग देगी। वह अपने को एक महासती का हत्यारा [illegible] के कारण उसका हृदय भर आया। अपने [illegible] शोक करता हुआ वह वहीं बैठ गया।

इसके रूप पर मोहित हो गए हैं। उसे अपने पति पर सन्देह हो गया किन्तु किसी प्रमाण के बिना कुछ कहने का साहस न कर सकी।

वसुमती के आते ही रथी के घर का रंग ढंग बिल्कुल बदल गया। सब चीजें साफ सुथरी और व्यवस्थित रहने लगीं। नौकर चाकर तथा परिवार के सभी लोग प्रसन्न रहने लगे। वसुमती के गुणों से आकृष्ट होकर सभी लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। रथी उसके गुणों को बखानते न थकता था। उसकी स्त्री को अब कुछ भी काम न करना पड़ता था फिर भी उसकी आँखों में वसुमती सदा खटका करती थी। वह सोच रही थी, मेरे पति दिन प्रति दिन वसुमती की ओर झुक रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि वह मेरा स्थान छीन ले। इस लिए जितना शीघ्र हो सके, इसे घर से निकाल देना चाहिए। मन में यह निश्चय करके वह मौका ढूँढने लगी।

वसुमती घर के काम में इतनी व्यस्त रहती थी कि अपने खान पान का भी ध्यान न था। किसी काम में किसी प्रकार की गल्ती न होने देती थी। इतने पर भी रथी की स्त्री उसके प्रत्येक काम में गल्ती निकालने की चेष्टा करती। उसके किए हुए काम को स्वयं बिगाड़ कर उसी पर दोष मढ़ देती। इतने पर भी वसुमती क्षुब्ध न होती। वह उत्तर देती—माताजी! भूल से ऐसा हो गया। भविष्य में सावधान रहूँगी। रथी की स्त्री को विश्वास था कि इस प्रकार प्रत्येक कार्य में गल्ती निकालने पर वसुमती या तो स्वयं तंग हो कर चली जाएगी या किसी दिन मेरा विरोध करेगी और मैं स्वयं झगड़ा खड़ा करके इसे घर से निकलवा दूँगी किन्तु उसका यह उपाय व्यर्थ गया। वसुमती ने क्रोध पर विजय प्राप्त कर रक्खी थी, इस लिए सारथी की स्त्री के कड़वे वचन और झूठे आरोप उसे विचलित न कर सके।

वसुमती की कार्यव्यस्तता देख कर एक दिन सारथी ने उसे

वसुमती ने सोचा—मेरे कारण ही यह विरोध खड़ा हुआ है। इस लिए मुझे ही इसे निपटाना चाहिए। यह सोच कर वह रथी की स्त्री से कहने लगी— माताजी ! आपको घबराने की आवश्यकता नहीं है। आप की इच्छा शीघ्र पूरी हो जायगी।

इसके बाद उसने रथी से कहा— पिताजी ! इसमें नाराज होने की कोई बात नहीं है, अगर माताजी बीस लाख मोहरें लेकर मुझे छुटकारा दे रही है तो यह मेरे लिए हर्ष की बात है। इनका तो मुझ पर महान् उपकार है। इनका सन्देह दूर करना भी हम दोनों के लिए जरूरी है इस लिए आप मेरे साथ बाजार में चलिए और मुझे बेच कर माताजी का सन्देह दूर कीजिये। अगर आपको मेरे सतीत्व पर विश्वास है तो कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

रथी वसुमती को छोड़ना नहीं चाहता था किन्तु वसुमती ने अपने व्यवहार और उपदेश द्वारा उसे इतना प्रभावित कर रक्खा था कि वह उसे अपनी आराध्य देवी मानता था। बिना कुछ कहे उसकी बात को मान लेता था। वह बोला— बेटी ! मेरा दिल तो नहीं मानता कि तुम सरीखी मङ्गलमयी साध्वी सती कन्या को अलग करूँ किन्तु तुम्हारे सामने कुछ भी कहने का साहस नहीं होता, इस लिए इच्छा न होने पर भी मान लेता हूँ। मुझे दृढ विश्वास है, तुम जो कुछ कहोगी उससे सभी का कल्याण होगा।

रथी और वसुमती बाजार के लिए तैयार हो गए। वसुमती ने रथी की स्त्री को प्रणाम किया और कहा मेरे कारण आपको बहुत कष्ट हुआ है इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। उसने परिवार के सभी लोगों से नम्रता पूर्वक विदा ली, दासी के कपड़े पहने और रथी के साथ बाजार का रास्ता लिया।

बाजार के चौराहे मे खड़ी होकर वसुमती स्वयं चिल्लाने लगी—

के लिए आगे बढ़ी। वसुमती कुछ पीछे हट गई।

रथी अब तक अलग खड़ा हुआ केवल बातें सुन रहा था। वसुमती की दुर्दशा देख कर उसे अपनी स्त्री पर क्रोध आ रहा था। उसे पकड़ने के लिए वेश्या को आगे बढ़ती देख कर उससे न रहा गया। म्यान से तलवार निकाल कर कड़कते हुए बोला– सावधान! इसकी इच्छा के बिना अगर मेरी बेटी को हाथ लगाया तो तुम्हारी खैर नहीं है। यह कहकर वह वसुमती के पास खड़ा हो गया।

हाथ में नंगी तलवार लिए हुए कुपित रथी के भीषण रूप को देख कर वेश्या डर गई। भय से पीछे हट कर वह चिल्लाने लगी– देखो! ये मुझे तलवार से मारते हैं। जब लड़की बिक चुकी है तो अब इन्हें बोलने का क्या अधिकार है? इन्हे केवल कीमत लेने से मतलब है और मैं पूरी कीमत देने के लिए तैयार हूँ, फिर इन्हे बीच में पड़ने का क्या अधिकार है। वेश्या के समर्थक भी उसके साथ चिल्लाने लगे। रथी को आगे बढ़ते देख कर कुछ लोग उसकी ओर भी बोलने लगे। दोनों दल तन गए। झगड़ा बढ़ने लगा।

वसुमती ने सोचा–दोनों पक्ष अज्ञानता के कारण एक दूसरे के रक्त पिपासु बने हुए है। क्रोधवश एक दूसरे को मारने के लिए उद्यत है। एक दल तो अपने स्वार्थ, वासना और लोभ मे पड़ कर अन्धा हो रहा है, इस समय उसे किसी प्रकार नहीं समझाया जा सकता, किन्तु दूसरा पक्ष न्याय की रक्षा के लिए हिंसा का आश्रय ले रहा है। धर्म की रक्षा के लिए अधर्म की शरण ले रहा है। क्या धर्म अपनी रक्षा स्वयं नही कर सकता? क्या पाप की अपेक्षा वह निर्बल है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। धर्म अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है। उसे अधर्म का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। धर्म की तो सदा विजय होती है फिर वह पाप को शरण क्यों ले। हिंसा पाप है। न्याय की रक्षा के लिए उसकी

वसुमती को उठाने के लिए वह आगे बढ़ी। इतने में बहुत से बन्दर वेश्या पर टूट पड़े। उसके शरीर को नोच डाला। वेश्या सहायता के लिए चिल्लाई किन्तु उसके नौकर तथा समर्थक बन्दरों से डरकर पहले ही भाग चुके थे। कोई उसकी सहायता के लिए न आया।

बन्दरों ने वेश्या को लोहूलुहान कर दिया। उसके करुण चीत्कार को सुन कर वसुमती से न रहा गया। उसने बन्दरों को डाट कर कहा—हटो! माता को छोड़ दो। इसे क्यों कष्ट दे रहे हो? वसुमती के डाटते ही सभी बन्दर भाग गए।

वेश्या के पास आकर वसुमती ने उसे उठाया और सान्त्वना देते हुए उसके शरीर पर हाथ फेरा। वेश्या के सारे शरीर में भयङ्कर वेदना हो रही थी किन्तु वसुमती का हाथ लगते ही शान्त हो गई।

कृतज्ञता के भार से दबी हुई वेश्या आँखें नीची किए सोच रही थी कि अपकारी का भी उपकार करने वाली यह कोई देवी है। इसके हाथ का स्पर्श होते ही मेरी सारी पीड़ा भाग गई। वास्तव में यह कोई महासती है।

बन्दरों के चले जाने पर वेश्या के परिजन और समर्थक फिर वहाँ इकट्ठे हो गए और विविध प्रकार से सहानुभूति दिखाने लगे। वेश्या के हृदय में वसुमती द्वारा किया हुआ उपकार घर कर चुका था इस लिए सूखी सहानुभूति उसे अच्छी न लगी।

अपने व्यवहार पर लज्जित होते हुए वेश्या ने वसुमती से कहा— देवि! सांसारिक वासनाओं में पली हुई होने के कारण मैं आपके वास्तविक स्वरूप को न जान सकी। मैंने आपकी शिक्षा को मजाक समझा, सदाचार को ढोंग समझा। धर्म, न्याय और सतीत्व का मेरे हृदय में कोई स्थान न था। इसी कारण अज्ञानतावश मैंने आपके साथ दुर्व्यवहार किया। अहिंसा और सतीत्व का साक्षात् आदर्श रख कर आपने मेरी आँखें खोल दीं। मैं आपके ऋण से कभी मुक्त

तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे यहाँ तुम्हारे सत्य और शील के पालन में किसी प्रकार की बाधा न होगी।

वसुमती धनावह सेठ के साथ जाने को तैयार हो गई और रथी से कहने लगी– पिताजी ! आप मेरे साथ चलिए और बीस लाख मोहरें लाकर माताजी को दे दीजिए।

रथी के हृदय में अपार दुःख हो रहा था। उसके पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे। धीरे धीरे सभी धनावह सेठ के घर आए। धनावह ने तिजोरी से बीस लाख मोहरें निकाल कर रथी के सामने रख दीं और कहा– आप इन्हें ले लीजिए।'

रथी ने कहा– सेठ साहेब ! अपनी इस पुत्री को अलग करने की मेरी इच्छा नहीं है किन्तु मेरे घर के कलुषित वातावरण में यह नहीं रहना चाहती। अगर इसकी इच्छा है तो आपके घर रहे किन्तु इसे बेचकर मैं पाप का भागी नहीं बनना चाहता। धनावह सेठ मोहरें देना चाहता था किन्तु रथी उन्हें लेना नहीं चाहता था।

यह देखकर वसुमती रथी से कहने लगी– सेठजी और आप दोनों मेरे पिता है। मैं दोनो की कन्या हूँ। इस नाते आप दोनो भाई भाई है। भाइयो मे खरीदने और बेचने का प्रश्न ही नहीं होता। बीस लाख मोहरें आप अपने भाई की तरफ से माताजी को भेट दे दीजिए। यह कह कर उसने धनावह सेठ के नौकरों द्वारा मोहरें रथी के घर पहुँचवा दीं। रथी और धनावह सेठ का सम्बन्ध सदा के लिए दृढ़ हो गया।

धनावह सेठ की पत्नी का नाम मूला था। उसका स्वभाव सेठ के सर्वथा विपरीत था। सेठ जितना नम्र, सरल, धार्मिक और दयालु था, मूला उतनी ही कठोर, कपटी और निर्दय थी। सेठ दया, दान आदि धार्मिक कार्यों को पसन्द करता था किन्तु मूला को इन सब बातों से घृणा थी।

सेठजी नहीं चाहते थे कि एक सती स्त्री से जिसे अपनी पुत्री मान लिया है, पैर धुलवाए जॉय। उन्होंने चन्दनबाला से बहुत कहा कि पैर धोने का कार्य उसके योग्य नहीं है किन्तु चन्दनबाला सेवा के कार्य को छोटा न मानती थी। वह इसे उच्च और आदर्श कर्तव्य समझती थी। पिता के पैर धोना वह अपना परम सौभाग्य मानती थी। उसने सेठजी को मना लिया और पैर धोने बैठ गई।

पैर धोते समय चन्दनबाला यह सोच कर बहुत प्रसन्न हो रही थी कि उसे पितृसेवा का अपूर्व अवसर मिला। सेठजी चन्दनबाला को अपनी निजी सन्तान समझ कर वात्सल्य प्रेम से गद्गद हो रहे थे। उनके मुख पर अपत्यस्नेह स्पष्ट झलक रहा था। चन्दनबाला और सेठ दोनों के हृदयों में पवित्र प्रेम का संचार हो रहा था।

पैर धोते समय सिर के हिलने से चन्दनबाला के बाल उसके मुंह पर आ रहे थे जिससे उसकी दृष्टि अवरुद्ध हो जाती थी। सेठजी ने उन बालों को उठा कर पीछे की ओर कर दिया।

मूला इस दृश्य को देख रही थी। हृदय मलीन होने के कारण प्रत्येक बात उसे उल्टी मालूम पड़ रही थी। सेठ को चन्दनबाला के केश ऊपर करते देख कर वह जल भुन कर रह गई। उसे विश्वास हो गया कि सेठ का चन्दनबाला के साथ अनुचित सम्बन्ध है। उसे घर से निकाल देने के लिए वह उपाय सोचने लगी।

मूला का व्यवहार चन्दनबाला के प्रति बहुत कठोर हो गया। उसके प्रत्येक कार्य में दोष निकाले जाने लगे। बात २ पर डाट पड़ने लगी, किन्तु चन्दनबाला इस प्रकार विचलित होने वाली न थी। वह मूला की प्रत्येक बात का उत्तर शान्ति और नम्रता के साथ देती। अपना दोष न होने पर भी उसे मान लेती और क्षमा याचना कर लेती। मूला झगड़ा करके वसुमती को निकालने में सफल न हुई। वह कोई दूसरा उपाय सोचने लगी।

ने और भी कठोर दण्ड देने का निश्चय किया। चन्दनबाला के सारे कपड़े उतार लिए और पुराने मैले कपड़े की एक काछ लगा दी। हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डाल दी। इसके बाद एक पुराने भौंरे (तहखाने, तलघर) में उसे बन्द करके ताला लगा दिया। मूला को विश्वास हो गया कि चन्दनबाला वहीं पड़ी २ मर जाएगी। उसे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि सौत बन कर उसके सुख सुहाग में बाधा डालने वाली अब नहीं रही।

इतने में उसके हृदय में भय का संचार हुआ। सोचने लगी-अगर कोई यहाँ आगया और चन्दनबाला के विषय में पूछने लगा तो क्या उत्तर दिया जाएगा? मकान के ताला बन्द करके वह अपने पीहर चली गई। सोचा-तीन चार दिन तो यह बात ढकी ही रहेगी, बाद में कह दूँगी कि वह किसी के साथ भाग गई।

भौंरे मे पड़े २ चन्दनबाला को तीन दिन हो गए। उस समय उसके लिए भगवान् के नाम का ही एक मात्र सहारा था। वह नवकार मन्त्र का जाप करने लगी। उसी में इतनी लीन थी कि भूख प्यास आदि सभी कष्टों को भूल गई। नवकार मन्त्र के स्मरण में उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा था। मूला सेठानी को वह धन्य वाद दे रही थी जिसकी कृपा से ईश्वरभजन का ऐसा सुयोग मिला।

चौथे दिन दोपहर के समय धनावह सेठ बाहर से लौटे। देखा, घर का ताला बन्द है। सेठानी या नौकर चाकर किसी का पता नहीं है। सेठजी आश्चर्य में पड़ गए। उनके घर का द्वार कभी बन्द न होता था। अतिथियों के लिए सदा खुला रहता था।

सेठ ने सोचा-मूला अपने पीहर चली गई होगी। नौकर चाकर भी इधर उधर चले गए होंगे, किन्तु चन्दनबाला तो कहीं नहीं जा सकती। पड़ोसियों से पूछने पर मालूम पड़ा कि तीन दिन से उसका कोई पता नहीं है। इतने में एक नौकर बाहर से आया। पूछने पर

उसने कहा– सेठानीजी ने हम सब को बाहर भेज दिया था। केवल चन्दनबाला और सेठानी ही यहाँ रही थीं। इसके बाद क्या हुआ, यह मुझे मालूम नहीं है। सेठ मूला के स्वभाव की मलीनता और उसकी चन्दनबाला के प्रति दुर्भावना से परिचित थे। अनिष्ट की सम्भावना से उनका हृदय काँप उठा।

धनावह सेठ ने मूला के पास नौकर भेजा। सेठ का आगमन सुन कर एक बार तो मूला का हृदय धक् सा रह गया किन्तु जल्दी से सम्भल कर उसने नौकर से कहा मुझे अभी दो चार दिन यहाँ काम है। तुम घर की चाबी ले जाओ और सेठजी को दे दो। मूला ने सोचा– दो चार दिन में चन्दनबाला मर जायगी फिर उसका कोई भी पता न लगा सकेगा पूछने पर कह दूँगी, घर से चोरी करके वह किसी पुरुष के साथ भाग गई।

नौकर चाबी लेकर चला आया। सेठ ने घर खोला। चन्दन बाला जब कहीं दिखाई न दी तो उसका नाम ले कर जोर जोर से पुकारना शुरू किया।

चन्दनबाला ने सेठ की आवाज पहिचान कर क्षीण स्वर से उत्तर दिया– पिताजी ! मैं यहाँ हूँ। आवाज के अनुसन्धान पर सेठ धीरे २ भौंरे के पास पहुँच गया। किवाड़ खोल कर अंधेरे में टटोलता हुआ वह चन्दनबाला के पास आ पहुँचा। यह जान कर वह बड़ा दुखी हुआ कि चन्दनबाला के हथकड़ी और बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं। धीरे २ उसे उठाया और भौंरे से बाहर निकाला। चन्दनबाला के मूँडे हुए सिर, शरीर पर लगी हुई मार हथकड़ियों से जकड़े हुए हाथ तथा बेड़ियों से कसे हुए पैर देख कर सेठ के दुःख की सीमा न रही। वह जोर २ से रोने लगा। विलाप करते हुए उसने कहा–यह दुष्टा तो तेरे प्राण ही ले चुकी थी। मेरा भाग्य अच्छा था, जिससे तुझे जीवित देख सका। मैं

बड़ा पापी हूँ, जिसके घर में तेरे समान सती स्त्री को ऐसा महान् कष्ट उठाना पड़ा।

चन्दनबाला सेठ को धैर्य बंधाने और सान्त्वना देने लगी। उसने बार बार कहा—पिताजी इसमें आपका और माताजी का कुछ दोष नहीं है। यह तो मेरे पिछले किए हुए कर्मों का फल है। किए हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। इसमें करने वाले के सिवाय और किसी का दोष नहीं होता।

सेठजी शोकसागर में डूब रहे थे। उन पर चन्दनबाला की किसी बात का असर न हो रहा था। सेठजी का ध्यान किसी कार्य की ओर खींच कर उनका शोक दूर करने के उद्देश्य से चन्दनबाला ने कहा-पिताजी! मुझे भूख लगी है। कुछ खाने को दीजिए। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वस्तु सबसे पहले आपके हाथ में आवेगी उसी से पारणा करूँगी, इस लिए नई तैयार की हुई या बाहर से लाई हुई कोई वस्तु मैं स्वीकार न करूँगी।

सेठजी रसोई में गए किन्तु वहाँ ताला लगा हुआ था। इधर उधर देखने पर एक सूप में पड़े हुए उड़द के बाकले दिखाई दिए। वे घोड़ों के लिए उबाले गए थे और थोड़े से बाकी बच गए थे। चन्दनबाला की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए सेठ उन्हीं को ले आया। चन्दनबाला के हाथ में बाकले देकर सेठ बेड़ी तोड़ने के लिए लुहार को बुलाने चला गया।

चन्दनबाला बाकले लेकर देहली पर बैठ गई। उसका एक पैर देहली के अन्दर था और दूसरा बाहर। पारणा करने से पहले उसे अतिथि की याद आई। वह विचारने लगी—मैं प्रतिदिन अतिथियों को देकर फिर भोजन करती हूँ। यदि इस समय कोई निर्ग्रन्थ साधु यहाँ पधार जाय तो मेरा अहोभाग्य हो। उन्हें शुद्ध भिक्षा देकर मैं अपना जीवन सफल करूँ। देहली पर बैठी हुई चन्दनबाला

इस प्रकार भावना भा रही थी।

उन दिनों श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ अवस्था में थे। कैवल्यप्राप्ति के लिए कठोर साधना कर रहे थे। लम्बी तथा उग्र तपस्याओं द्वारा अपने शरीर को सुखा डाला था। एक बार उन्होंने अतिकठोर अभिग्रह धारण किया। उनका निश्चय था–

राजकन्या हो, अविवाहिता हो, सदाचारिणी हो, निरपराध होने पर भी जिसके पाँवों में बेड़ियाँ तथा हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई हों, सिर मुण्डा हुआ हो, शरीर पर काछ लगी हुई हो, तीन दिन का उपवास किए हो, पारणे के लिए उड़द के बाकुले सूप में लिए हो, न घर में हो, न बाहर हो, एक पैर देहली के भीतर तथा दूसरा बाहर हो, दान देने की भावना में अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हो, प्रसन्न मुख हो और आँखों में आँसू भी हो, इन तरह बातों के मिलने पर ही आहार ग्रहण करूँगा। अगर ये बातें न मिलें तो यावज्जीवन अनशन है।

आहार की गवेषणा में फिरते हुए भगवान् को पाँच मास पच्चीस दिन हो गए किन्तु अभिग्रह की बातें पूरी न हुईं। सभी लोग भगवान् की शरीर रक्षा के लिए चिन्तित थे। साथ में उनके कठिन अभिग्रह के लिए आश्चर्यचकित भी थे।

घूमते घूमते भगवान् कौशाम्बी आ पहुँचे। नगरी में आहार की गवेषणा करते हुए धनावह सेठ के घर आए। चन्दनबाला को उस रूप में बैठी हुई देखा। अभिग्रह की और बातें तो मिल गईं किन्तु एक बात न मिली– उसकी आँखों में आँसू न थे। भगवान् वापिस लौटने लगे।

उन्हें वापिस लौटते देख चन्दनबाला की आँखों में आँसू आ गए। वह अपने भाग्य को कोसने लगी कि ऐसे महान् अतिथि आकर भी मेरे दुर्भाग्य से वापिस लौट रहे हैं। भगवान् ने अचा

नक पीछे देखा। उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। तेरहवीं बात भी पूरी होगई। उन्होंने चन्दनबाला के पास आकर हाथ फैला दिए। सांसारिक वासनाओं से कलुषित हृदय वाली सारथी की स्त्री और मूला जिसे अनाथ, आवारागिर्द और भ्रष्ट समझती थीं, त्रिलोक पूजित भगवान् उसी के सामने भिक्षुक बन कर खड़े थे।

चन्दनबाला ने आनन्द से पुलकित होकर उड़द के बाकले वहरा दिए। उसी समय आकाश में दुन्दुभि बजने लगी। देवों ने जय-नाद किया–सती चन्दनबाला की जय। धनावह के घर फूल और सोनैयों की वृष्टि होने लगी। चन्दनबाला की हथकड़ी और बेड़ियाँ आभूषणों के रूप में बदल गई। सारा शरीर दिव्य वस्त्रों से सुशोभित होगया और सिर पर कोमल सुन्दर और लम्बे केश आगए। उसी समय वहाँ रत्नजटित दिव्य सिंहासन प्रगट हुआ। इन्द्र आदि देवों ने चन्दनबाला को उस पर बैठाया और स्वयं स्तुति करने लगे।

भगवान् महावीर के पारणे की बात बिजली के समान सारे नगर में फैल गई। मूला को भी इस बात का पता चला। अपने घर पर सोनैयों की वृष्टि हुई जान कर वह भागी हुई आई। घर पहुँचने पर सामने दिव्य वस्त्रालङ्कार पहिन कर सिंहासन पर बैठी हुई चन्दनबाला को देख कर वह आश्चर्यचकित रह गई।

मूला को देखते ही चन्दनबाला उसके सामने गई। विनयपूर्वक प्रणाम करके अपने सुन्दर केशों से उसके पैर पोंछती हुई कहने लगी–माताजी! यह सब आप के चरणों का प्रताप है। लज्जा के कारण मूला का मस्तक नीचे झुक गया। चन्दनबाला उसका हाथ पकड़ कर अन्दर ले गई और अपने साथ सिंहासन पर बिठा लिया।

चन्दनबाला की बेड़ियाँ खुलवाने के लिए सेठ लुहार के पास गया हुआ था। उसने भी सारी बातें सुनीं, प्रसन्न होता हुआ अपने घर आया। मूला को चन्दनबाला के साथ बैठी हुई देख कर सेठ

को क्रोध आ गया। वह मूला को डाटने लगा।

चन्दनबाला सेठजी को देखते ही सिंहासन से उतर गई। उन्हें मूला पर क्रुद्ध होते हुए देख कर कहने लगी– पिताजी ! इस में माताजी का कोई दोष नहीं है। प्रत्येक घटना अपने किए हुए कर्मों के अनुसार ही घटती है। हमें इनका उपकार मानना चाहिए,जिससे भगवान् महावीर का पारणा हमारे घर हो सका। इन्द्र आदि देवों के द्वारा मुझे मालूम पड़ा कि भगवान् के तेरह बातों का अभिग्रह था। वह अभिग्रह माताजी की कृपा से ही पूरा हुआ है। सेठ का क्रोध शान्त करके चन्दनबाला दोनों के साथ सिंहासन पर बैठ गई।

धीरे धीरे शहर में यह बात भी फैल गई कि जो लड़की उस दिन बाजार में बिक रही थी, जिसने वेश्या के साथ जाना अस्वीकार किया था और अन्त में धनावह सेठ के हाथ बिकी थी वह चम्पानगरी के राजा दधिवाहन और रानी धारिणी की कन्या है। उसी के हाथ से भगवान् महावीर का पारणा हुआ है।

चन्दनबाला को सेठ के पास छोड़ कर अपने घर लौटने के बाद रथी बहुत ही दुखी रहने लगा। उसे वे बीस लाख सोनैये बहुत बुरे लगते थे। उसकी स्त्री उसे विविध प्रकार से खुश करने का प्रयत्न करती किन्तु वे बातें उस जल पर नमक के समान मालूम पड़तीं। पास पड़ोस के लोग भी चन्दनबाला की सदा प्रशंसा करते। इन सब बातों का रथी की स्त्री पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगी कि चन्दनबाला मुझे ही क्यों बुरी लगती है। सारी दुनियाँ तो उसकी प्रशंसा करती है। उसे सभी बातों में अपना ही दोष दिखाई देने लगा। पति पर किया गया आक्षेप भी निराधार मालूम पड़ा। धीरे धीरे उसने वेश्या का सुधरना तथा दूसरी बातें भी सुनीं। उसे निश्चय हो गया कि सारा दोष मेरा ही है। मैंने चन्दनबाला के असली रूप को नहीं समझा। उसे बहुत पश्चात्ताप

होने लगा। चन्दनबाला को वापिस लाने का प्रयत्न व्यर्थ समझ कर उसने निश्चय किया—मैं भी आज से चन्दनबाला के समान ही आचरण करूँगी। उसी के समान घर के सारे काम, नम्रतापूर्ण व्यवहार तथा ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी। भोगविलास, वासनाओं तथा सभी बुरी बातों से दूर रहूँगी। इन बीस लाख मोहरों को अलग ही पड़ी रहने दूँगी। अपने काम में न लाऊँगी।

रथी की स्त्री का स्वभाव एक दम बदल गया। उसे देख कर रथी और पड़ोसियों को आश्चर्य होने लगा।

भगवान् महावीर के पारणे की बात सुन कर रथी की स्त्री ने भी चन्दनबाला के दर्शन करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। रथी को यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों चन्दनबाला के दर्शनों के लिए धनावह सेठ के घर की ओर रवाना हुए।

वेश्या भी सारा हाल सुन कर चन्दनबाला के पास चली। रथी की स्त्री और वेश्या दोनों चन्दनबाला के पास पहुँच कर अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप करने लगी। चन्दनबाला ने सारा दोष अपने कर्मों का बता कर उन्हें शान्त किया। रथी और सेठ भाई भाई के समान एक दूसरे से मिले। रथी की स्त्री और वेश्या ने अपना जीवन सुधारने के लिए चन्दनबाला का बहुत उपकार माना।

राजा शतानीक की रानी ने भी सारी बातें सुनी। अपनी बहिन* की पुत्री के साथ होने वाले दुर्व्यवहार के लिए उसने अपने पति को ही दोषी समझा। उसने राजा शतानीक को बुला

---

* इतिहास से पता चलता है कि दधिवाहन राजा की तीन रानियाँ थीं— अभया, पद्मावती और धारिणी। जिस समय का यह वर्णन है उस समय केवल धारिणी थी। अभया मारी गई थी और पद्मावती दीक्षा ले चुकी थी। मृगावती और पद्मावती दोनो महाराजा चेटक (चेड़ा) की पुत्रियाँ थीं। वे दोनो सगी बहने थीं और धारिणी पद्मावती की सपत्नी थी। इसी सम्बन्ध से मृगावती चन्दनबाला की मौसी थी।

कर कहा– आपके लोभ के कारण कैसा अन्याय हुआ, कितनी निर्दोष तथा पवित्र आत्माओं को भयङ्कर विपत्तियों का सामना करना पड़ा है, यह आप नहीं जानते। मेरे बहुत समझाने पर भी आपने शान्तिपूर्वक राज्य करते हुए मेरे नहनोई राजा दधिवाहन पर चढ़ाई कर दी। फल स्वरूप वे जंगल में चले गए। रानी धारिणी का कोई पता ही नहीं है, उनकी लड़की को आपके किसी रथी ने यहाँ लाकर बाजार में बेचा। उसे कितनी बार अपमानित होना पड़ा, कितने कष्ट उठाने पड़े, यह आपको बिल्कुल मालूम नहीं है। आज उसके हाथ से परम तपस्वी भगवान् महावीर का पारणा हुआ है।

जिस राज्य के लिए आपने ऐसा अत्याचार किया, क्या वह आपके साथ जाएगा ? आपको निरपराध राजा दधिवाहन पर चढ़ाई करने, चम्पा की निर्दोष प्रजा को लूटने और मारकाट मचाने का क्या अधिकार था? मृगावती परम सती थी। उसका तेज इतना चमक रहा था कि शतानीक उसके विरुद्ध कुछ न बोल सका। अपनी भूल को स्वीकार करते हुए उसने कहा– मैंने राज्य के लोभ से चम्पा की निर्दोष प्रजा पर अत्याचार किया, यह स्वीकार करता हूँ, लेकिन तुम्हारा बहिन की लड़की से मेरी कोई शत्रुता न थी। दधिवाहन की तरह वह मेरी भी पुत्री है। अगर उसके विषय में मुझे कुछ भी मालूम होता तो उसे किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़ता। खैर, अब उसे यहाँ बुला लेना चाहिए।

शतानीक ने उसी समय सामन्तों को बुलाया और चन्दनबाला को सन्मान पूर्वक लाने की आज्ञा दी। सामन्त गण पालकी लेकर धनावह सेठ के घर पहुँचे और चन्दनबाला को शतानीक का सन्देश सुनाया। चन्दनबाला ने उत्तर दिया– मैं अब महलों में जाना नहीं चाहती इस लिए आप मुझे क्षमा करें। मौसाजी और मौसीजी ने मुझे बुला कर जो अपना स्नेह प्रदर्शित किया है, उस

के लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूँ।

सामन्तों ने बहुत अनुनय विनय की किन्तु चन्दनबाला ने पाप से परिपूर्ण राजमहलों में जाना स्वीकार न किया। उसने सामन्तों को समझा बुझा कर वापिस कर दिया। सामन्तों के खाली हाथ वापिस लौट आने पर राजा और रानी ने चन्दनबाला को लाने के लिए स्वयं जाने का निश्चय किया।

राजा और रानी की सवारी बड़े २ सामन्त और उमरावों के साथ धनावह सेठ के घर चली। नगर में बात फैलने से बहुत से नागरिक और सेठ साहूकार भी सवारी के साथ हो लिए। सेठ के घर बहुत बड़ी भीड़ जमा हो गई। पास पहुँचने पर राजा और रानी सवारी से उतर गए।

चन्दनबाला के पास जाकर राजा ने कहा–बेटी! मुझ पापी को क्षमा करो मैंने भयङ्कर पाप किए है। तुम्हारे सरीखी सती को कष्ट में डाल कर महान् अपराध किया है। तुम देवी हो। प्राणियों को क्षमा करने वाली तथा उनके पाप को धो डालने वाली हो। तुम्हारी कृपा से मुझ पापी का जीवन भी पवित्र हो जायगा इस लिए महल मे पधार कर मुझे कृतार्थ करो।

चन्दनबाला ने दोनो को प्रणाम करके उत्तर दिया– आप मेरे पिता के समान पूज्य है। अपराध के कारण मैं आपको अनादर-णीय नहीं समझ सकती। आपकी आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है, किन्तु आप स्वयं जानते है कि विचारो पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। जिन महलो में सदा लूटने खसोटने तथा निरप-राधों पर अत्याचार करने का ही विचार होता है उसमें जाना मेरे लिए कैसे उचित हो सकता है। जहाँ का वातावरण मेरी भावना और विचारों के सर्वथा प्रतिकूल हो वहाँ मैं कैसे जाऊँ? आपके भेजे हुए सामन्त भी मेरे लिए आप ही के समान आदरणीय हैं।

मैं उन्हीं के कहने पर आ जाती किन्तु उस दूषित वातावरण में जाना मैंने ठीक नहीं समझा। चन्दनबाला ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा–आप ही बताइए! मेरे पिता का क्या अपराध था जिससे आपने चम्पा पर चढ़ाई की? यदि आप को चम्पा का लोभ था तो आप उस पर कब्जा कर लेते। मेरे पिता तो स्वयं ही उसे छोड़ कर चले गए थे। अगर सेना ने आपका सामना किया था तो यह सेना का अपराध था। निर्दोष प्रजा ने आपका क्या बिगाड़ा था जिससे उस पर अमानुषिक अत्याचार किया गया?

चन्दनबाला की बातों से शतानीक सिर नीचा किए चुपचाप सुन रहा था। उसके पास कोई उत्तर न था।

वह फिर कहने लगी–मैं यह नहीं कहना चाहती कि राजधर्म का त्याग किया जाय, किन्तु राजधर्म प्रजा की रक्षा करना है। उसका विनाश नहीं। क्या चम्पा को लूट कर आपने राजधर्म का पालन किया है? क्या आप को मालूम है कि आपकी सेना ने चम्पा के निवासियों पर कैसा अत्याचार किया है? वहाँ के निर्दोष नागरिकों के साथ कैसा पैशाचिक व्यवहार किया है? क्या आप नहीं जानते कि अन्धे सैनिकों को खुली छुट्टी दे देने पर क्या होता है? सभ्य नागरिकों को लूटना, खसोटना, मारना, काटना और उनकी बहू बेटियों का अपमान करना ऐसा कोई भी अत्याचार नहीं है जिससे वे हिचकते हों।

जब आपका एक रथी मुझे और मेरी माता को भी दुर्भावना से पकड़ कर जंगल में ले गया तो न मालूम प्रजा की बहू बेटियों के साथ कैसा व्यवहार हुआ होगा? मेरी माता वीराङ्गना थी, इस लिए सतीत्व की रक्षा के लिए उसने अपने प्राण त्याग दिए और उस रथी को सदा के लिए धार्मिक तथा सदाचारी बना दिया। जिस माता में इतने बलिदान की शक्ति न हो क्या उस पर अत्य-

चार होने देना ही राजधर्म है ?

चन्दनबाला के मुख से धारिणी की मृत्यु का समाचार सुन कर मृगावती को बहुत दुःख हुआ। वह शोक करने लगी कि मेरे पति के अत्याचार से पीड़ित हो कर कितनी माताओं को अपने सतीत्व की रक्षा के लिए प्राण त्यागने पड़े होंगे। कितनी ही अपने सतीत्व को खो बैठी होंगी। धिक्कार है ऐसी राज्यलिप्सा को। चन्दनबाला ने मृगावती को सान्त्वना देते हुए कहा—मेरी माता ने पवित्र उद्देश्य से प्राण दिए हैं। इस प्रकार प्राण देने वाले विरले ही होते हैं। उनके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो यह कह रही हूँ—जिस राजमहल में चलने के लिए मुझे कहा जा रहा है उसमें किए गए विचारों का परिणाम कैसा भयङ्कर है।

वह फिर कहने लगी— राजा का कर्तव्य है कि वह अपने नगर तथा देश में होने वाली घटनाओं से परिचित रहे। क्या आपको मालूम है कि आप के नगर में कौन दुखी है ? किस पर कैसा अत्याचार हो रहा है ? कैसा अनीतिपूर्ण व्यवहार खुल्लम-खुल्ला हो रहा है ? आप ही की राजधानी में दास दासियों का क्रयविक्रय होता है। क्या आपने कभी इस नीच व्यापार पर ध्यान दिया है? मैं स्वयं इसी नगर के चौराहे पर बिकी हूँ। मुझे एक वेश्या खरीद रही थी। मेरे इन्कार करने पर उसने बलपूर्वक ले जाना चाहा। बहुत से नागरिक भी उसकी सहायता के लिए तैयार हो गए। अकस्मात् बन्दरों के बीच में आ जाने से वेश्या का उद्देश्य पूरा न हुआ। नहीं तो अपने शील की रक्षा के लिए मुझे कौनसा उपाय अङ्गीकार करना पड़ता, यह कुछ नहीं कहा जा सकता।

भाग्य से रथी को बीस लाख सोनैये दे कर सेठजी मुझे अपने घर ले आए। इन्होंने मुझे अपनी पुत्री के समान रक्खा और आज भगवान महावीर का पारणा हुआ।

आप को इन सब बातों का कुछ भी पता नहीं। महल में बैठ कर आप प्रजा पर अत्याचार करने, उसकी गाढी कमाई को लूट कर अपने भोगविलास में लगाने तथा निर्दोष जनता को सताने का विचार करते हैं, प्रजा के दुःख को दूर करने का नहीं। क्या यही राजधर्म है? क्या यही आपका कर्तव्य है? क्या कभी आप ने सोचा है कि पाप का फल हर एक को भोगना पड़ता है?

जिस महल में रहते हुए आपके विचार ऐसे गन्दे हो गए उसमें जाना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। इस लिए क्षमा कीजिए। यहाँ पर रह कर मुझे भगवान् महावीर के पारणे का लाभ प्राप्त हुआ। महलों में यह कभी नहीं हो सकता था।

रानी मृगावती शतानीक को समय २ पर हिंसाप्रधान कार्यों से बचने तथा प्रजा का पुत्र के समान पालन करने के लिए समझाया करती थी किन्तु उस समय वह न्याय और धर्म का उपहास किया करता था। चन्दनबाला के उपदेश का उस पर गहरा असर पड़ा। उत्तर में वह कहने लगा– हे सती! आपका कहना यथार्थ है। मैंने महान् पाप किए हैं। जनहत्या, मित्रद्रोह आदि बड़े से बड़ा पाप करने में भी मैंने संकोच नहीं किया। मैं राजाओं का जन्म युद्ध, दमन, शासन और भोगविलास के लिए मानता था। मेरी ही अव्यवस्था के कारण आपकी माता को प्राण त्यागने पड़े और आपको महान् कष्ट उठाने पड़े। मैं इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ था कि मेरी आज्ञा का इस प्रकार दुरुपयोग होगा। मैंने चम्पा को लूटने की आज्ञा दी थी किन्तु स्त्रियों के लूटे जाने, उनका सतीत्व नष्ट होने आदि का मुझे बिल्कुल ख्याल न था। मेरी आज्ञा की ओट में इस भयङ्कर अत्याचार के होने की बात मुझे आज ही मालूम पड़ी है। इसके लिए मैं ही अपराधी हूँ।

अगर मेरी नगरी में दास दासी के क्रय विक्रय की प्रथा न होती

तो आपको क्यों बिकना पड़ता? अगर राजा दधिवाहन के जाते ही मैंने उनके परिवार का खयाल किया होता तो आपको इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता तथा आपकी माता को प्राण क्यों त्यागने पड़ते ? इन सब कार्यों के लिए दोष मेरा ही है। मुझे अपने किए पर पश्चात्ताप हो रहा है। उन पापों के लिए मैं लज्जित हूँ। यह कहते हुए शतानीक की आँखें डबडबा आई। उसके हृदय में महान् दुःख हो रहा था।

चन्दनबाला ने शतानीक को सान्त्वना देते हुए कहा—पिताजी! पश्चात्ताप करने से पाप कम हो जाता है। आपकी आज्ञा से जिन व्यक्तियों का स्वत्व लूटा गया है, उनका स्वत्व वापस लौटा दीजिए। भविष्य में ऐसा पाप न करने की प्रतिज्ञा कर लीजिए, फिर आप पवित्र हो जाएंगे। आज से यह समझिए कि राज्य आपके भोग-विलास के लिए नहीं है किन्तु आप राज्य तथा प्रजा की रक्षा करने के लिए हैं। अपने को शासन करने वाला न मान कर प्रजा की रक्षा तथा उसकी सुखवृद्धि के लिए राज्य का भार उठाने वाला सेवक मानिए फिर राज्य आपके लिए पाप का कारण न होगा। अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों पर अत्याचार करने के लिए नहीं, किन्तु दीन दुखी जनों की रक्षा के लिए कीजिए। शतानीक ने चन्दनबाला की सारी बातें सिर झुका कर मान लीं।

इसके साथ साथ आप पुराने सब अपराधियों को क्षमा कर दीजिए। चाहे वह अपराध उन्होंने आपकी आज्ञा से किया हो या बिना आज्ञा के, किसी को दण्ड मत दीजिए। चन्दनबाला ने सब को अभय दान देने के उद्देश्य से कहा।

शतानीक ने उत्तर दिया—बेटी! मैं सभी को क्षमा करता हूँ किन्तु जिन अपराधियों ने कुलाङ्गनाओं का सतीत्व लूटा है, जिसके कारण आपकी माता को प्राण त्याग और आपको महान् कष्ट

सहन करने पड़े हैं, उन्हें क्षमा नहीं किया जा सकता। उनका अपराध अक्षम्य है।

चन्दनबाला ने कहा– जिस प्रकार आपका अपराध केवल पश्चात्ताप से शान्त हो गया इसी प्रकार दूसरे अपराधी भी पश्चात्ताप के द्वारा छुटकारा पा सकते हैं। अगर उनके अपराध को अक्षम्य समझ कर आप दण्ड देना आवश्यक समझते हैं तो आपका अपराध भी अक्षम्य है। दण्ड देने से वैर की वृद्धि होती है। इस प्रकार बँधा हुआ वैर जन्म जन्मान्तर तक चला करता है, इस लिए अब तक के सब अपराधियों को क्षमा कर दीजिए।

शतानीक साहस करके बोला–आप का कहना बिल्कुल ठीक है। मुझे भी दण्ड भोगना चाहिए। आप मेरे लिए कोई दण्ड निश्चित कर सकती हैं।

शतानीक को अपने अपराध के लिए दण्ड मांगते देख कर रथी का साहस बढ़ गया। वह सामने आकर कहने लगा– महाराज! धारिणी की मृत्यु और इस सती के कष्टों का कारण मैं ही हूँ। आप मुझे कठोर से कठोर दण्ड दीजिए जिससे मेरी आत्मा पवित्र बने।

रथी के इस कथन को सुन कर सभी लोग दंग रह गए, क्योंकि इस अपराध का दण्ड बहुत भयङ्कर था।

चन्दनबाला रथी के साहस को देख कर प्रसन्न होती हुई शतानीक से कहने लगी– पिताजी! अपराधी को दण्ड देने का उद्देश्य अपराध का बदला लेना नहीं होता किन्तु अपराधी के हृदय में उस अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करना होता है। बदला लेने की भावना से दण्ड देने वाला स्वयं अपराधी बन जाता है। अगर अपराधी के हृदय में अपराध के प्रति स्वयं घृणा उत्पन्न हो गई हो, वह उसके लिए पश्चात्ताप कर रहा हो और भविष्य में ऐसा न करने का निश्चय कर चुका हो तो फिर उसे दण्ड देने की आवश्यकता

नहीं रहती, इस लिए न आपको दण्ड लेने की आवश्यकता है न रथी पिता को। चन्दनबाला ने रथी के सुधरने का सारा वृत्तान्त सुनाया और राजा से कहा-मैं इनकी पुत्री हूँ। मेरे लिए ये, आप और सेठजी तीनों समान रूप से आदरणीय हैं। ये आपके भाई हैं।

शतानीक रथी के साहस पर आश्चर्य कर रहा था। चन्दनबाला के उपदेश ने उसमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी। वह रथी के पास गया और उसे छाती से लगा कर कहने लगा- आज से तुम मेरे भाई हो मैं तुम्हारे समस्त अपराध क्षमा करता हूँ।

राजा और एक अपराधी के इस भाई चारे को देख कर सारी जनता आनन्द से गद्गद हो उठी।

शतानीक ने चन्दनबाला से फिर प्रार्थना की- बेटी! महल तो निर्जीव हैं, इस लिए उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं हो सकता। दोष तो मुझ में था, उसी के कारण सारा वातावरण दूषित बना हुआ था। जब आपने मुझे पवित्र कर दिया तो महल अपने आप पवित्र होगए, इस लिए अब आप वहाँ पधारिए। आपके पधारने से वातावरण और पवित्र हो जाएगा।

चन्दनबाला ने सेठ से अनुमति लेकर जाना स्वीकार कर लिया। सेठ के आग्रह से राजा, रानी, रथी, और रथी की स्त्री ने उसके घर भोजन किया। चन्दनबाला ने तेले का पारणा किया।

राजा, रानी, सेठ, सेठानी, रथी और रथी की स्त्री के साथ चन्दनबाला महल को रवाना हुई। नगर की सारी जनता सती का दर्शन करने के लिए उमड़ पड़ी। चन्दनबाला योग्य स्थान पर खड़ी रह कर जनता को उपदेश देती हुई राजद्वार पर आ पहुँची। चन्दनबाला के पहुँचते ही महलों में धार्मिक वातावरण छा गया। जहाँ पहले लूटमार और व्यभिचार की बातें होती थी, वहाँ अब धर्मचर्चा होने लगी।

शतानीक अब दधिवाहन को अपना मित्र मानने लगा था। उसके प्रति किए गए अपराध से मुक्त होने के लिए चम्पा का राज्य उसे वापिस सौंपना चाहता था। उसने दधिवाहन को खोज कर सन्मानपूर्वक लाने के लिए आदमी भेजे।

शतानीक के आदमी खोजते हुए दधिवाहन के पास पहुँचे। उसे नम्रतापूर्वक सारा वृत्तान्त सुनाया। फिर शतानीक की ओर से चलने के लिए प्रार्थना की। धारिणी की मृत्यु सुन कर दधिवाहन को बहुत दुःख हुआ, साथ ही चन्दनबाला के आदर्श कार्यों से प्रसन्नता। वह वन में रह कर त्यागपूर्वक अपना जीवन बिताना चाहता था। राज्य के भार को दुबारा अपने ऊपर न लेना चाहता था। फिर भी शतानीक के सामन्तों का बहुत आग्रह होने के कारण शतानीक द्वारा भेजे हुए वाहन पर बैठ कर वह कौशाम्बी की ओर चला।

राजा दधिवाहन का स्वागत करने के लिए कौशाम्बी को विविध प्रकार से सजाया गया। उनके आने का समाचार सुन कर हर्षित होता हुआ शतानीक अपने सामन्त सरदारों के साथ अगवानी करने के लिए सामने गया। समीप आने पर दोनों अपनी अपनी सवारी से उतर गए। शतानीक दधिवाहन के पैरों में गिर कर अपने अपराधों के लिए बार बार क्षमा मांगने लगा। दधिवाहन ने उसे उठा कर गले से लगाया और सारी घटनाओं को कर्मों की विडम्बना बता कर उसे शान्त किया। दोनों शत्रुओं में चिर काल के लिए प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसमें शतानीक या दधिवाहन की विजय न थी किन्तु शत्रुता पर मित्रता की और पाप पर धर्म की विजय थी।

सती चन्दनबाला के पिता राजा दधिवाहन के आगमन की बात भी छिपी न रही। उनका दर्शन करने के लिए आई हुई जनता से सारा मार्ग भर गया। दधिवाहन और शतानीक को

एक साथ आते देख कर जनता जयनाद करने लगी।

महल में पहुँच कर शतानीक ने दधिवाहन को ऊँचे सिंहासन पर बैठाया। प्रसन्न होती हुई चन्दनबाला पिता से मिलने आई। पास आकर उसने विनय पूर्वक प्रणाम किया। चन्दनबाला को देखकर दधिवाहन गद्‌गद् हो उठा। कंठ रुँध जाने से वह एक भी शब्द न बोल सका। साथ में उसे लज्जा भी हुई की जिस वसुमती को वह असहाय अवस्था में छोड़ कर चला गया था उसने अपने चरित्र बल से सब को सुधार दिया। धारिणी के प्राण त्याग और चन्दनबाला की दृढ़ता के सामने वह अपने को तुच्छ मानने लगा।

शतानीक को राज्य से घृणा हो गई थी, इस लिए उसने दधिवाहन से कहा– मैंने अब तक अन्यायपूर्ण राज्य किया है। न्याय से राज्य कैसे किया जाता है,यह मैं नहीं जानता, इस लिए आप चम्पा और कौशाम्बी दोनों राज्यों को सम्भालिए। मैं आपके नीचे रह कर प्रजा की सेवा करना सीखूँगा।

दधिवाहन ने उत्तर दिया– न्यायपूर्ण शासन करने के लिए हृदय पवित्र होना चाहिए। भावना के पवित्र होने पर ढंग अपने आप आ जाता है। मैं वृद्ध हो गया हूँ इस लिए दोनों राज्य आप ही सम्भालिए।

जिस राज्य के लिए घोर अत्याचार तथा महान् नरसंहार हुआ वही एक दूसरे पर इस प्रकार फैंका जा रहा था, जैसे दो खिलाड़ी परस्पर कन्दुक (गेंद) को फैंकते है। चन्दनबाला यह देख कर हर्षित हो रही थी कि धर्म की भावना किस प्रकार मनुष्य को राक्षस से देवता बना देती है।

अन्त में चन्दनबाला के कहने पर यह निर्णय हुआ कि दोनों को अपना २ राज्य स्वयं सम्भालना चाहिए। दोनो राज्यों का भार किसी एक पर न पड़ना चाहिए।

बड़े समारोह के साथ दधिवाहन का राज्याभिषेक हुआ। दधिवाहन को दुबारा प्राप्त कर चम्पा की प्रजा को इतना हर्ष हुआ जितना बिछुड़े हुए पिता को पाकर पुत्र को होता है। कौशाम्बी और चम्पा दोनों राज्यों का स्थायी सम्बन्ध हो गया। किसी के हृदय में वैर और शत्रुता की भावना नहीं रही। सब जगह अखण्ड प्रेम और शान्ति स्थापित हो गई। सती चन्दनबाला ने चम्पा के उद्धार के साथ साथ सारे समार के सामने प्रेम और सतीत्व का महान् आदर्श स्थापित कर दिया।

शतानीक और दधिवाहन में इतना प्रेम हो गया था कि उन दोनों में से कोई एक दूसरे से अलग होना नहीं चाहता था। चम्पा का अधिपति होने पर भी दधिवाहन प्रायः कौशाम्बी में ही रहने लगा। कुछ दिनों बाद उन्हें चन्दनबाला के विवाह की चिन्ता हुई। शतानीक और मृगावती ने भी चन्दनबाला का विवाहोत्सव देखने की इच्छा प्रकट की, फिर भी उससे बिना पूछे वे कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे। एक दिन मृगावती ने दधिवाहन और शतानीक की उपस्थिति में चन्दनबाला के सामने विवाह का प्रस्ताव रक्खा। चन्दनबाला आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पहले ही निश्चय कर चुकी थी। उसके मन में और भी उच्च भावनाएं थीं। इस लिए उसने मृगावती के प्रस्ताव का नम्रतापूर्वक ऐसा विरोध किया जिससे उन तीनों में से कोई कुछ न बोल सका। सब सुख साधनों के होते हुए यौवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य पालन की कठोर प्रतिज्ञा का उन तीनों पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने भी यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया।

राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए चम्पा में रहना आवश्यक समझ कर कुछ दिनों बाद दधिवाहन चम्पा चला गया किन्तु चन्दनबाला कौशाम्बी में ही ठहर गई। भगवान् महावीर के

केवलज्ञान होने पर वह उनके पास दीक्षा लेना चाहती थी।

कुछ दिनों बाद वह अवसर उपस्थित हो गया जिसके लिए चन्दनबाला प्रतीक्षा कर रही थी। श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। संसार का कल्याण करने के लिए वे ग्रामानुग्राम विचरने लगे। चन्दनबाला को भी यह समाचार मिला। उसे इतना आनन्द हुआ जितना प्यासे चातक को वर्षा के आगमन पर होता है। शतानीक और मृगावती से आज्ञा लेकर वह भगवान् के पास दीक्षा लेने के लिए चली। कौशाम्बी की जनता ने आँखों मे आँसू भर कर उसे विदा दी। चन्दनबाला ने सभी को भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। कौशाम्बी से रवाना होकर वह भगवान् के समवसरण में पहुँच गई। देशना के अन्त में उसने अपनी इच्छा प्रकट की। सांसारिक दुःखों से छुटकारा देने के लिए भगवान् से प्रार्थना की।

भगवान् ने चन्दनबाला को दीक्षा दी। स्त्रियों मे सर्व प्रथम दीक्षा लेने वाली चन्दनबाला थी। उसी से साध्वी रूप तीर्थ का प्रारम्भ हुआ था, इस लिए भगवान् ने उसे साध्वी संघ की नेत्री बनाया।

यथासमय मृगावती ने भी दीक्षा ले ली। वह चन्दनबाला की शिष्या बनी। धीरे धीरे काली, महाकाली, सुकाली आदि रानियों ने भी चन्दनबाला के पास संयम अङ्गीकार कर लिया। छत्तीस हजार साध्वियों के संघ की मुखिया बन कर वह लोक कल्याण के लिए ग्रामानुग्राम विचरने लगी। उसके उपदेश से अनेक भव्य प्राणियो ने प्रतिबोध प्राप्त किया तथा श्रावक या साधु के व्रतों को अंगीकार कर जन्म सफल किया। बहुत लोग मिथ्यात्व को छोड कर सत्य धर्म पर श्रद्धा करने लगे।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर विचरते हुए कौशाम्बी पधारे। चन्दनबाला का भी अपनी शिष्याओं के साथ वहीं आगमन हुआ।

मत प्रकार। क ...

एक दिन मृगावती अपनी गुरुआनी सती चन्दनबाला की आज्ञा लेकर भगवान् के दर्शनार्थ गई। सूर्य चन्द्र भी अपने मूल विमान से दर्शनार्थ आये थे, प्रकाश के कारण समय का ज्ञान न रहा। सूर्य चन्द्र चले गये। इतने में

रात हो गई। मृगावती अँधेरा होजाने पर उपाश्रय में पहुँची। वहाँ आकर उसने चन्दनबाला को वन्दना की। प्रवर्तिनी होने के कारण उसे उपालम्भ देते हुए चन्दनबाला ने कहा– साध्वियों को सूर्यास्त के बाद उपाश्रय के बाहर न रहना चाहिए।

मृगावती अपना दोष स्वीकार करके उसके लिए पश्चात्ताप करने लगी। समय होने पर चन्दनबाला तथा दूसरी साध्वियाँ अपने अपने स्थान पर सो गईं, किन्तु मृगावती बैठी हुई पश्चात्ताप करती रही। धीरे धीरे उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। उसे केवलज्ञान होगया।

अँधेरी रात थी। सब सतियाँ सोई हुई थीं। उसी समय मृगावती ने अपने ज्ञान द्वारा एक काला साँप देखा। चन्दनबाला का हाथ साँप के मार्ग में था। मृगावती ने उसे अलग कर दिया। हाथ के छूए जाने से चन्दनबाला की नींद खुल गई। पूछने पर मृगावती ने साँप की बात कह दी और निद्रा भंग करने के लिए क्षमा माँगी।

चन्दनबाला ने पूछा–अँधेरे में आपने साँप को कैसे देख लिया?

मृगावती ने उत्तर दिया– आपकी कृपा से मेरे दोष नष्ट हो गए हैं, इस लिए ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई है।

चन्दनबाला– पूर्ण या अपूर्ण ?

मृगावती–आपकी कृपा होने पर अपूर्णता कैसे रह सकती है?

चन्दनबाला–तब तो आपको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। बिना जाने मुझसे आपकी आशातना हुई है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

चन्दनबाला ने मृगावती को वन्दना की। केवली की आशातना के लिए वह पश्चात्ताप करने लगी। उसी समय उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। वह भी केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त

कर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन गई।

केवलज्ञानी होने के बाद सती चन्दनबाला और सती बती विचर विचर कर जनता का कल्याण करने लगीं। सती चन्दनबाला की छत्तीस हजार साध्वियों में से एक हजार चार सौ साध्वियों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

आयुष्य पूरी होने पर एक हजार चार सौ साध्वियाँ शेष कर्मों को खपा कर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गई।

चन्दनबाला को धारिणी का उपदेश।

शान्ति-समर मे कभी भूल कर धैर्य नहीं खोना होगा।
वज्र-प्रहार भले हो सिर पर किन्तु नहीं रोना होगा॥
अरि से बदला लेने का, मन बीज नहीं बोना होगा।
घर मे कान तूल देकर फिर तुझे नहीं सोना होगा॥
देश-दाग को रुधिर-वारि से हर्षित हो धोना होगा।
देश-कार्य की भारी गठड़ी सिर पर रख ढोना होगा॥
आँखें लाल, भवें टेढ़ी कर क्रोध नही करना होगा।
बलि-वेदी पर तुझे हर्ष से चढ़ कर कट मरना होगा॥
नश्वर है नर-देह, मौत से कभी नहीं डरना होगा।
सत्य-मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथपर पैर नहीं धरना होगा॥
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा।
मातृ भूमि के लिये, हर्ष से जीना या मरना होगा॥

(पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानो मे आए हुए सती चन्दनबाला चरित्र के आधार पर)
(हरि. आ. नि. गा. ५२०-२१) (त्रि. श. पु. पर्व १०)

(९) राजीमती

रघुवंश तथा यदुवंश भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के उत्पत्ति क्षेत्र थे। उन्हीं का वर्णन करके संस्कृत कवियों ने अपनी लेखनी को अमर बनाया। उन्हीं दो गिरिशृङ्गों से भारतीय साहित्य गंगा के दिव्य स्रोत बहे।

जिस प्रकार रघुवंश के साथ अयोध्या नगरी का अमर सम्बन्ध है उसी प्रकार यदुवंश के साथ द्वारिका नगरी का। रघुवंश में राम सरीखे महापुरुष और सीता सरीखी महासतियाँ हुई और यदुवंश का मस्तक भगवान् अरिष्टनेमि तथा महासती राजीमती सरीखी महान् आत्माओं के कारण गौरवोन्नत है।

उसी यदुवंश में अन्धकवृष्णि और भोजवृष्णि नाम के दो प्रतापी राजा हुए। अन्धकवृष्णि शौरिपुर में राज्य करते थे और भोजवृष्णि मथुरा में। महाराज अन्धकवृष्णि के समुद्रविजय, वसुदेव आदि दस पुत्र थे जिन्हें दशार्ह कहा जाता था। उनमें सब से बड़े महाराज समुद्रविजय के पुत्र भगवान् अरिष्टनेमि (अपर नाम नेमिकुमार) हुए। इनकी माता का नाम शिवादेवी था। महाराज वसुदेव के पुत्र कृष्ण वासुदेव हुए। इनकी माता का नाम देवकी था। भोजवृष्णि के छोटे भाई मृत्तिकावती नगरी में राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम देवक था। देवकी इनकी पुत्री थी। भोजवृष्णि के पुत्र महाराज उग्रसेन हुए। उग्रसेन की रानी धारिणी के गर्भ से राजीमती का जन्म हुआ था। राजीमती रूप, गुण और शील सभी में अद्वितीय थी।

धीरे धीरे वह विवाह योग्य हुई। माता पिता को योग्य वर की चिन्ता हुई। वे चाहते थे, राजीमती जैसी सुशील तथा सुन्दर है उसके लिए वैसा ही वर खोजना चाहिए। इसके लिए उन्हें

नेमिकुमार के सिवाय कोई व्यक्ति उपयुक्त नहीं जान किन्तु नेमिकुमार विवाह ही न करना चाहते थे। बचपन से ही उन का मन संसार से विरक्त था। यादवों के भोगविलास उन्हें अच्छे न लगते थे। हिंसा पूर्ण कार्यों से स्वाभाविक अरुचि थी। इस कारण महाराज उग्रसेन को चिन्ता हो रही थी कि कहीं राजीमती का विवाह उसके अननुरूप वर से न करना पड़े।

महाराज समुद्रविजय और महारानी शिवा देवी भी नेमिकुमार का विवाहोत्सव देखने के लिए उत्कण्ठित थे किन्तु नेमिकुमार की स्वीकृति के बिना कुछ न कर सकते थे। एक दिन उन्होंने नेमिकुमार से कहा– वत्स! हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि आप तीर्थङ्कर होने वाले हैं। तीर्थङ्करों का जन्म जगत्कल्याण के लिये ही होता है। यह हर्ष की बात है कि आप के द्वारा मोह में फँसे हुए भव्य प्राणियों का उद्धार होगा। किन्तु आपसे पहले भी बहुत से तीर्थङ्कर हो चुके है, उन्होंने विवाह किया था, राज्य किया था और फिर संसार त्याग कर मोक्ष मार्ग को अपनाया था। हम यह नहीं चाहते कि आप सारी उम्र गृहस्थ जीवन में फँसे रहें। हमारे चाहने से ऐसा हो भी नहीं सकता क्योंकि आप तीर्थङ्कर है। भव्य प्राणियों का उपकार करने के लिए उनके शुभ कर्मों से प्रेरित होकर आप अवश्य संसार का त्याग करेंगे किन्तु यह कार्य आप विवाह के बाद भी कर सकते है। हमारी अन्तिम अभिलाषा है कि हमें आपका विवाहोत्सव देखने का अवसर प्राप्त हो। क्या माता पिता के इस सुख स्वप्न को आप पूरा न करेंगे?

कुमार नेमिनाथ अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ सिर नीचा किए माता पिता की बातें सुनते रहे। वे मन में सोच रहे थे कि संसार में कितना अज्ञान फैला हुआ है। भोले प्राणी अपनी सन्तान को विवाह बन्धन मे डालने के लिए कितने उत्सुक रहते

हैं। उसे ब्रह्मचर्य के उच्च आदर्श से गिराने में कितना सुख मानते हैं ? इनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य जीवन जीवन ही नहा है। संसार में समझदार और बुद्धिमान कहे जाने वाले मनुष्य भी ऐसे विचारों से घिरे हुए हैं। मेरे लिए इस विचारधारा में बह जाना श्रेयस्कर नहीं है। मैं दुनियाँ के सामने त्याग और ब्रह्मचर्य का उच्च आदर्श रखना चाहता हूँ किन्तु इस समय माता पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना या मान लेना दोनों मार्ग ठीक नहीं हैं। यह सोच कर उन्होंने बात को टालने के अभिप्राय से कहा– आप लोग धैर्य रक्खें। अभी विवाह का अवसर नहीं है। अवसर आने पर देखा जाएगा। समुद्रविजय और शिवादेवी इसके आगे कुछ न बोल सके। वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जिस दिन कुमार नेमिनाथ दूल्हा बनेंगे। सिर पर मौर बाँध कर विवाह करने जायेंगे।

समुद्रविजय और शिवादेवी कुमार नेमिनाथ से विवाह की स्वीकृति लेने का प्रयत्न कई बार कर चुके थे किन्तु कुमार सदा टालमटोल कर दिया करते थे। अन्त में उन्होंने श्रीकृष्ण से सहायता लेने की बात सोची। एक दिन उन्हें बुला कर कहा– वत्स ! तुम्हारे छोटे भाई अरिष्टनेमि पूर्ण युवक हो गए हैं। वे अभी तक अविवाहित ही हैं। हमने उन्हें कई बार समझाया किन्तु वे नहीं मानते। तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव का भाई अविवाहित रहे यह शोभा नहीं देता। इस विषय में आप भी कुछ प्रयत्न कीजिए।

श्रीकृष्ण ने प्रयत्न करने का वचन देकर समुद्रविजय और शिवादेवी को सान्त्वना दी। इसके बाद वे अपने महल में आकर कोई उपाय सोचने लगे। उन्हें विचार में पड़ा देख कर सत्यभामा ने चिन्ता का कारण पूछा। विवाह सम्बन्धी बातों में स्त्रियाँ विशेष चतुर होती हैं, यह सोच कर श्रीकृष्ण ने सारी बात कह दी।

उन दिनों वसन्त ऋतु थी। वृक्ष नए फूल और पत्तों से लदे

थे। सुगन्धित समीर युवक हृदयों में मादकता का सञ्चार कर रहा था। सत्यभामा ने वसन्तोत्सव मनाकर उसी में श्रीनेमिकुमार से विवाह की स्वीकृति लेने का निश्चय किया।

रैवत गिरि अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिए अनुपम है। उसी पर वसन्तोत्सव मनाने का निश्चय किया गया। धूमधाम से तैयारियाँ शुरू हुई। श्रीकृष्ण, बलदेव आदि सभी यादव अपनी पत्नियों के साथ रैवत गिरि पर चले। नेमिकुमार को भी श्रीकृष्ण ने आग्रहपूर्वक अपने साथ ले लिया। मार्ग में सत्यभामा वगैरह कृष्ण की रानियाँ नेमिकुमार से विविध प्रकार से मजाक करके उन्हें सांसारिक विषयों की ओर खींचने का निष्फल प्रयत्न कर रही थीं। नेमिकुमार के हृदय पर उन बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ रहा था। वे मन ही मन मोह की विडम्बना पर विचार कर रहे थे। रैवत गिरि पर पहुँच कर सभी स्त्री पुरुष वसन्तोत्सव मनाने लगे। विविध प्रकार की क्रीड़ा करती हुई कृष्ण की रानियाँ नेमिकुमार के सामने कामोत्तेजक चेष्टाएं करने लगीं। बीच २ में वे पूछती जाती थीं–देवर जी! हमें आशा है अगले वसन्तोत्सव में आप भी पत्नी सहित होगे। भगवान् नेमिनाथ उनकी चेष्टाओं और उक्तियों से विकृत होने वाले न थे। मोह में फँसे हुए प्राणियों की बातों पर मन ही मन विचार करते हुए उन्हे हँसी आ गई। कृष्ण की रानियों ने समझा, नेमिकुमार विवाह के लिए तैयार हो गए है। उसी समय यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि नेमिकुमार ने विवाह करना मञ्जूर कर लिया है। वसन्तोत्सव पूरा हुआ। सभी यादव लौट आए। श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार द्वारा विवाह की स्वीकृति का वृत्तान्त समुद्रविजय तथा शिवादेवी से कहा। उन्हे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कृष्ण से फिर कहा–नेमिकुमार के लिए योग्य कन्या ढूंढना भी आप ही का काम है, इसे भी आप ही पूरा कीजिए।

चुके हैं। नेमिकुमार के विवाह का सारा भार आप पर डाल चुके हैं।
श्रीकृष्ण ने इस विषय में भी सत्यभामा से पूछा। राजीमती सत्यभामा की बहिन थी। उसकी दृष्टि में नेमिकुमार के लिए राजीमती के सिवाय कोई कन्या उपयुक्त न थी। राजीमती के लिए भी नेमिकुमार के सिवाय कोई योग्य वर न था। इसलिए सत्यभामा ने राजीमती के लिए प्रस्ताव रक्खा। श्रीकृष्ण, समुद्रविजय और शिवादेवी सभी को यह बात बहुत पसन्द आई।
राजीमती को माँगने के लिए स्वयं श्रीकृष्ण महाराजा उग्रसेन के पास गए। उन्होंने भी श्रीकृष्ण का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। महारानी धारिणी तथा राजीमती को भी इससे बहुत प्रसन्नता हुई। विवाह के लिये श्रावण शुक्ला षष्ठी का दिन निश्चित हुआ।
श्रीकृष्ण के लौटते ही महाराज समुद्रविजय ने विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं। सभी यादवों को आमन्त्रण भेज गए। द्वारिका नगरी को सजाया गया। जगह जगह बाजे बजने लगे। मंगल गीत गाए जाने लगे। महाराज उग्रसेन यादवों के विशाल परिवार और उनकी ऋद्धि से परिचित थे। बरात का सत्कार करने के लिए उन्होंने भी विशाल आयोजन प्रारम्भ किया।
यादवों में उन दिनों मद्य और मांस का बहुत प्रचार था। बिना मांस के भोजन अधूरा समझा जाता था। उनका स्वागत करने के लिए मांस आवश्यक वस्तु थी। बरातियों के भोजन के लिए महाराज उग्रसेन ने भी अनेक पशु पक्षी एकत्रित किए। उन्हें विशाल बाड़े तथा पिंजरों में बन्द करके खिला पिला कर हृष्ट पुष्ट किया जाने लगा। मार जाने वाले पशुओं का बाड़ा उसी रास्ते पर था जिधर से बरात आने वाली थी।
धीरे २ बरात के प्रस्थान का दिन आ गया। हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की चतुरंगिणी सेना सजाई गई। यादवगण बहु

मूल्य वस्त्राभूषण पहिन कर अपने २ वाहन पर सवार हुए। प्रस्थान समय के मंगलवाद्य बजने लगे। गायक मंगल गीत गाने लगे। भगवान् अरिष्टनेमि को दूल्हे के रूप में सजाया जाने लगा। उन्हें विविध प्रकार की औषधियों तथा दूसरे पदार्थों से युक्त सुगन्धित पानी से स्नान कराया गया। उज्ज्वल वेश और आभूषण पहनाए गए। वर के वेश में नेमिकुमार कामदेव के समान सुन्दर और सूर्य के समान तेजस्वी मालूम पड़ने लगे। उन्हें देख कर समुद्रविजय और शिवादेवी के हर्ष का पार न था।

नेमिकुमार के बैठने के लिए श्रीकृष्ण का प्रधान रथ रत्न-जटित आभूषणों से सजाया गया। अनेक मंगलोपचारों के साथ वे रथ पर विराजे। उन पर छत्र सुशोभित हो गया। चँवर ढुलाए जाने लगे।

बरात में सब से आगे चतुरंगिणी सेना बाजा बजाते हुए चल रही थी। उसके पीछे मंगल गायक और बन्दीजनों का समूह था। इसके बाद हाथी और घोड़ों पर प्रमुख अतिथि अर्थात् पाहुने सवार थे। उनके पीछे कुमार नेमिनाथ का रथ था। दोनों ओर घोड़ों पर सवार अंगरक्षक थे। सब से पीछे समुद्रविजय, वसुदेव, श्रीकृष्ण आदि यादव नरेश और सेना थी। शुभमुहूर्त में मंगलाचार के बाद बरात ने प्रस्थान किया। झूमते हुए मतवाले हाथियों, हिनहिनाते हुए घोड़ों, गूँजते हुए नगारों और फहराते हुए झण्डों के साथ पृथ्वी को कम्पित करती हुई बरात मथुरा की ओर रवाना हुई।

जब बरात मथुरा के पास पहुँच गई, महाराज उग्रसेन अपने परिवार तथा सेना के साथ अगवानी (सामेला) करने के लिए आए।

राजीमती के हृदय में अपार हर्ष हो रहा था। सखियाँ उसका [illegible] कर रही थीं। वे उससे विविध प्रकार का मजाक कर रही [illegible]। इतने में राजीमती की दाहिनी आँख फड़कने लगी। साथ में

दूसरे दाहिने अङ्ग भी फड़कने शुरू हुए। मनुष्य को जितना अधिक हर्ष होता है वह विघ्नों के लिए उतना ही अधिक शङ्काशील रहता है। रानीमती के हृदय में भी किसी अज्ञात भय ने स्थान कर लिया। उसने अङ्ग फड़कने की बात सखियों से कही। सखियों ने कई प्रकार से समझाया किन्तु रानीमती के हृदय से सन्देह दूर न हुआ।

धन, शारीरिक बल या बुद्धि मात्र से कोई महापुरुष नहीं बनता। वास्तविक बड़प्पन का सम्बन्ध आत्मा से है। जिस व्यक्ति की आत्मा जितनी उन्नत तथा बलवान् है वह उतना ही बड़ा है। दूसरे के दुःखों को अपना दुःख समझना, प्राणी मात्र से मित्रता रखना, हृदय में सरलता तथा सहृदयता का वास होना महापुरुषों के लक्षण हैं। महापुरुष सांसारिक भोगों में नहीं फँसते।

भगवान् अरिष्टनेमि की बरात तोरणद्वार की ओर आ रही थी। धीरे धीरे उस बाड़े के सामने पहुँच गई जिसमें सारे जाने वाले पशु पक्षी बँधे थे। बन्धन में पड़ने के कारण वे विविध प्रकार से करुण क्रन्दन कर रहे थे। सारी बरात निकल गई किन्तु किसी का ध्यान उन दीन पशुओं की ओर न गया। सांसारिक भोगों में अन्धे बने हुए व्यक्ति दूसरे के सुख दुःख को नहीं देखते। अपनी क्षणिक तृप्ति के लिये वे सारी दुनियाँ को भूल जाते हैं।

क्रमशः कुमार नेमिनाथ का रथ बाड़े के सामने आया। पशुओं का विलाप सुन कर उनका हृदय करुणा से भर गया।

भगवान् ने सारथी से पूछा– इन दीन पशुओं को बन्धन में क्यों डाला गया है?

सारथी ने उत्तर दिया– प्रभो! ये सब महाराज उग्रसेन ने आप के विवाह में भोज देने के लिए इकट्ठे किए हैं। यादवों का भोजन मांस के बिना पूरा नहीं होता।

भगवान् ने आश्चर्यचकित होते हुए कहा– मेरे विवाह में मांस

भोजन ! जिह्वा की क्षणिक तृप्ति के लिए इतनी बड़ी हत्या ! मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए कितना अन्धा हो जाता है ? अपनी क्षणिक लालसा के लिए हजारों प्राणियों का जीवन लेते हुए भी नहीं हिचकता। भला इन दीन अनाथ पशुओं ने किसी का क्या बिगाड़ा है ? फिर इन्हें बन्धन में क्यों डाला जाय ? इनके प्राण क्यों लिए जायँ ? क्या मनुष्य को अपनी इच्छातृप्ति के लिए दूसरों के प्राण लेने का अधिकार है ? क्या यह न्याय है कि सबल निर्बल के प्राण ले ले ? क्या यह मानवता है ? नहीं, यह मानवता के नाम पर अत्याचार है। भयङ्कर अन्याय है। मेरा जीवन संसार में न्याय और सत्य की स्थापना के लिए है। फिर मैं अपने ही निमित्त से होने वाले इस अन्याय का अनुमोदन कैसे कर सकता हूँ ? मैं अहिंसाधर्म की प्ररूपणा करने वाला हूँ, फिर हिंसा को श्रेयस्कर कैसे मान सकता हूँ ?

भगवान् की इच्छा देख कर सारथी ने सभी प्राणियों को बन्धन मुक्त कर दिया। आनन्दित होते हुए पक्षी आकाश में उड़ गए। पशु वन की ओर भागे। भगवान् द्वारा अभयदान मिलने पर उन के हर्ष का पारावार न रहा।

भगवान् ने प्रसन्न होकर अपने बहुमूल्य आभूषण सारथी को पारितोषिक में दे दिए और कहा—सखे ! रथ को वापिस ले चलो। जिसके लिए इस प्रकार का महारम्भ हो ऐसा विवाह मुझे पसन्द नहीं है। सारथी ने रथ को वापिस मोड़ लिया। बरात बिना वर की हो गई। चारों ओर खलबली मच गई।

महल की खिड़की से राजीमती यह दृश्य देख रही थी। उसके हृदय की आशङ्का उत्तरोत्तर तीव्र हो रही थी। नेमिकुमार के रथ को वापिस होते देख कर वह बेहोश होकर गिर पड़ी। दासियाँ और सखियाँ घबरा गईं।

नेमिकुमार का रथ वापिस जा रहा था। कृष्ण वासुदेव महाराज समुद्रविजय तथा यदुवंश के सभी बड़े बड़े व्यक्ति उन्हें समझाने आए किन्तु कुमार नेमिनाथ अपने निश्चय पर अटल थे। वे सांसारिक भोग विलासों को छोड़ने का निश्चय कर चुके थे। उन्होंने मार्मिक शब्दों में कहना शुरू किया–

मुझे राजीमती से द्वेष नहीं है। जो व्यक्ति संसार के सभी प्राणियों को सुखी बनाना चाहता है वह एक राजीमती को दुःख में कैसे डाल सकता है। किन्तु मोह में पड़े हुए संसार के भोले प्राणी यह नहीं समझते कि वास्तविक सुख कहाँ है। क्षणिक भोगों के दास बन कर इन्द्रियविषयों के गुलाम होकर वे तुच्छ वासनाओं की तृप्ति में ही सुख मानते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि ये ही इन्द्रिय विषय उनके लिए बन्धन स्वरूप हैं। परिणाम में बहुत दुःख देने वाले हैं।

संसार में दो प्रकार की वस्तुएं हैं–श्रेय और प्रेय। जो वस्तुएं इन्द्रियों और मन को प्रिय लगती हैं किन्तु परिणाम में दुःख देने वाली हैं वे प्रेय कही जाती हैं। जिनसे आत्मा का कल्याण होता है,इन्द्रियां और मन बाह्य विषयों की ओर जाने से रुक जाते हैं उन्हें श्रेय कहा जाता है। इन्द्रिय और मन के दास बने हुए भोले प्राणी प्रेय वस्तु को अपनाते हैं और अनन्त संसार में रुलते हैं। इस के विपरीत विवेकी पुरुष श्रेय वस्तु को अपनाते हैं और उसके द्वारा मोक्ष के नित्य सुख को प्राप्त करते हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि की वाणी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि एक हजार यादव संसार को बन्धन समझ कर उन्हीं के साथ दीक्षा लेने को तैयार होगए। श्रीकृष्ण और समुद्रविजय वगैरह प्रमुख यादव भी निरुत्तर होगए और उन्हें रोकने का प्रयत्न छोड़ कर अलग होगए। भगवान् नेमिनाथ सारी बरात को छोड़ कर अपने महल की ओर रवाना हुए।

भगवान् के जाते ही बरातियों की सारी उमंगें हवा हो गई। सभी के चेहरे पर उदासी छा गई। चाँद के छिप जाने पर जो दशा रात्रि की होती है वही दशा नेमिनाथ के चले जाने पर बरात की हुई। महाराज उग्रसेन की दशा और भी विचित्र हो रही थी। उन्हें कुछ नहीं सूझ रहा था कि इस समय क्या करना चाहिए।

उस समय राजीमती के हृदय की दशा अवर्णनीय थी। नेमिकुमार के रथ को अपने महल की ओर आते देख कर उसने सोचा था- मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ! त्रिलोकपूज्य भगवान् स्वयं मुझे वरने के लिए आरहे है। मैं यादवों की कुलवधू बनूँगी। महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी मेरे श्वसुर और सास होंगे। मुझ से बढ़ कर सुखी संसार में कौन है?

राजीमती अपने भावी सुखो की कल्पनाओं से मन ही मन खुश होरही थी, इतने मे उसने नेमिकुमार को वापिस लौटते देखा। वह इस आघात को न सह सकी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। चेतना आते ही सारा दुःख बाहर उमड़ आया। वह अपना सर्वस्व नेमिकुमार के चरणो मे अर्पित कर चुकी थी, उन्हे अपना आराध्य देव मान चुकी थी। जीवन नैया की पतवार उनके हाथो मे सौंप चुकी थी। उनके विमुख होने पर वह अपने को सूनी सी, निराधार सी, नाविक रहित नौका सी मानने लगी। जिस प्रकार सूर्य और दिन का सतत सम्बन्ध है, राजीमती उसी प्रकार नेमिकुमार और अपने सम्बन्ध को मान चुकी थी। सूर्य के बिना दिन के समान नेमिकुमार के बिना वह अपना कोई अस्तित्व ही न समझती थी।

सखियाँ कहने लगीं—अभी कौनसा विवाह हो गया है? उन से भी अच्छा कोई दूसरा वर मिल जाएगा।

राजीमती ने उत्तर दिया- विवाह क्या होता है? क्या अग्नि प्रदक्षिणा देने से ही विवाह होता है? मेरा विवाह तो उसी दिन

हो चुकी जिस दिन मैंने अपने हृदय में नेमिकुमार को पति मान लिया। उस दिन से मैं उनकी हो चुकी। उनके सिवाय सभी पुरुष मेरे लिए पिता और भाई के समान हैं। कुमार स्वयं भी मुझे अपनी पत्नी बनाना स्वीकार करके ही यहाँ आए थे। मुझे इस बात का गौरव है कि उन्होंने मुझे अपनी पत्नी बनाने के योग्य समझा। संसार की सारी स्त्रियों को छोड़ कर मुझे ही यह सन्मान दिया।

यह भी मेरे लिए हर्ष की बात है कि वे संसार के प्राणियों को अभय दान देने के लिए ही वापिस गए हैं। अगर वे मुझे छोड़ कर किसी दूसरी कन्या से विवाह करने जाते तो मेरे लिए यह अपमान की बात होती, किन्तु उन्होंने अपने उस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाह बन्धन में पड़ना उचित नहीं समझा। यह तो मेरे लिए अभिमान की बात है कि मेरे पति संसार का कल्याण करने के लिए जा रहे हैं। दुःख केवल इतना ही है कि वे मुझे बिना दर्शन दिए चले गए। अगर विवाह हो जाने के बाद वे मुझे भी अपने साथ ले चलते और मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होते हुए मुझे भी अपने साथ रखते तो कितना अच्छा होता। क्या मैं उनके पथ में बाधा डालती ? किन्तु नेमिकुमार एक बार मुझे अपना चुके हैं। अपने चरणों में शरण दे चुके हैं। महापुरुष जिसे एक बार शरण दे देते हैं फिर उसे नहीं छोड़ते। नेमिकुमार भी मुझे कभी नहीं छोड़ सकते। संसार के प्राणियों को दुःख से छुड़ाने के लिए उन्होंने सभी भौतिक सुखों को छोड़ा है। ऐसी दशा में वे मुझे दुःख में कैसे छोड़ सकते हैं ? मेरा अवश्य उद्धार करेंगे।

राजीमती में स्त्रीहृदय की कोमलता, महासती की पवित्रता और महापुरुषों सी वीरता का अपूर्व सम्मिश्रण था। उसकी विचार धारा कोमलता के साथ उठ कर दृढ़ता के रूप में परिणत हो गई। उसे पक्का विश्वास हो गया कि नेमिकुमार अवश्य आएंगे और

मेरा उद्धार करेंगे। भगवान के गुणगान और उन्हीं के स्मरण में लीन रहती हुई वह उस दिन की प्रतीक्षा करने लगी।

भगवान अरिष्टनेमि के छोटे भाई का नाम रथनेमि था। एक ही माता पिता के पुत्र होने पर भी उन दोनों के स्वभाव में महान अन्तर था। नेमिनाथ जिन वस्तुओं को तुच्छ समझते थे रथनेमि उन्हीं के लिए तरसते थे। इन्द्रियों को तृप्त करना, सांसारिक विषयों का सेवन करना तथा कामभोगों को भोगना ही वे अपने जीवन का ध्येय मानते थे।

उन्होंने राजीमती के सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा सुन रक्खी थी। वे चाहते थे कि राजीमती उन्हें ही प्राप्त हो किन्तु अरिष्टनेमि के साथ उसके विवाह का निश्चय हो जाने पर मन मसोस कर रह गए। अरिष्टनेमि विवाह नहीं करेंगे इस निश्चय को जान कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके हृदय में फिर आशा का संचार हुआ और राजीमती को प्राप्त करने का उपाय सोचने लगे।

इस कार्य के लिए रथनेमि ने एक दूती को राजीमती के पास भेजा। पुरस्कार के लोभ में पड़ कर दूती राजीमती के पास गई। एकान्त अवसर देख कर उसने रथनेमि की इच्छा राजीमती के सामने प्रकट की और विविध प्रकार से उसे सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट करके यह सम्बन्ध स्वीकार करने का आग्रह किया। उसने रथनेमि के सौन्दर्य,वीरता,रसिकता आदि गुणों की प्रशंसा की। विषयसुखों की रमणीयता का वर्णन किया और राजीमती से फिर कहा—आपको सब प्रकार के सुख प्राप्त है। शारीरिक सम्पत्ति है, लक्ष्मी है, प्रभुता है। रथनेमि सरीखे सुन्दर और सहृदय राजकुमार आपके दास बनने को तैयार है। मानव जीवन और सब प्रकार के सांसारिक सुखों को प्राप्त करके उन्हे व्यर्थ जाने देना बुद्धिमत्ता नही है। अतःइस प्रस्ताव को स्वीकार कीजिए और अनु-

भेंट देकर अपने और कुमार रथनेमि के जीवन को सुखमय बनाइए।
राजीमती को दूती की बात सुन कर आश्चर्य हुआ। दोनों भाइयों में इतना अन्तर देख कर वह चकित रह गई।
साधारण स्त्री होती तो दूती का प्रस्ताव मञ्जूर कर लेती या अनिच्छा होने पर अपना क्रोध दूती पर उतारती। उसे डाटती, फटकारती, दण्ड देने तक तैयार हो जाती। किन्तु राजीमति सती होने के साथ साथ बुद्धिमती भी थी। उसकी दृष्टि में पापी पर क्रुद्ध होने की अपेक्षा प्रयत्नपूर्वक उसे सन्मार्ग में लाना श्रेयस्कर था। उसने सोचा- दूती को फटकारने से सम्भव है बात बढ़ जाय और उससे रथनेमि के सन्मान में बट्टा लगे। रथनेमि कुलीन पुरुष हैं। इस समय कामान्ध होने पर भी समझाने से सुमार्ग पर लाए जा सकते हैं। यह सोच कर उसने दूती से कहा- रथनेमि के इस प्रस्ताव का उत्तर मैं उन्हें ही दूंगी। इस लिए तुम जाओ और उन्हें ही भेज दो। साथ में कह देना कि वे अपनी पसन्द के अनुसार किसी पेय वस्तु को लेते आवें।
यद्यपि राजीमती ने यह उत्तर दूसरे अभिप्राय से दिया था, किन्तु दूती ने उसे अपने प्रस्ताव की स्वीकृति ही समझा। वह प्रसन्न होती हुई रथनेमि के पास गई और सारी बातें सुना दीं। रथनेमि ने भी उसे प्रस्ताव की स्वीकृति ही समझा।
रथनेमि ने सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने। बड़ी उमङ्गों के साथ पेय वस्तु तैयार कराई। रत्नखचित स्वर्ण थाल में कटोरा रख कर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र से उसे ढक दिया। एक सेवक को साथ लेकर राजीमती के महल में पहुँचा। भावी सुखों की आशा में वह फूला न समाता था।
राजीमती ने रथनेमि का स्वागत किया। वह कहने लगी- आप का दर्शन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। दूती ने आपकी इच्छा

प्रशंसा की थी वे सभी गुण आप में मालूम पड़ रहे हैं। जब से उसने विवाह का प्रस्ताव रक्खा मैं आपकी प्रतीक्षा में थी।

राजीमती की बातें सुनते समय रथनेमि के हृदय में उत्तरोत्तर अधिक आशा का संचार हो रहा था। वह समझ रहा था राजीमती ने मुझे स्वीकार कर लिया है। उसने उत्तर दिया–

राजकुमारी ! मैंने आपके सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा बहुत दिनों से सुन रक्खी थी। बहुत दिनों से मैंने आपको अपने हृदय की अधीश्वरी मान रक्खा था, किन्तु भाई के साथ आपके सम्बन्ध की बात सुन कर चुप होना पड़ा। मालूम पड़ता है मेरा भाग्य बहुत तेज है इसी लिए नेमिकुमार ने इस सम्बन्ध को नामञ्जूर कर दिया। निश्चय होने पर भी मैं एक बार आपके मुँह से स्वीकृति के शब्द सुनना चाहता हूँ, फिर विवाह में देर न होगी।

राजीमती मन ही मन सोच रही थी– कामान्ध व्यक्ति अपने सारे विवेक को खो बैठता है। मेरे बाह्य रूप पर आसक्त होकर ये अपने भाई के नाते को भी भूल रहे है। भगवान् के त्याग को ये अपना सौभाग्य मान रहे है। मोह की विडम्बना विचित्र है। इस के वश में पड़ कर मनुष्य भयङ्कर से भयङ्कर पाप करते हुए नहीं हिचकता। भगवान् के साथ मेरा विवाह हो जाने पर भी इनके हृदय से यह दुर्भावना दूर न होती और उसे पूर्ण करने के लिये ये किसी भी पाप से नहीं हिचकते।

राजीमती के कहने पर रथनेमि ने पेय वस्तु का कटोरा उसके सामने रख दिया और कहा– आपने बहुत ही तुच्छ वस्तु मँगवाई। मैं आपके लिये बड़ी से बड़ी वस्तु लाने के लिये तैयार हूँ।

राजीमती उस कटोरे को उठा कर पी गई साथ मे पहले से पास रक्खी हुई उस दवा को भी खा गई जिसका प्रभाव तत्काल वमन था। कटोरे को पीते देख रथनेमि को पक्का विश्वास हो गया कि

राजीमती ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। वे मन ही मन बहुत खुश हो रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि राजीमती उसी कटोरे में वमन कर रही है। रथनेमि काँप उठे और आशङ्का करने लगे कि कहीं कटोरे में ऐसी वस्तु तो नहीं मिल गई जो हानिकारक हो।

वे इस प्रकार सोच ही रहे थे कि राजीमती ने वमन से भरा हुआ कटोरा उनके सामने किया और कहा-राजकुमार! लीजिए, इस पी लीजिए।

वमन के कटोरे को देख कर रथनेमि पीछे हट गए। आँखें क्रोध से लाल हो गई। ओठ फड़कने लगे। गरजते हुए कहने लगे-राजीमती! तुम्हें अपने रूप पर इतना घमण्ड है ? किसी भद्र पुरुष को बुला कर तुम उसका अपमान करती हो ? क्या मुझे कुत्ता या कौआ समझ रखा है जो वमन की हुई वस्तु पिलाना चाहती हो ?

राजीमती ने उपदेश देने की इच्छा से कुमार को शान्त करते हुए कहा-राजकुमार ! शान्ति रखिए। मैं आपके प्रेम की परीक्षा करना चाहती हूँ।

रथनेमि-क्या परीक्षा का यही उपाय है ?

राजीमती-हाँ ! यही उपाय है। यदि आप इस को जान लें तो मैं समझूँगी कि आप मुझे स्वीकार कर सकेंगे।

रथनेमि-क्या मैं वमा हुआ पदार्थ पी जाऊँ ?

राजीमती-वमा हुआ पदार्थ है तो क्या हुआ ? है तो वही जो आप लाए थे और जो आपको अत्यधिक प्रिय है। इसके रूप,रस या रंग में कोई फर्क नहीं पड़ा है। केवल एक बार मेरे पेट तक जा कर निकल आया है।

रथनेमि-इससे क्या, है तो वमन ही ?

राजीमती-मेरे साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले के लिए वमन पीना कठिन नहीं है।

रथनेमि– क्यों ?

राजीमती–जिस प्रकार यह पदार्थ मेरे द्वारा त्यागा हुआ है उसी प्रकार मैं आप के भाई द्वारा त्यागी हुई हूँ। जैसे मैं आपको प्रिय हूँ उसी प्रकार यह पदार्थ भी आप को बहुत प्रिय है। दोनों के समान होने पर भी इसे पीने वाले को आप कुत्ते या कौए के समान समझते हैं और मुझे अपनाते समय यह विचार नहीं करते।

राजीमती की युक्तिपूर्ण बातें सुन कर रथनेमि का सिर लज्जा से नीचे झुक गया। उसे मन ही मन पश्चात्ताप होने लगा।

राजीमती फिर कहने लगी–यादवकुमार ! मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव भेजते समय आपने यह विचार नहीं किया कि मैं आप के बड़े भाई की परित्यक्ता पत्नी हूँ। मोहवश आप मेरे साथ विवाह करने को तैयार हो गए। आप के बड़े भाई मेरा त्याग कर के चले गए इसे आपने अपना सौभाग्य माना। आप भी उन्हीं माता पिता के पुत्र हैं जिन के भगवान् स्वयं हैं, फिर सोचिए मोह ने आप को कितना नीचे गिरा दिया।

रथनेमि लज्जा से पृथ्वी में गड़े जा रहे थे। वे कहने लगे–राजकुमारी ! मुझे अपने कार्य के लिए बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। आपने उपदेश देकर मेरी आँखें खोल दीं।

रथनेमि चुपचाप राजीमती के महल से चले आए। उनके हृदय में लज्जा और ग्लानि थी। सांसारिक विषयों से उन्हें विरक्ति हो गई थी। उन्होंने सांसारिक बन्धनों को छोड़ने का निश्चय कर लिया।

राजीमती का भगवान् अरिष्टनेमि के साथ लौकिक दृष्टि से विवाह नहीं हुआ था। अगर वह चाहती तो रथनेमि या किसी भी योग्य पुरुष से विवाह कर सकती थी। इस के लिए उसे लोक में निन्दा का पात्र न बनना पड़ता फिर भी उसने किसी दूसरे पुरुष से विवाह नहीं किया। जीवन पर्यन्त कुमारी रहना स्वीकार कर

लिया, उसे ही अपना पति माना।

भगवान् अरिष्टनेमि तोरण द्वार से लौट कर अपने महल में चले आए। उसी समय तीर्थङ्करों की मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देव उन्हें चेताने के लिए आए और सभा में उपस्थित होकर कहने लगे—प्रभो! संसार में पाप बहुत बढ़ गया है। लोग विषय वासनाओं में लिप्त रहने लगे हैं। बलवान् प्राणी दुर्बलों को सता रहे हैं। जनता को हिंसा, स्वार्थ, विषयवासना आदि पाप प्रिय मालूम पड़ने लगे हैं। इस लिए प्रभो! धर्मतीर्थ की प्रवर्तना कीजिये जिससे प्राणियों को सच्चे सुख का मार्ग प्राप्त हो और पृथ्वी पर पाप का भार हल्का हो। भव्य प्राणी अपने कल्याण के लिए आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना सुन कर भगवान् ने वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर दिया।

रथनेमि को भी संसार से विरक्ति हो गई थी। भगवान् के साथ दीक्षा लेने की इच्छा से वे भगवान् के दीक्षादिवस की प्रतीक्षा करने लगे। दूसरे यादव भी जो भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर संसार छोड़ने को तैयार हो गए थे वे भी उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे।

महाराजा उग्रसेन को जब यह मालूम पड़ा कि अरिष्टनेमि वार्षिक दान दे रहे हैं और उसके अन्त में दीक्षा ले लेंगे तो उन्होंने राजीमती का विवाह किसी दूसरे पुरुष से करने का विचार किया। इस के लिए राजीमती की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

इस लिए महाराज उग्रसेन रानी के साथ राजीमती के पास गए। वे कहने लगे—बेटी! अब तुम्हें अरिष्टनेमि का ध्यान हृदय से निकाल देना चाहिए। उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया है। यह अच्छा ही हुआ कि विवाह होने के पहले ही वे वापिस चले

गए। विवाह के बाद तुम्हें त्याग देते या दीक्षा ले लेते तो सारे जीवन दुःख उठाना पड़ता। अब हम तुम्हारा विवाह किसी दूसरे राजकुमार से करना चाहते हैं। इस में नीति, धर्म या समाज की ओर से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। तुम्हारी क्या इच्छा है?

राजीमती- पिताजी! मेरा विवाह तो हो चुका है। हृदय से किसी को पति रूप में या पत्नीरूप में स्वीकार कर लेना ही विवाह है। उसके लिए बाह्य दिखावे की आवश्यकता नहीं है। बाह्य क्रियाएं केवल लोगों को दिखाने के लिए होती हैं। असली विवाह हृदय का सम्बन्ध है। मैं इस विवाह को कर चुकी हूँ। आर्य कन्या को आप दुबारा विवाह करने के लिये क्यों कह रहे हैं?

माता- बेटी! हम तुम्हें दूसरे विवाह के लिए नहीं कह रहे हैं। विवाह एक लौकिक प्रथा है और जब तक वह पूरी नहीं हो जाती, कन्या और वर दोनों अविवाहित माने जाते हैं, दुनियाँ उन्हे अविवाहित ही कहती है, इसी लिए तुम अविवाहिता हो।

राजीमती- दुनियाँ कुछ भी कहे। लौकिक रीति रिवाज भले ही मुझे विवाहिता न मानते हों किन्तु मेरा हृदय तो मानता है। मेरी अन्तरात्मा मुझे विवाहिता कह रही है। सांसारिक सुखों के प्रलोभन मे पड़ कर अन्तरात्मा की उपेक्षा करना उचित नहीं है। मेरा न्याय मेरी अन्तरात्मा करती है, दुनियाँ की बातें नहीं।

माता- कुमार अरिष्टनेमि तोरण द्वार से लौट गए। उन्होंने तुम्हें अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया। फिर तुम अपने को उनकी पत्नी कैसे मानती हो?

राजीमती- मेरा निर्णय भगवान् अरिष्टनेमि के निर्णय पर अवलम्बित नहीं है। उन्होने अपना निर्णय अपनी इच्छानुसार किया है। वे चाहे मुझे अपनी पत्नी समझें या न समझें किन्तु मैं उन्हें एक बार अपना पति मान चुकी हूँ। मेरे हृदय में अब दूसरे

पुरुष के लिए स्थान नहीं है। दूसरे के विचारों पर अपने हृदय को डाँवाँडोल करना कायरता है।

माता– नमिकुमार (अरिष्टनेमि) तो दीक्षा लेंगे। क्या उन के पीछे तुम भी ऐसी ही रह जाओगी ?

राजीमती– माता जी! जब वे दीक्षा लेंगे तो मैं भी उनके मार्ग पर चलूँगी। पति कठोर संयम का पालन करे तो पत्नी को भोगविलासों में पड़े रहना शोभा नहीं देता। जिस प्रकार वे काम क्रोध आदि आत्मा के शत्रुओं को जीतेंगे उसी प्रकार मैं भी उन पर विजय प्राप्त करूँगी।

राजीमती के उत्तर के सामने माता पिता कुछ न कह सके। वे राजीमती की सखियों को उसे समझाने के लिए कह कर चले गए।

सखियों ने राजीमती को समझाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह अपने निश्चय पर अटल थी। उसका हृदय, उसकी बुद्धि, उसकी वाणी तथा उसके प्रत्येक रोम में नमिकुमार समा चुके थे। वह उन के प्रेम में ऐसी रंग गई थी, जिस पर दूसरा रंग चढ़ना असम्भव था। वह दिन रात उन के स्मरण में रहती हुई वैरागिन की तरह समय बिताने लगी।

सती स्त्रियाँ अपने जीवन को पति के जीवन में, अपने अस्तित्व को पति के अस्तित्व में तथा अपने सुख को पति के सुख में मिला देती है। उनका प्रेम सच्चा प्रेम होता है। उस में वासना की मुख्यता नहीं रहती। राजीमती के प्रेम में तो वासना की गन्ध भी न थी। उसे नेमिकुमार द्वारा किसी सांसारिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई थी, न भविष्य में प्राप्त होने की आशा थी फिर भी वह उनके प्रेम की मतवाली थी। वह अपनी आत्मा को भगवान् अरिष्टनेमि की आत्मा से मिला देना चाहती थी। शारीरिक सम्बन्ध की उसे परवाह न थी।

शुद्ध प्रेम मनुष्य को ऊँचा उठाता है। एक व्यक्ति से शुरू हो

कर वह विश्वप्रेम में बदल जाता है। इसके विपरीत जिस प्रेम मे स्वार्थ या वासना है वह उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है और अन्त में स्वार्थ या वासना की पूर्ति न होते देख समाप्त हो जाता है। इस का असली नाम मोह है। मोह अन्धकारमय है और प्रेम प्रकाशमय। मोह का परिणाम दुःख और अज्ञान है, प्रेम का सुख और ज्ञान।

राजीमती के हृदय में शुद्ध प्रेम था। इस लिए भगवान की आत्मा के साथ वह भी अपनी आत्मा को ऊँची उठाने का प्रयत्न कर रही थी। भगवान् के समान अपने प्रेम को बढ़ाते हुए विश्वप्रेम में बदल रही थी।

धीरे धीरे एक वर्ष पूरा हो गया। भगवान् अरिष्टनेमि का वार्षिकदान समाप्त हुआ। इन्द्र आदि देव दीक्षा महोत्सव मनाने के लिए आए। श्रीकृष्ण तथा दूसरे यादवों ने भी खूब तैयारियाँ की। अन्त मे श्रावण शुक्ला षष्ठी को भगवान् अरिष्टनेमि ने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। जो दिन एक साल पहले उनके विवाह का था, वही आज संसार के सभी सम्बन्धों को छोड़ने का दिन बन गया। नेमिकुमार ने राजवैभव को छोड़ कर वन का रास्ता लिया। उनके साथ रथनेमि तथा दूसरे यादव कुमार भी दीक्षित हो गए।

भगवान् अरिष्टनेमि की दीक्षा का समाचार राजीमती को भी मालूम पड़ा। समाचार सुन कर वह विचार मे पड़ गई कि अब मुझे क्या करना चाहिए। इस प्रकार विचार करते करते उसे जातिस्मरण हो गया। उसे मालूम पड़ा कि मेरा और भगवान् का प्रेम सम्बन्ध पिछले आठ भवों से चला आ रहा है। इस नवें भव मे भगवान् का संयम अङ्गीकार करने का निश्चय पहले से था। मुझे प्रतिबोध देने की इच्छा से ही उन्होंने विवाह का आयोजन स्वीकार कर लिया था। अब मुझे भी शीघ्र संयम अङ्गीकार करके

उनका अनुसरण करना चाहिए। इस निश्चय पर पहुँचने से उसके मुख पर प्रसन्नता छा गई। उसके हृदय का सारा खेद मिट गया।

राजीमती की माता उस समय फिर समझाने आई। राजीमती के दीक्षा लेने के निश्चय को जान कर उसने कहा—बेटी! संयम का पालना सरल नहीं है। बड़े बड़े योद्धा भी संयम के पालन करने में समर्थ नहीं होते। सरदी और गरमी में नंगे पाँव घूमना, भिक्षा में रूखा सूखा जैसा आहार मिल जाय उसी पर सन्तोष करना, भयङ्कर कष्ट पड़ने पर भी मन में क्रोध या ग्लानि न आने देना, शत्रु और मित्र सभी पर समभाव रखना, मानसिक विचारों पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। तुम्हारे सरीखी महलों में पली हुई कन्या उन्हें नहीं पाल सकती। बेटी! तुम्हें अपना निर्णय समझ कर करना चाहिए।

राजीमती ने उत्तर दिया—माताजी! मैं अच्छी तरह सोच चुकी हूँ। संयमी जीवन के कष्टों का भी मुझे पूरा ज्ञान है किन्तु पति के मार्ग पर चलने में मुझे सुख ही मालूम पड़ता है। उनके बिना इस अवस्था में मुझे दुःख ही दुःख है। मेरे लिए केवल संयम ही सुख का मार्ग है, इस लिए आप दूसरी बातों को छोड़ कर मुझे दीक्षा अङ्गीकार करने की अनुमति दीजिए।

राजीमती की माता को विश्वास हो गया कि राजीमती अपने निश्चय पर अटल है। उसने सारी बातें महाराज उग्रसेन को कहीं। अन्त में यही निर्णय किया कि राजीमती को उसकी इच्छानुसार चलने देना चाहिए। उसके मार्ग में बाधा डाल कर उसकी आत्मा को दुखी न करना चाहिए।

राजीमती ने अपने उपदेश से बहुत सी सखियों तथा दूसरी महिलाओं में भी वैराग्य भावना भर दी। सात सौ स्त्रियाँ उसके साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गई।

भगवान् अरिष्टनेमि को केवलज्ञान होते ही राजीमती ने सात सौ सखियों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। महाराज उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण ने उसका निष्क्रमण (दीक्षा या संसार त्याग) महोत्सव मनाया। राजकुमारी राजीमती साध्वी राजीमती बन गई। श्रीकृष्ण तथा सभी यादवों ने उसे वन्दना की। अपनी शिष्याओं सहित राजीमती तप संयम की आराधना तथा जनकल्याण करती हुई विचरने लगी। थोड़े ही समय में वह बहुश्रुत हो गई।

राजीमती के हृदय में भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन करने की पहले से ही प्रबल उत्कण्ठा थी। दीक्षा लेने के पश्चात् वह और बढ़ गई। उन दिनों भगवान् गिरिनार पर्वत पर विराजते थे। महासती राजीमती अपनी शिष्याओं के साथ विहार करती हुई गिरिनार के पास आ पहुँची और उल्लास पूर्वक ऊपर चढ़ने लगी। मार्ग में जोर से आँधी चलने लगी, साथ में पानी भी बरसने लगा। काली घटाओं के कारण अन्धेरा छा गया। पास खड़े वृक्ष भी दिखाई देने बन्द हो गए। साध्वी राजीमती उस बवण्डर में पड़ कर अकेली रह गई। सभी साध्वियों का साथ छूट गया। वर्षा के कारण उसके कपड़े भीग गए।

धीरे धीरे आँधी का जोर कम हुआ। वर्षा थम गई। राजीमती को एक गुफा दिखाई दी। कपड़े सुखाने के विचार से वह उसी में चली गई। गुफा को निर्जन समझ कर उसने कपड़े उतारे और सुखाने के लिए फैला दिए।

उसी गुफा मे रथनेमि धर्मचिन्तन कर रहे थे। अंधेरा होने के कारण वे राजीमती को दिखाई नहीं दिए। रथनेमि की दृष्टि राजीमती के नग्न शरीर पर पड़ी। उनके हृदय में कामवासना जागृत हो गई। एकान्त स्थान, वर्षा का समय, सामने वस्त्र रहित सुन्दरी, ऐसी अवस्था मे रथनेमि अपने को न सम्भाल सके। अपने अभिप्राय

को प्रकट करने के लिए वे विविध प्रकार से कुचेष्टाएं करने लगे।

राजीमती को पता चल गया कि गुफा में कोई पुरुष है और वह बुरी चेष्टाएं कर रहा है। वह डर गई कि कहीं यह पुरुष बल प्रयोग न करे। ऐसे समय में शील की रक्षा का प्रश्न उसके सामने बहुत विकट था। थोड़ी सी देर में उसने अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर लिया। उसने सोचा- मैं वीरबाला हूँ। हँसते हुए प्राणों पर खेल सकती हूँ। फिर मुझे क्या डर है? मनुष्य तो क्या देव भी मेरे शील का भंग नहीं कर सकते। वस्त्र पहिनने में विलम्ब करना उचित न समझ कर वह मर्कटासन लगा कर बैठ गई। जिससे कामातुर व्यक्ति उस पर शीघ्र हमला न कर सके।

अँधेरे के कारण रथनेमि राजीमती को दिखाई न दे रहे थे। राजीमती कुछ प्रकाश में थी इस कारण रथनेमि को स्पष्ट दिखाई दे रही थी। उन्होंने राजीमती को पहिचान लिया और चेहरे की भावभङ्गी से जान लिया कि राजीमती भयभीत हो गई है। वे अपने स्थान से उठ कर राजीमती के पास आए और कहने लगे- राजीमती! डरो मत। मैं तुम्हारा प्रेमी रथनेमि हूँ। मेरे द्वारा तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होगा। भय और लज्जा को छोड़ दो। आओ हम तुम मनुष्योचित सुख भोगें। यह स्थान एकान्त है, कोई देखने वाला नहीं है। दुर्लभ नरजन्म को पाकर भी सुखों से वञ्चित रहना मूर्खता है।

रथनेमि के शब्द सुन कर राजीमती का भय कुछ कम हो गया। उसने सोचा- रथनेमि कुलीन पुरुष हैं इस लिए समझाने पर मान जाएंगे। उसने मर्कटासन त्याग कर कपड़े पहिनना शुरु किया। रथनेमि कामुक बन कर राजीमती से विविध प्रकार की प्रार्थनाएं कर रहे थे और राजीमती कपड़े पहिन रही थी। कपड़े पहिन लेने पर उसने कहा- रथनेमि अनगार! आपने मुनिव्रत अङ्गीकार किया है। फिर आप कामुक तथा पतित लोगों के समान

कैसी बातें कर रहे हैं ?

रथनेमि– साधु होने पर भी इस समय मुझे तुम्हारे सिवाय कुछ नहीं सूझ रहा है। तुम्हारे रूप पर आसक्त होकर मैं सारा ज्ञान, ध्यान भूल गया हूँ।

राजीमती–आपको अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहना चाहिए क्या आप भूल गए कि आपने संयम अङ्गीकार करते समय क्या प्रतिज्ञाएं की थीं ?

रथनेमि– मुझे वे प्रतिज्ञाएं याद हैं, किन्तु यहाँ कौन देख रहा है ?

राजीमती– जिसे दूसरा कोई न देखे क्या वह पाप नहीं होता ? अपनी अन्तरात्मा से पूछिए। क्या छिप कर पाप करने वाला पतित नहीं माना जाता ?

मायावी होने के कारण वह तो खुल्लमखुल्ला पाप करने वाले से भी अधिक पातकी है।

रथनेमि– अगर छिप कर ऐसा करना तुम्हें पसन्द नहीं है तो आओ हम दोनों विवाह कर लें और संसार का आनन्द उठाएं वृद्धावस्था आने पर फिर दीक्षा ले लेंगे।

राजीमती– आपने उस समय स्वयं लाए हुए पेय पदार्थ को क्यों नहीं पिया था ?

रथनेमि– वह तुम्हारा वमन किया हुआ था।

राजीमती– यदि आप ही का वमन होता तो आप पी जाते ?

रथनेमि–यह कैसे हो सकता है, क्या वमन को भी कोई पीता है ?

राजीमती– तो आप कामभोगों को छोड़ कर (उनका वमन करके) फिर स्वीकार करने के लिये कैसे तैयार हो रहे हैं ?

रथनेमि कुमार ! आप अन्धकवृष्णि के पौत्र, महाराजा समुद्र विजय के पुत्र, धर्मचक्रवर्ती तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि के भाई हैं। त्यागे हुए को फिर स्वीकार करने की इच्छा आपके लिये लज्जा

की बात है।

पक्खन्दे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे॥

अर्थात्– अगन्धन कुल में पैदा हुए साँप जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि में गिर कर भस्म हो जाते हैं किन्तु उगले हुए विष को पीना पसन्द नहीं करते।

आप तो मनुष्य हैं, महापुरुषों के कुल में आपका जन्म हुआ है फिर यह दुर्भावना कहाँ से आई?

आपने संसार छोड़ा है। मैंने भी विषयवासना छोड़ कर महाव्रत अङ्गीकार किये हैं। आप और भगवान् दोनों एक कुल के हैं। दोनों ने एक ही माता के पेट से जन्म लिया है फिर भी आप दोनों में कितना अन्तर है। जरा अपनी आत्मा की तरफ ध्यान दीजिए। चर्मचक्षुओं के बजाय आभ्यन्तर नेत्रों से देखिए। जो शरीर आपको सुन्दर दिखाई दे रहा है, उसके अन्दर रुधिर, माँस, चर्बी, विष्टा आदि अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। क्या ऐसी अपवित्र वस्तु पर भी आप आसक्त हो रहे हैं? यदि आप सरीखे मुनिवर भी इस प्रकार डाँवा डोल होने लगेंगे तो दूसरों का क्या हाल होगा? जरा विचार कर देखिए कि आपके मुख से क्या ऐसी बातें शोभा देती हैं? अपने कृत्य पर पश्चात्ताप कीजिए। भविष्य के लिए संयम में दृढ़ रहने का निश्चय कीजिए। तभी आपकी आत्मा का कल्याण हो सकेगा।

रथनेमि का मस्तक राजीमती के सामने लज्जा से झुक गया। उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा। अपने अपराध के लिए वे राजीमती से बार बार क्षमा माँगने लगे।

राजीमती ने कहा– रथनेमि मुनिवर! क्षमा अपनी आत्मा से माँगिए। पाप करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को इतना नुक्सान नहीं पहुँचाता जितना अपनी आत्मा को पतित बनाता है। इस लिए

अधिक हानि आपकी ही हुई है। उसके लिए पश्चात्ताप करके आत्मा को शुद्ध बनाइए। पश्चात्ताप की आग में पाप कर्म भस्म हो जाते हैं। भविष्य के लिए पाप से बचने की प्रतिज्ञा कीजिए। अपने मन को शुभध्यान में लगाए रखिए जिससे आत्मा का उत्तरोत्तर विकास होता जाय।

तीसे सो वयणं सुच्चा, सजईए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ ॥

अर्थात्- जिस प्रकार अंकुश द्वारा हाथी ठिकाने पर आ जाता है उसी प्रकार सती राजीमती द्वारा कहे हुए हित वचनों को सुन कर रथनेमि धर्म में स्थिर हो गये।

रथनेमि ने भविष्य के लिए संयम मे दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा की। राजीमती ने उसे संयम के लिए फिर प्रोत्साहित किया और गुफा से निकल कर अपना रास्ता लिया। आगे चल कर उसे दूसरी साध्वियाँ भी मिल गईं। सब के साथ वह पहाड़ पर चढ़ने लगी।

धीरे धीरे सभी साध्वियाँ भगवान् अरिष्टनेमि के पास जा पहुँची। राजीमती की चिर अभिलाषा पूर्ण हुई। आनन्द से उस का हृदय गद्गद् हो उठा। उसने भगवान् के दर्शन किए। उपदेश सुना। आत्मा को सफल बनाया। भगवान् के उपदेशानुसार कठोर तप और संयम की आराधना करने लगी। फल स्वरूप उसके सभी कर्म शीघ्र नष्ट हो गए। भगवान् के मोक्ष पधारने से चौपन दिन पहले वह सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गई।

वासना रहित सच्चा प्रेम, पूर्ण ब्रह्मचर्य, कठोर संयम, उग्र तपस्या, अनुपम पतिभक्ति तथा गिरते हुए को स्थिर करने के लिए राजीमती का आदर्श सदा जाज्वल्यमान रहेगा।

(पूज्य श्रीजवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान में आये हुए राजीमती चरित्र के आधार पर)

(५) द्रौपदी

प्राचीन काल में चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर उत्तर पूर्व दिशा अर्थात् ईशान कोण में सुभूमिभाग नाम का उद्यान था।

चम्पा नगरी में तीन ब्राह्मण रहते थे– सोम, सोमदत्त और सोमभूति। वे तीनों भाई भाई थे। तीनों धनाढ्य, वेदों के जानकार तथा शास्त्रों में प्रवीण थे। तीनों के क्रमश नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री नाम वाली तीन भार्याएं थीं। तीनों सुकोमल तथा उन ब्राह्मणों को अत्यन्त प्रिय थीं। मनुष्य सम्बन्धी भोगों को यथेष्ट भोगती हुई कालयापन कर रही था।

एक बार तीनों भाइयों ने विचार किया– हम लोगों के पास बहुत धन है। सात पीढ़ी तक भी यदि हम बहुत दान करें तथा बहुत बाँटें तब भी समाप्त नहीं होगा, इस लिए प्रत्येक को बारी बारी से विपुल अशन पान आदि तैयार कराने चाहिए और सभी को वहीं एक साथ भोजन करना चाहिए। यह सोच कर वे सब बारी बारी से प्रत्येक के घर भोजन करते हुए आनन्द पूर्वक रहने लगे।

एक बार नागश्री के घर भोजन की बारी आई। उसने विपुल अशन पान आदि तैयार किए। शरद् ऋतु सम्बन्धी अलाबु (तुम्बा या घीया) का तज, इलायची वगैरह कई प्रकार के मसाले डाल कर शाक बनाया। तैयार हो जाने पर नागश्री ने एक बूँद हाथ में लेकर उसे चखा। वह उसे खारा, कड़वा, अखाद्य और अभक्ष्य मालूम पड़ा। नागश्री बहुत पश्चात्ताप करने लगी। कड़वे शाक को कोने में रख कर उसने मीठे अलाबु (तुम्बा या घीया) का शाक बनाया। सभी ने भोजन किया और अपने अपने कार्य में प्रवृत्त हो गए।

उन दिनों धर्मघोष नाम के स्थविर मुनि अपने शिष्य परिवार

सहित विहार करते हुए चम्पानगरी के सुभूमिभाग नामक उद्यान में पधारे। उन्हें वन्दना करने के लिए नगरी के बहुत से लोग गए। मुनि ने धर्मोपदेश दिया। व्याख्यान के बाद सभी लोग अपने अपने स्थान पर चले आए।

धर्मघोष स्थविर के शिष्य धर्मरुचि अनगार मास मास खमण की तपस्या करते हुए विचर रहे थे। मासखमण के पारने के दिन धर्मरुचि अनगार ने पहिली पोरिसी में स्वाध्याय किया। दूसरी में ध्यान किया। फिर तीसरी पोरिसी में पात्र वगैरह की पडिलेहणा करके धर्मघोष स्थविर की आज्ञा ली। चम्पा नगरी में आहार के लिए उच्च नीच कुलों में घूमते हुए वे नागश्री के घर पहुँचे। नागश्री उन्हें देख कर खड़ी हुई और रसोई में जाकर वही कड़वे तुम्बे का शाक उठा लाई। उसे धर्मरुचि अनगार के पात्र में डाल दिया।

पर्याप्त आहार आया जान कर धर्मरुचि अनगार नागश्री ब्राह्मणी के घर से निकल कर उपाश्रय में आए। आहार का पात्र हाथ में लेकर गुरु को बताया। धर्मघोष स्थविर को तुम्बे की गन्ध बुरी लगी। शाक की एक बूँद हाथ मे ले कर उन्होंने उसे चखा तो बहुत कड़वा तथा अभक्ष्य मालूम पड़ा। उन्होंने धर्मरुचि अनगार से कहा–हे देवानुप्रिय ! कड़वे तुम्बे के इस शाक का यदि तुम आहार करोगे तो अकालमृत्यु प्राप्त करोगे। इस लिए इस शाक को किसी एकान्त तथा जीव जन्तुओं से रहित स्थण्डिल में परठ आओ। दूसरा एषणीय आहार लाकर पारना करो।

धर्मरुचि अनगार गुरु की आज्ञा से सुभूमिभाग नामक उद्यान से कुछ दूर गये। स्थण्डिल की पडिलेहणा करके उन्होंने शाक की एक बूँद जमीन पर डाली। उस की गन्ध से उसी समय वहाँ हजारों कीड़ियाँ आ गई और स्वाद लेते ही अकाल मृत्यु प्राप्त करने लगीं। यह देख धर्मरुचि अनगार ने सोचा– एक बूँद से ही इतने जीवों

की हिंसा होती है तो यदि मैं सारा शाक यहाँ परठ दूँगा तो बहुत से प्राण (द्वीन्द्रियादि), भूत (वनस्पति) जीव (पञ्चेन्द्रिय) तथा सत्त्व (पृथ्वी कायादिक) मारे जावेंगे। इस लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं स्वयं इस शाक का आहार कर लूँ। यह शाक मेरे शरीर में ही गल जायगा। यह सोच कर उन्होंने मुखवस्त्रिका की पडिलेहणा की। अपने शरीर को पूँजा। इसके बाद उस कड़वे शाक को इस तरह अपने पेट में डाल लिया जिस तरह साँप बिल में प्रवेश करता है।

आहार करने के बाद एक मुहूर्त के अन्दर अन्दर वह शाक विषरूप में परिणत हो गया। सारे शरीर में असह्य वेदना होने लगी। उनमें बैठने, उठने की शक्ति नष्ट हो गई। वे बलरहित पराक्रमरहित और वीर्यरहित हो गए।

अपने आयुष्य को समाप्तप्राय जान कर धर्मरुचि अनगार ने पात्र अलग रख दिए। स्थण्डिल की पडिलेहणा करके दर्भ का संथारा बिछाया। उस पर बैठ कर पूर्व की ओर मुँह किया। दोनों हाथों की अञ्जलि को ललाट पर रख कर उन्होंने इस प्रकार बोलना शुरू किया–

णमोत्थुणं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं, णमोत्थुणं धम्मघोसाणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसगाणं, पुव्विं पि णं मए धम्मघोसाणं थेराणं अन्तिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव परिग्गहे। इयाणिं पि णं अहं तेसिं चेव भगवंताणं अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जाव परिग्गहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए।

अर्थात्– अरिहन्त भगवान् और सिद्ध भगवान् को मेरा नमस्कार हो तथा मेरे धर्माचार्य एवं धर्मोपदेशक धर्मघोष स्थविर को नमस्कार हो। मैंने आचार्य भगवान के पास पहले सर्व प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक सब पापों का यावज्जीवन त्याग किया था। अब फिर भी

उन सभी पापों का त्याग करता हूँ।

इस प्रकार चरम श्वासोच्छ्वास तक शरीर का ममत्व छोड़ कर आलोचना और प्रतिक्रमण करके धर्मरुचि अनगार समाधि में स्थिर हो गये। सारे शरीर में विष व्याप्त हो जाने से प्रबल वेदना उत्पन्न हुई जिससे तत्काल वे कालधर्म को प्राप्त हो गये।

धर्मरुचि अनगार को गये हुए जब बहुत समय हो गया तो धर्मघोष आचार्य ने दूसरे साधुओं को उनका पता लगाने के लिये भेजा। स्थण्डिल भूमि में जाकर साधुओं ने देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि धर्मरुचि अनगार कालधर्म को प्राप्त होगये हैं। उसी समय साधुओं ने उसके निमित्त कायोत्सर्ग किया। इसके बाद धर्मरुचि अनगार के पात्र आदि लेकर वे धर्मघोष आचार्य के पास आए और उनके सामने पात्र आदि रख कर धर्मरुचि अनगार के काल धर्म प्राप्त होने की बात कही।

धर्मघोष आचार्य ने पूर्वों के ज्ञान में उपयोग देकर देखा और सब साधुओं को बुला कर इस प्रकार कहा—आर्यो ! मेरा शिष्य धर्मरुचि अनगार प्रकृति का भद्रिक और विनयवान् था। निरन्तर एक एक महीने से पारना करता था। आज मासखमण के पारने के लिए वह गोचरी के लिए गया। नागश्री ब्राह्मणी ने उसे कड़वे तुम्बे का शाक बहरा दिया। उसके खाने से उसका देहान्त हो गया है। परिणामों की शुद्धता से वह सर्वार्थसिद्ध विमान में तेतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ है।

यह खबर जब शहर में फैली तो लोग नागश्री को धिक्कारने लगे। वे तीनों ब्राह्मण भाई नागश्री के इस कार्य से उस पर बहुत कुपित हुए। घर आकर उन्होंने नागश्री को बहुत बुरा भला कहा और निर्भर्त्सना पूर्वक उसे घर से बाहर निकाल दिया। वह जहाँ भी जाती लोग उसका तिरस्कार करते, धिक्कारते और अपने यहाँ

से निकाल देते। नागश्री बहुत दुखी हो गई। हाथ में मिट्टी का पात्र लेकर वह घर घर भीख मागने लगी। थोडे दिनों बाद उसके शरीर में श्वास, कास, योनिशूल, कोढ आदि सोलह रोग उत्पन्न हुए। मर कर छठी नारकी में बाइस सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नैरयिक रूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से निकल कर मत्स्य, ७वीं नरक, मत्स्य, ७वीं नरक मत्स्य, छठी नरक, उरग (सर्प), इस प्रकार बीच में तिर्यञ्च का भव करती हुइ प्रत्येक नरक में दो दो बार उत्पन्न हुइ। फिर पृथ्वीकाय, अप्काय आदि एकेन्द्रिय जीवों में तथा द्वीन्द्रियादि जीवों में अनक बार उत्पन्न हुई। इस प्रकार नरक और तिर्यञ्च के अनक भव करता हुआ नागश्री का जीव चम्पा नगर निवासी सागरदत्त सार्थवाह की भार्या भद्रा की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ।

जन्मोत्सव मना कर माता पिता ने पुत्री का नाम सुकुमालिका रखा। माता पिता की इकलौती सन्तान होन से वह उनको बहुत प्रिय थी। पाच धायों द्वारा उसका पालन होन लगा। सुरक्षित बेल की तरह वह बढ़न लगी। क्रमश बाल्यावस्था को छोड़ कर वह यौवन वय को प्राप्त हुई। अब माता पिता को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुइ।

चम्पा नगरी में जिनदत्त नाम का एक सार्थवाह रहता था। उस की स्त्री का नाम भद्रा और पुत्र का नाम सागर था। सागर बहुत रूपवान् था। विद्या और कला में प्रवीण होकर वह यौवन वय को प्राप्त हुआ। माता पिता उसके लिये योग्य कन्या की खोज करन लगे।

एक दिन जिनदत्त सागरदत्त के घर के नजदीक होकर जा रहा था। अपनी सखियों के साथ कनक कन्दुक (सुनहली गेंद) से खेलती हुई सुकुमालिका को उसने देखा। नौकरों द्वारा दरियाफ्त कराने पर उसे मालूम हुआ कि यह सागरदत्त की पुत्री सुकुमालिका है।

उन सभी पापों का त्याग करता हूँ।

इस प्रकार चरम श्वासोच्छ्वास तक शरीर का ममत्व छोड़ कर आलोचना और प्रतिक्रमण करके धर्मरुचि अनगार समाधि में स्थिर हो गये। सारे शरीर में विष व्याप्त हो जाने से प्रबल वेदना उत्पन्न हुई जिससे तत्काल वे कालधर्म को प्राप्त हो गये।

धर्मरुचि अनगार को गये हुए जब बहुत समय हो गया तो धर्मघोष आचार्य ने दूसरे साधुओं को उनका पता लगाने के लिये भेजा। स्थण्डिल भूमि में जाकर साधुओं ने देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि धर्मरुचि अनगार कालधर्म को प्राप्त होगये हैं। उसी समय साधुओं ने उसके निमित्त कायोत्सर्ग किया। इसके बाद धर्मरुचि अनगार के पात्र आदि लेकर वे धर्मघोष आचार्य के पास आए और उनके सामने पात्र आदि रख कर धर्मरुचि अनगार के काल धर्म प्राप्त होने की बात कही।

धर्मघोष आचार्य ने पूर्वों के ज्ञान में उपयोग देकर देखा और सब साधुओं को बुला कर इस प्रकार कहा—आर्यो! मेरा शिष्य धर्मरुचि अनगार प्रकृति का भद्रिक और विनयवान् था। निरन्तर एक एक महीने से पारना करता था। आज मासखमण के पारने के लिए वह गोचरी के लिए गया। नागश्री ब्राह्मणी ने उसे कड़वे तुम्बे का शाक वेहरा दिया। उसके खाने से उसका देहान्त हो गया है। परिणामों की शुद्धता से वह सर्वार्थसिद्ध विमान में तेतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ है।

यह खबर जब शहर में फैली तो लोग नागश्री को धिक्कारने लगे। वे तीनों ब्राह्मण भाई नागश्री के इस कार्य से उस पर बहुत कुपित हुए। घर आकर उन्होंने नागश्री को बहुत बुरा भला कहा और निर्भर्त्सना पूर्वक उसे घर से बाहर निकाल दिया। वह जहाँ भी जाती लोग उसका तिरस्कार करते, धिक्कारते और अपने यहाँ

से निकाल देते। नागश्री बहुत दुखी हो गई। हाथ में मिट्टी का पात्र लेकर वह घर घर भीख मागने लगी। थोड़े दिनों बाद उसके शरीर में श्वास, कास, योनिशूल, कोढ आदि सोलह रोग उत्पन्न हुए। मर कर छठी नारकी में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नैरयिक रूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से निकल कर मत्स्य, ७वीं नरक, मत्स्य, ७वीं नरक मत्स्य, छठी नरक, उरग (सर्प), इस प्रकार बीच में तिर्यञ्च का भव करती हुई प्रत्येक नरक में दो दो बार उत्पन्न हुई। फिर पृथ्वीकाय, अप्काय आदि एकेन्द्रिय जीवों में तथा द्वीन्द्रियादि जीवों में अनेक बार उत्पन्न हुई। इस प्रकार नरक और तिर्यञ्च के अनेक भव करता हुआ नागश्री का जीव चम्पा नगर निवासी सागरदत्त सार्थवाह की भार्या भद्रा की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ।

जन्मोत्सव मना कर माता पिता ने पुत्री का नाम सुकुमालिका रखा। माता पिता की इकलौती सन्तान होने से वह उनको बहुत प्रिय थी। पांच धायों द्वारा उसका पालन होने लगा। सुरक्षित बेल की तरह वह बढ़ने लगी। क्रमशः बाल्यावस्था को छोड़ कर वह यौवन वय को प्राप्त हुई। अब माता पिता को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई।

चम्पा नगरी में जिनदत्त नाम का एक सार्थवाह रहता था। उस की स्त्री का नाम भद्रा और पुत्र का नाम सागर था। सागर बहुत रूपवान् था। विद्या और कला में प्रवीण होकर वह यौवन वय को प्राप्त हुआ। माता पिता उसके लिये योग्य कन्या की खोज करने लगे।

एक दिन जिनदत्त सागरदत्त के घर के नजदीक होकर जा रहा था। अपनी सखियों के साथ कनक कन्दुक(सुनहली गेंद) से खेलती हुई सुकुमालिका को उसने देखा। नौकरों द्वारा दरियाफ्त कराने पर उसे मालूम हुआ कि यह सागरदत्त की पुत्री सुकुमालिका है।

इसके पश्चात् एक समय जिनदत्त सागरदत्त के घर गया। उचित सत्कार करने के पश्चात् सागरदत्त ने उसे आने का कारण पूछा। जिनदत्त ने अपने पुत्र सागर के लिये सुकुमालिका की माँगणी की। सागरदत्त ने कहा– हमारे यह एक ही सन्तान है। हमें यह बहुत प्रिय है। हम इसका वियोग सहन नहीं कर सकते, इस लिये यदि आपका पुत्र हमारे यहाँ घरजमाई तरीके रहे तो मैं अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर सकता हूँ। जिनदत्त ने सागरदत्त की यह शर्त स्वीकार कर ली। शुभ मुहूर्त देख कर सागरदत्त ने अपनी पुत्री सुकुमालिका का विवाह सागर के साथ कर दिया।

सागर को सुकुमालिका के अङ्ग का स्पर्श असि पत्र (खड्ग) के समान अति तीक्ष्ण और कष्टकारक प्रतीत हुआ। सोती हुई सुकुमालिका को छोड़ कर वह अपने घर भाग आया। पति वियोग से सुकुमालिका उदासीन और चिन्तित रहने लगी।

पिता ने कहा– पुत्री! यह तेरे पूर्व भव के अशुभ कर्मों का फल है। तू चिन्ता मत कर। अपने रसोईघर में अशन, पान आदि वस्तुएं हर समय तैयार रहती है, उन्हें साधु महात्माओं को बहराती हुई तू धर्म ध्यान कर।

सुकुमालिका पिता के कथनानुसार कार्य करने लगी। एक समय गोपालिका नाम की बहुश्रुत साध्वी अपनी शिष्याओं के साथ वहाँ आई। अशन, पान आदि बहराने के पश्चात् सुकुमालिका ने उनसे पूछा– हे आर्याओ! तुम बहुत मंत्र तंत्र जानती हो। मुझे भी ऐसा कोई मंत्र बतलाओ जिससे मैं अपने पति को इष्ट हो जाऊँ। साध्वियों ने कहा– हे भद्रे! इन बातों को बताना तो दूर रहा, हमें ऐसी बातें सुनना भी नहीं कल्पता। साध्वियों ने सुकुमालिका को केवलिभाषित धर्म का उपदेश दिया जिससे उसे संसार से विरक्ति होगई। अपने पिता सागरदत्त की आज्ञा लेकर उसने गोपालिका आर्या के

पास दीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर अनेक प्रकार की कठोर तपस्या करती हुई विचरने लगी।

एक समय वह गोपालिका आर्या के पास आकर इस प्रकार कहने लगी–पूज्ये! आपकी आज्ञा हो तो मैं सुभूमिभाग उद्यान के आसपास बेले बेले पारना करती हुई सूर्य की आतापना लेकर विचरना चाहती हूँ। गोपालिका आर्या ने कहा– साध्वियों को ग्राम यावत् सन्निवेश के बाहर सूर्य की आतापना लेना नहीं कल्पता। अन्य साध्वियों के साथ रह कर उपाश्रय के अन्दर ही अपने शरीर को कपड़े से ढक कर सूर्य की आतापना लेना कल्पता है।

सुकुमालिका ने अपनी गुरुआनी की बात न मानी। वह सुभूमिभाग उद्यान के कुछ दूर आतापना लेने लगी। एक समय देवदत्ता नाम की एक वेश्या पाँच पुरुषों के साथ क्रीड़ा करने के लिए सुभूमिभाग उद्यान में आई। उसे देख कर सुकुमालिका के हृदय में विचार आया कि यह स्त्री भाग्यशालिनी है जिसके यह पाँच पुरुष को वल्लभ एवं प्रिय हैं। यदि मेरे त्याग, तप एवं ब्रह्मचर्य का कुछ भी फल हो तो आगामी भव में मैं भी इसी प्रकार पाँच पुरुषों को वल्लभ एवं प्रिय बनूँ। इस प्रकार सुकुमालिका ने नियाणा कर लिया।

कुछ समय पश्चात् वह गोपालिका आर्या के पास वापिस चली आई। अब वह शरीर बकुशा होगई अर्थात् शरीर की शुश्रूषा करने लग गई। अपने शरीर के प्रत्येक भाग को धोने लगी तथा स्वाध्याय, शय्या के स्थान को भी जल से छिड़कने लगी। गोपालिका आर्या ने उसे ऐसा करने से मना किया किन्तु सुकुमालिका ने उनकी बात न मानी और वह ऐसा ही करती हुई रहने लगी। दूसरी साध्वियों को उसका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। उन्होंने उसका आदर सत्कार करना छोड़ दिया। इससे गोपालिका आर्या को छोड़ कर सुकुमालिका अलग उपाश्रय में अकेली रहने लगी। अब वह पासत्था,

पासत्थ विहारी, ओसण्णा, ओसण्ण विहारी, कुसीला, कुसीलविहारी, संसत्ता और संसत्त विहारी होगई अर्थात् संयम में शिथिल हो गई।

इस प्रकार कई वर्षों तक साधुपर्याय का पालन कर अन्तिम समय में पन्द्रह दिन की संलेखना की। अपने योग्य आचरण की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही वह कालधर्म को प्राप्त हो गई। मर कर ईशान देवलोक में नव पल्योपम की स्थिति वाली देवगणिका (अपरिगृहीता देवी) हुई।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पञ्चाल देश के अन्दर एक अति रमणीय कम्पिलपुर नाम का नगर था। उसमें द्रुपद राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम चुलणी था। उनके पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न था। वह युवराज था। ईशान कल्प का आयुष्य पूरा होने पर सुकुमालिका का जीव रानी चुलणी की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। माता पिता ने उसका नाम द्रौपदी रक्खा।

पाँच धायों द्वारा लालन पालन की जाती हुई द्रौपदी पर्वत की गुफा में रही हुई चम्पकलता की तरह बढ़ने लगी। क्रमशः बाल्यावस्था को छोड़ कर वह युवावस्था को प्राप्त हुई। राजा द्रुपद को उसके लिये योग्य वर की चिन्ता हुई।

राजा द्रुपद ने द्रौपदी का स्वयंवर करने का निश्चय किया। नौकरों को बुला कर उसने स्वयंवर मण्डप बनाने की आज्ञा दी। मण्डप तैयार हो जाने पर द्रुपद राजा ने अनेक देशों के राजाओं के पास दूतों द्वारा आमन्त्रण भेजे।

निश्चित तिथि पर विविध देशों के अनेक राजा और राजकुमार स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए। कृष्ण वासुदेव भी अनेक यादवकुमार और पांच पाण्डवों को साथ लेकर वहाँ आये। सभी लोग अपने २ योग्य आसनों पर बैठ गये। स्नान करके वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर राजकुमारी द्रौपदी एक दासी के साथ स्वयंवर मण्डप

में आई। दासी बाएं हाथ में एक दर्पण लिये हुई थी। उसमें राजाओं का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। उनके नाम,स्थान तथा गुणों का परिचय देती हुई वह द्रौपदी को साथ लेकर आगे बढ़ रही थी। धीरे धीरे वह जहाँ पाँच पाण्डव बैठे हुए थे वहाँ आ पहुँची। पूर्व जन्म में किये हुए नियाणे से प्रेरित होकर उसने पाँचों पाण्डवों के गले में वरमाला डाल दी। 'राजकुमारी द्रौपदी ने श्रेष्ठ वरण किया' ऐसा कह कर सब राजाओं ने उसका अनुमोदन किया।

इसके पश्चात् राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ कर दिया। आठ करोड़ सोनैयों का प्रीतिदान दिया। विपुल अशन,पान तथा वस्त्र आभरण आदि से पाण्डवों का उचित सत्कार कर उन्हें विदा किया। (ज्ञाताधर्म कथांग सोलहवां अध्ययन)

द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हो गया। बारी बारी से वह प्रत्येक की पत्नी रहने लगी। जिस दिन जिसकी बारी होती उस दिन उसे पति मान कर बाकी के साथ जेठ या देवर सरीखा बर्ताव रखती।

एक बार द्रौपदी शरीर परिमाण दर्पण में अपने शरीर को बार बार देख रही थी। इतने में वहाँ नारद ऋषि आए। द्रौपदी दर्पण देखने में लीन थी,इस लिए उसने नारदजी को नहीं देखा। नारद कुपित होकर धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी में पहुँचे। वहाँ पद्मोत्तर राजा राज्य करता था। नारदजी उसी के पास गए।

राजा ने विनय पूर्वक उनका स्वागत किया और पूछा–महाराज! आप सब जगह घूमते रहते हैं कोई नई बात बताइए। नारदजी ने उत्तर दिया– मैं हस्तिनापुर गया था वहाँ पाण्डवों के अन्तःपुर में द्रौपदी को देखा। तुम्हारे अन्तःपुर में ऐसी एक भी स्त्री नहीं है। पद्मोत्तर राजा ने द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए एक देव की आराधना की। देव द्रौपदी को उठा कर वहां ले आया।

पद्मोत्तर उससे कहने लगा–द्रौपदी ! तुम मेरे साथ भोग भोगो। यह राज्य तुम्हारा है। यह सारा वैभव तुम्हारा है। इसे स्वीकार करो। मैं तुम्हें सभी रानियों में पटरानी मानूँगा। सभी काम तुम्हें पूछ कर करूँगा। इस प्रकार कई उपायों से उसने द्रौपदी को सतीत्व से विचलित करने का प्रयत्न किया किन्तु द्रौपदी के हृदय में लेशमात्र भी विकार नहीं आया। वह पंच परमेष्ठी का ध्यान करती हुई तपस्या में लीन रहने लगी।

द्रौपदी का हरण हुआ जान कर पाण्डवों ने श्रीकृष्ण के पास जाकर सारा हाल कहा। यह सुन कर श्रीकृष्ण भी विचार में पड़ गए। द्रौपदी का पता लगाने के लिए वे उपाय सोचने लगे। इतने में नारद ऋषि वहाँ आ पहुँचे। श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा–नारदजी! आपने कहीं द्रौपदी को देखा है? नारद ने उत्तर दिया–धातकीखण्ड द्वीप में अमरकंका नगरी के राजा पद्मोत्तर के अन्तःपुर में मैंने द्रौपदी जैसी स्त्री देखी है। यह सुन कर श्रीकृष्ण ने सुस्थित देव की आराधना की। पाँच पाण्डव और श्रीकृष्ण छहों रथ में बैठ कर अमरकंका पहुँचे और नगरी के बाहर उद्यान में ठहर गए। पाँचों पाण्डव पद्मोत्तर राजा के साथ युद्ध करने गए किन्तु हार कर वापिस चले आए। यह देख कर श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध करने के लिये गए। राजा पद्मोत्तर हार कर किले में घुस गया। श्रीकृष्ण ने किले पर चढ़ कर विकराल रूप धारण कर लिया और पृथ्वी को इस तरह कँपाया कि बहुत से घर गिर पड़े। पद्मोत्तर डर कर श्रीकृष्ण के पैरों में आ गिरा और अपने अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा। श्रीकृष्ण द्रौपदी को लेकर वापिस चले आए।

उसी समय धातकीखण्ड के मुनिसुव्रत नाम के तीर्थङ्कर धर्मदेशना दे रहे थे। वहाँ कपिल नाम के वासुदेव ने उनसे श्रीकृष्ण के आगमन की बात सुनी। वह उनसे मिलने के लिए समुद्र के किनारे गया।

श्रीकृष्ण पहले ही रवाना हो चुके थे। समुद्र में जाते हुए श्री कृष्ण के रथ की ध्वजा को देख कर धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने उनसे मिलने के लिए अपना शंख बजाया। श्रीकृष्ण ने भी उसका उत्तर देने के लिए अपना शंख बजाया। दोनों वासुदेवों की शंखों से बातचीत हुई।

पाँचों पाण्डव तथा श्रीकृष्ण द्रौपदी के साथ लवण समुद्र को पार करके गंगा के किनारे आए और वहाँ से अपनी राजधानी में पहुँच गए।

एक बार पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया। देश विदेश के सभी राजाओं को निमन्त्रण भेजा गया। इन्द्रप्रस्थपुरी को खूब सजाया गया। वह साक्षात् इन्द्रपुरी सी मालूम पड़ने लगी। मयदानव ने सभा मण्डप रचने में अपूर्व कौशल दिखलाया। जहाँ स्थल था वहाँ पानी दिखाई देता था और जहाँ पानी था वहाँ सूखी जमीन दिखाई देती थी। देश विदेश के राजा इकट्ठे हुए युधिष्ठिर के चरणों में गिरे। दुर्योधन वगैरह सभी कौरव भी आए।

एक बार द्रौपदी और भीम बैठे हुए सभामण्डप को देख रहे थे। इतने में वहाँ दुर्योधन आया। सूखी जमीन में पानी समझ कर उसने कपड़े ऊँचे उठा लिये। पानी वाली जगह को सूखी जमीन समझ कर वैसे ही चला गया और उसके कपड़े भीग गए। द्रौपदी और भीम यह सब देख रहे थे, इस लिए हँसने लगे। द्रौपदी ने मज़ाक करते हुए कहा—अन्धे के बेटे भी अन्धे ही होते हैं।

दुर्योधन के दिल में यह बात तीर की तरह चुभ गई। उसने मन ही मन इस अपमान का बदला लेने के लिए निश्चय कर लिया।

दुर्योधन का मामा शकुनि षड्यंत्र रचने में बहुत चतुर था। जुए में सिद्धहस्त था। उसका फेंका हुआ पासा कभी उल्टा न पड़ता था। दुर्योधन ने उसी से कोई उपाय पूछा।

शकुनि ने उत्तर दिया– एक ही उपाय है। तुम युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए तैयार करो। इसके लिए उनके पास विदुरजी को भेज दो। उनके कहने से वे मान जाएंगे। धृतराष्ट्र से तुम स्वयं पूछ लो। खेलते समय यह शर्त रक्खो कि जो हारे वह राजगद्दी छोड़ दे। तुम्हारी तरफ से पासे मैं फेंकूँगा। फिर देखना, एक भी दाव उल्टा न पड़ेगा।

दुर्योधन ने उसी प्रकार किया। अपने पिता धृतराष्ट्र के पैरों में गिर कर तथा उल्टी सीधी बातें करके, मना लिया। पुत्र-स्नेह के कारण वे उसकी बात को बुरी होने पर भी न टाल सके। विदुर के कहने पर युधिष्ठिर भी तैयार हो गए। जुआ खेला गया। एक तरफ दुर्योधन, शकुनि और सभी कौरव थे, दूसरी ओर पाण्डव। शकुनि के पासे बिल्कुल ठीक पड़ रहे थे। युधिष्ठिर अपने राज्य को हार गए। चारों भाई तथा अपने को हार गए। अन्त में द्रौपदी को भी हार गए। जुए में पड़ कर वे अपनी राजलक्ष्मी, अपने और भाइयों के शरीर तथा अपनी रानी द्रौपदी सभी को खो बैठे। वे सभी दुर्योधन के दास बन चुके थे।

महाराजा दुर्योधन का दरबार लगा हुआ था। भीष्म, द्रोणाचार्य विदुर आदि सभी अपने अपने आसन पर शोभित थे। एक तरफ पांचों पाण्डव अपना सिर झुकाए बैठे थे। इतने में दुःशासन द्रौपदी को चोटी से पकड़ कर लाया। दरवाजे पर द्रौपदी थोड़ी सी हिचकिचाई तो दुःशासन ने एक थप जमाया और भरी सभा में द्रौपदी को खींच लिया।

द्रौपदी का क्रोध भभक उठा। सिंहिनी के समान गर्जते हुए उसने कहा– पितामह भीष्म! आचार्य द्रोण! विदुरजी! क्या आप इस समय शान्त बैठे रहना ही अपना कर्तव्य समझते हैं? द्रुपद राजा की पुत्री, पाण्डवों की धर्मपत्नी तथा धृतराष्ट्र की कुल-

वधू को पापी दुःशासन इस प्रकार अपमानित करे और आप बैठे बैठे देखते रहें, क्या यही न्याय है ? क्या आप एक अबला के सन्मान की रक्षा नहीं कर सकते ?

'देवी ऐसी कुलवधू ! पाँच पति फिर भी कुलवधू । तुम्हारे पति जुए में हार गए हैं । वे हमारे दास बन चुके हैं । साथ में तुम भी' दुःशासन ने डाटते हुए कहा ।

'बस बस, मैं कभी गुलाम नहीं हो सकती । मैं सभा से पूछती हूँ कि मेरे पतियों ने मुझे स्वयं दास होने से पहले दाव पर रक्खा था या बाद में ? अगर पहले रखा हो तभी मैं गुलाम बन सकती हूँ, बाद में रखने पर नहीं ।' द्रौपदी ने कहा ।

सभी लोग शान्त बैठे रहे । उत्तर कौन दे ? यह सभा न्याय करने के लिये नहीं जुड़ी थी किन्तु पाण्डवों का विनाश करने के लिए । वहाँ न्याय को सुनने वाला कोई न था । यद्यपि भीष्म, द्रोणाचार्य वगैरह स्वयं पापी न थे किन्तु पापी मालिक की नौकरी के कारण उनका हृदय भी कमजोर बन गया था । इस लिए वे दुःशासन का विरोध न कर सके ।

सभी को शान्त देख कर दुःशासन,द्रौपदी और पाण्डवों को लक्ष्य कर कहने लगा–हम कुछ भी नहीं सुनना चाहते। तुम सभी राजसी पोशाक उतार दो । तुम यहाँ हमारे गुलाम हो ।

पाँचों पाण्डवों ने राजसी पोशाक उतार दी किन्तु द्रौपदी चुपचाप वैसी ही खड़ी रही ।

'क्यों तुम नहीं सुन रही हो ?' दुःशासन ने चिल्ला कर कहा ।

'मैंने एक ही कपड़ा पहिन रखा है, मैं रजस्वला हूँ !' द्रौपदी ने उत्तर दिया ।

'अब रजस्वला बन गई' कह कर दुःशासन ने उसका पल्ला पकड़ लिया। भीम अपने क्रोध को न रोक सका। उसने खड़े होकर

अपनी गदा भूमि पर फटकारी। युधिष्ठिर ने उसे मना कर दिया क्योंकि वे दास थे।

यह देख कर दुर्योधन बोला—देख क्या रहे हो? खींच डालो।

द्रौपदी प्रभु का स्मरण कर रही थी। मानवसमाज में उस समय उसे कोई ऐसा व्यक्ति नजर नहीं आ रहा था जो एक अबला की लाज बचा सके। भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर आदि बड़े बड़े धर्मात्मा और नीतिज्ञ उस समय गुलामी के बन्धन में जकड़े हुए थे। वे दुर्योधन के वेतनभोगी दास थे, इस लिए उसका विरोध न कर सकते थे। मानवसमाज जो नियम अपने कल्याण के लिए बनाता है, वे ही समय पड़ने पर अन्याय के पोषक बन जाते हैं।

ऐसे समय में द्रौपदी को भगवान् के नाम के सिवाय और कोई रक्षक दिखाई नहीं दे रहा था। वह अपनी लज्जा बचाने के लिए प्रभु से प्रार्थना कर रही थी। दुःशासन उसके चीर को बलपूर्वक खींच रहा था।

आत्मा में अनन्त शक्ति है, उसके सामने बाह्य शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। जब तक मनुष्य बाह्य शक्ति पर भरोसा रखता है, बाह्य शस्त्रास्त्र तथा सेनाबल को रक्षा या विध्वंस का उपाय मानता है, तब तक आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता। द्रौपदी ने भी बाह्य शक्ति पर विश्वास करके जब तक रक्षा के लिए दूसरों की ओर देखा उसे कोई सहायता न मिली। भीम की गदा और अर्जुन के बाण भी काम न आए। अन्त में द्रौपदी ने बाह्य शक्ति से निराश होकर आत्मशक्ति की शरण ली। वह सब कुछ छोड़ कर प्रभु के ध्यान में लग गई।

दुःशासन ने अपनी सारी शक्ति लगा दी किन्तु वह द्रौपदी का चीर न खींच सका। उसे ऐसा मालूम पड़ने लगा जैसे द्रौपदी में कोई महान् शक्ति कार्य कर रही हो। वह भयभीत सा होकर

खड़ा रह गया। दुर्योधन के पूछने पर उसने कहा–

भाई! मुझ से यह वस्त्र नहीं खींचा जा रहा है। अधिक जोर से खींचता हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है जैसे कोई मेरा हाथ पकड़ कर खींच रहा है। इसके मुंह पर देखता हूँ तो आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। पता नहीं इसमें इतना बल कहाँ से आगया। मेरे हाथ काम नहीं कर रहे हैं। अब तो तुम आओ।

सारी सभा स्तब्ध रह गई। दुर्योधन ने अपनी जांघ उघाड़ी और कहा द्रौपदी! आओ यहाँ बैठो।

सभी का मस्तक लज्जा से नीचे झुक गया। भीष्म और द्रोण कुछ न बोल सके। भीम से यह दृश्य न देखा गया। उसने खड़े हो कर प्रतिज्ञा की– दुःशासन! दुर्योधन! यह दृश्य मेरी आँखें नहीं देख सकतीं। अभी तो हम लाचार हैं, प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण कुछ नहीं कर सकते किन्तु युद्ध में अगर मैं दुःशासन के रक्त से द्रौपदी के इन केशों को न सींचूँ तथा दुर्योधन की इस जांघ को चूर चूर न करूँ तो मेरा नाम भीम नहीं है।

सारी सभा में भय छा गया। भीम के बल से सभी कौरव परिचित थे। उसकी प्रतिज्ञा भयङ्कर थी। इतने में धृतराष्ट्र और गान्धारी वहाँ आए। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के पिता पाण्डु के बड़े भाई थे। वे जन्मान्ध थे, इस लिए गद्दी पाण्डु को मिली। धृतराष्ट्र को अपनी सन्तान पर प्रेम था। वे चाहते थे कि गद्दी उनके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को मिले, किन्तु लोकलाज से डरते थे। सभा में आते ही उन्होंने द्रौपदी को अपने पास बुला कर सान्त्वना दी। दुःशासन और दुर्योधन को उलहना दिया। अपने पुत्र द्वारा किए गए इस कष्ट के लिए द्रौपदी से कुछ मांगने को कहा।

द्रौपदी बोली– मुझे और कुछ नहीं चाहिए मैं तो सिर्फ पाँचों पाण्डवों की मुक्ति चाहती हूँ।

'तथास्तु' कह कर धृतराष्ट्र ने सभी पाण्डवों को दासपने से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन से यह न देखा गया। उसने दुबारा जुआ खेलने के लिए युधिष्ठिर को आमन्त्रित किया। हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है इसी लोकोक्ति के अनुसार युधिष्ठिर फिर तैयार होगए।

इस बार यह शर्त रक्खी गई कि जो हारे वह बारह वर्ष वन में रहे और एक वर्ष गुप्तवास करे। यदि गुप्तवास में उसका पता लग जाय तो फिर बारह वर्ष वन में रहे।

भविष्य में होने वाली घटना के लिए कारणसामग्री पहले से तैयार होजाती है। महाभारत के महायुद्ध में जो भीषण नरसंहार होने वाला था, उसकी भूमिका पहले से तैयार हो रही थी। शकुनि के पासे सीधे पड़े। युधिष्ठिर हार गए। उन्हें बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का गुप्तवास प्राप्त हुआ। द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों ने वन की ओर प्रस्थान किया। वे झोंपड़ी बना कर घोर जंगल में रहने लगे।

एक दिन की बात है। युधिष्ठिर अपनी झोंपड़ी में बैठे थे। बाकी चारों भाई जंगल में फल फूल लाने गए हुए थे। पास ही द्रौपदी बैठी थी। बातचीत के सिलसिले में युधिष्ठिर ने लम्बी साँस छोड़ी। द्रौपदी ने आग्रहपूर्वक निःश्वास का कारण पूछा। बहुत आग्रह होने पर युधिष्ठिर ने कहा– द्रौपदी! मुझे स्वयं कोई दुःख नहीं है। दुःख तो मुझे तुम्हें देख कर हो रहा है। तुम्हारे सरीखी कोमल राजकुमारी महलों को छोड़ कर वन में भटक रही है, यही देख कर मुझे कष्ट हो रहा है।

द्रौपदी बोली–महाराज! मालूम पड़ता है मुझे अभी तक आप ने नहीं पहिचाना। जहाँ आप है वहाँ मुझे सुख ही सुख है। आप के सुख में मेरा सुख है और दुःख में दुःख। विवाह के बाद पहली

रात मैने तुम्हारे के घर में आप सभी के चरणों में सोकर बिताई थी। उस समय मुझे सुहागरात से कम आनन्द न हुआ था। इस लिए मेरी बात तो छोड़िए। अपने चारों भाइयों के विषय में विचार कीजिए। इन्हीं के लिए आप बन्धन में फँसे। इन्हीं के लिए आप ने यज्ञ किया और इन्हीं के लिए आप इन्द्रप्रस्थ के राजा बने। जिन से शत्रु थर थर काँपते हैं ऐसे आपके भाई पेट भरने के लिए जगलों में रखड़ रहे हैं। क्या इस बात का आप को खयाल है? कभी आपको इस बात का विचार भी आता है?

युधिष्ठिर–आता तो है किन्तु–

द्रौपदी–नहीं, नहीं, यह विचार आप को नहीं आता। भरे दरबार में आपने अपनी स्त्री को जुए की बाजी पर रक्खा। आप की आँखों के सामने उसके बाल खींचे गए। कपड़े खींच कर उसे नंगी करने का प्रयत्न किया गया। उसे अपमानित किया गया। हम को शाप दिलाने की इच्छा से दुर्वासा ऋषि को बड़े परिवार के साथ यहाँ भेजा गया। दुर्योधन का बहनोई मुझे यहाँ से उठा ले गया। लाख का घर बना कर हम सब को जला डालने का प्रयत्न किया गया। फिर भी आप को दया आ रही है। आप का मन दुर्योधन को क्षमा करने का हो रहा है। महाराज! मैं उन सब बातों को नहीं भूल सकती। दुःशासन के द्वारा किया गया अपमान मेरे हृदय में काँटे के समान चुभ रहा है। सच्चे हृदय से समझाने पर भी वह नहीं मानेगा। युद्ध के बिना मैं भी नहीं मान सकती। आप की क्षमा क्षमा नहीं है। यह तो कायरता है। क्षत्रियों में ऐसी क्षमा नहीं होती। फिर भी यदि आप इस कायरता पूर्ण क्षमा को ही धारण करना चाहते हैं तो स्पष्ट कह दीजिए। आप सन्यास धारण कर लीजिए। हम शत्रुओं से अपने आप निपट लेंगे। पहले उनका संहार करके राज्य प्राप्त करेंगे, फिर आप के पास आकर सन्यास

की बातें करेंगे। द्रौपदी की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। उस में क्षत्रियाणी का खून उबलने लगा।

युधिष्ठिर–द्रौपदी ! मुझे भी ये सारी बातें याद हैं। फिर भी अभी एक वर्ष की देर है। हमें अज्ञातवास करना है। बाद में देखा जाएगा। फिर भी मैं कहता हूँ कि यदि उसे सच्चे हृदय से प्रेम पूर्वक समझाया जाय तो वह अब भी मान सकता है। उसका हृदय परिवर्तित हो जाएगा।

द्रौपदी–हाँ, हाँ ! आप समझा कर देखिए। मैं तो युद्ध के सिवाय कुछ नहीं चाहती।

युधिष्ठिर सत्यवादी थे। अहिंसा और सत्य पर उनका दृढ़ विश्वास था। उनका विचार था कि इन दोनों में अनन्त शक्ति है। मनुष्य या पशु कोई कितना भी क्रूर हो किन्तु इन दोनों के सामने उसे झुकना ही पड़ता है। द्रौपदी का विश्वास था–विष की औषधि विष होता है। हिंसक तथा क्रूर व्यक्ति अहिंसा से नहीं समझाया जा सकता। दुष्ट व्यक्ति में जो बुरी भावना उठती है तथा उसके द्वारा वह दूसरे व्यक्तियों को जिस वेग के साथ नुकसान पहुँचाना चाहता है उसका प्रतिकार केवल हिंसा ही है। एक बार उसके वेग को हिंसा द्वारा कम कर देने के बाद उपदेश या अहिंसा काम कर सकते हैं।

द्रौपदी और युधिष्ठिर अपने अपने विचारों पर दृढ़ थे।

वनवास के बारह साल बीत गए। गुप्तवास का १३ वाँ साल बिताने के लिये पाण्डवों ने भिन्न २ प्रकार के वेश पहिने। विराट नगर के श्मशान में आकर उन्होंने आपस में विचार किया। अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष एक वृक्ष की शाखा के साथ इस प्रकार बाँध दिया जिससे दिखाई न पड़े। सभी ने एक एक दिन के अन्तर से नगर में जाकर नौकरी कर ली।

युधिष्ठिर ने अपना नाम कंक रक्खा और राजा के पुरोहित

पने की नौकरी कर ली। भीम ने वल्लभ के नाम से रसोइए की, अर्जुन ने बृहन्नला के नाम से राजा के अन्तःपुर में नृत्य सिखाने की, नकुल और सहदेव ने अश्वपालक और गोपालक की तथा द्रौपदी ने सैरन्ध्री के नाम से रानी के दासीपने की नौकरी कर ली। वे अपने गुप्तवास का समय बिताने लगे।

रानी का भाई कीचक बहुत दुष्ट और दुराचारी था। वह द्रौपदी को बहुत तंग किया करता था। एक बार द्रौपदी भीम के पास गई और उसके पूछने पर कहने लगी-

रानी का भाई कीचक मेरे पीछे पड़ा है। एक बार भरी सभा में उसने मेरे लात मारी। युधिष्ठिर महाराज तो क्षमा के सागर ठहरे। उन्होंने कहा-भद्रे! तुम्हारी रक्षा पाँच गन्धर्व करेंगे। अब तो कीचक बुरी तरह पीछे पड़ गया है रानी भी उस साथ दे रही है, बार बार मुझे उसके पास भेजती है।

भीम-तुम उसे किसी स्थान पर मिलने के लिए बुलाओ।

द्रौपदी- कल रात को नई नृत्यशाला में मिलने के लिए उसे कहूँगी किन्तु भूल न हो, नहीं तो बहुत बुरा होगा।

भीम- भूल कैसे हो सकती है? तुम्हारे स्थान पर मैं सो जाऊँगा और उसके आते ही सारा काम पूरा कर दूँगा।

दूसरे दिन निश्चित समय पर कीचक नई नृत्यशाला में गया। सोए हुए व्यक्ति को सैरन्ध्री समझ कर उसके पास गया। आलिंगन करने के लिए झुका। भीम ने उसे अपनी भुजाओं में कस कर ऐसा दबाया कि वह निर्जीव होकर वहीं गिर पड़ा।

कीचक की मृत्यु का समाचार सारे शहर में फैल गया। रानी ने समझा, यह काम सैरन्ध्री के गन्धर्वों ने किया है। उसने सैरन्ध्री को कीचक के साथ जला डालने का निश्चय किया और कीचक की अर्थी के साथ उसे बाँध दी।

भीम को यह बात मालूम पड़ी। भयंकर रूप बना कर वह श्मशान में गया, अर्थी ले जाने वाले लोगों को मार भगाया और द्रौपदी को बन्धन से मुक्त कर दिया।

तेरहवाँ वर्ष पूरा होने पर पाँचों पाण्डव प्रकट हुए। विराट राजा और उसकी रानी ने सभी से क्षमा मांगी। द्रौपदी को दिए हुए दुःख के लिए रानी ने पश्चात्ताप किया।

पाण्डव अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुके थे। शर्त के अनुसार अब राज्य उन्हें वापिस मिल जाना चाहिए था किन्तु दुर्योधन की नीयत पहले से ही बिगड़ चुकी थी। इतने साल राज्य करते करते उसने बड़े बड़े योद्धाओं को अपनी तरफ मिला लिया था। द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा वगैरह बड़े बड़े महारथी उसके पक्ष में होगए थे। राजा होने के कारण सैनिक शक्ति भी उसने बहुत इकट्ठी कर ली थी। उसे अपनी विजय पर विश्वास था। वह सोचता था, पाण्डव इतने दिनों से वन में निवास कर रहे है फिर मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं। इन सब बातों को सोच कर राज्य वापिस करने से इन्कार कर दिया।

पाण्डवों को अपने बल पर विश्वास था। दुर्योधन द्वारा किया गया अपमान भी उनके मन में खटक रहा था। इस लिए वे युद्ध के लिए तैयार होगए, किन्तु युधिष्ठिर शान्तिप्रिय थे। वे चाहते थे जहाँ तक हो सके युद्ध को टालना चाहिए। दुर्योधन की इस मनोवृत्ति को देख कर उन्होंने सोचा—यदि अपनी आजीविका के लिए हम लोगों को सिर्फ पाँच गाँव मिल जायँ तो भी गुजारा हो सकता है। यदि इतने पर भी दुर्योधन मान जाय तो रक्तपात रुक सकता है।

श्रीकृष्ण भी जहाँ तक हो सके, शान्ति को कायम रखना चाहते थे। युधिष्ठिर ने अपनी बात श्रीकृष्ण के सामने रक्खी और उन्हीं पर सन्धि का सारा भार डाल दिया।

द्रौपदी को युधिष्ठिर की यह बात अच्छी न लगी। दुःशासन द्वारा किया गया अपमान उसके हृदय में काँटे की तरह चुभ रहा था। वह उसका बदला लेना चाहती थी। अपने खुले हुए केशों को हाथ में लेकर द्रौपदी श्रीकृष्ण से कहने लगी— प्रभो! आप सन्धि के लिए जा रहे हैं। विशाल साम्राज्य के बदले पाँच गाँव देकर कौन सन्धि न करेगा? उसमें भी जब सन्धि कराने वाले आप सरीखे महापुरुष हों। अपने हमारे भरण पोषण के लिए पाँच गाँवों को पर्याप्त मान कर शान्ति रखना उचित समझा है, किन्तु मैं गाँवों की भूखी नहीं हूँ। जंगल में रह कर भी मैं अपने दिन प्रसन्नतापूर्वक काट सकती हूँ। मुझे साम्राज्य की परवाह नहीं है। मैं तो अपने इन केशों के अपमान का बदला चाहती हूँ। जिस समय दुष्ट दुःशासन ने इन्हें खींचा था मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक ये केश उसके रक्त से न सींचे जाएंगे तब तक मैं इन्हें न बाँधूँगी। क्या मेरे ये केश खुले ही रह जाएंगे? क्या एक महिला का अपमान आपके लिये कोई महत्व नहीं रखता? भीम ने दुःशासन का वध और दुर्योधन की जंघा चूर चूर करने की प्रतिज्ञा की है। क्या उसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण ही रह जायगी?

दुर्योधन ने हमारे साथ क्या नहीं किया? जहर देकर मार डालने का प्रयत्न किया, लाख के घर में जला देना चाहा, दुर्वासा मुनि से शाप दिलाने की कोशिश की, हमारा जगह जगह अपमान किया, मेरी लाज छीनने में भी कसर नहीं रक्खी। वनवास तथा गुप्तवास के बाद शर्त के अनुसार हमें सारा साम्राज्य मिलना चाहिए। उसके बदले आप पाँच गाँव लेकर सन्धि करने जा रहे हैं, क्या यह अन्याय का पोषण नहीं है? क्या यह पापी दुर्योधन के लिए आपका पक्षपात नहीं है? क्या हमारे अपमानों का यही बदला है?

द्रौपदी की वक्तृता सुन कर सभी लोग दंग रह गए। उन्हें ऐसा

मालूम पड़ने लगा जैसे उसके शरीर में कोई देवी उतर आई हो। सब के सब युद्ध के लिए उत्तेजित हो उठे। पाँच गाँव लेकर सन्धि करना उन्हें अन्याय मालूम पड़ने लगा।

श्रीकृष्ण द्रौपदी की बातों को धैर्यपूर्वक सुनते रहे। अन्त में कहने लगे— द्रौपदी! तुमने जो बातें कहीं हैं वे अक्षरशःसत्य हैं। तुम्हारे साथ कौरवों ने जो दुर्व्यवहार किया है उसका बदला युद्ध के सिवाय कुछ नहीं है। सारी दुनियाँ ऐसा ही करती है। किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि अहिंसा में कितनी शक्ति है। हिंसा पाशविक बल है। क्या उसके बिना काम नहीं चल सकता? सभी शास्त्र हिंसा की अपेक्षा अहिंसा में अनन्तगुणी शक्ति मानते हैं। मैं इस सत्य का प्रयोग करके देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ तुम दुनियाँ के सामने यह आदर्श उपस्थित करो कि अहिंसा हिंसा को किस प्रकार दबा सकती है महाराज युधिष्ठिर का भी यही कहना है।

तुम्हारी पुरानी घटनाओं में सब जगह अहिंसा की जीत हुई है। दुःशासन ने तुम्हें अपमानित करने का प्रयत्न किया। द्रौपदी! तुम्हीं बताओ इस मे हार किस की हुई? दुःशासन की या तुम्हारी? वास्तव में पतन किसका हुआ, उसका या तुम्हारा? यदि उस समय शस्त्र से काम लिया जाता तो पाण्डव प्रतिज्ञाभ्रष्ट हो जाते। ऐसी दशा में पाण्डवों का उज्ज्वल यश मलिन हो जाता। लाक्षागृह और दूसरी सभी घटनाओं में तुम लोगों ने शान्ति से काम लिया और अहिंसा द्वारा विजय प्राप्त की। वह विजय सदा के लिए अमर रहेगी और संसार को कल्याण का मार्ग बताएगी। मैं चाहता हूँ तुम उसी प्रकार की विजय फिर प्राप्त करो। खून खराबी द्वारा उस विजय को मलिन न बनाना चाहिए।

द्रौपदी! तुम इन केशों को दिखा रही हो। ये केश तो भौतिक वस्तु है। थोड़े दिनों बाद अपने आप मिट्टी में मिल जाएंगे। इन

का लोच करके भी तुम अपनी प्रतिज्ञा से छुटकारा पा सकती हो। किन्तु अहिंसा धर्म का जिस महान् आदर्श को तुमने अब तक दुनियाँ के सामने रक्खा है उसे मलिन न होने दो। उसके मलिन होने पर वह धब्बा मिटना असम्भव हो जाएगा। उस महान् आदर्श के सामने भीम की प्रतिज्ञा भी तुच्छ है।

तुम वीराङ्गना और वीर पुत्री हो। मैं तुम से सच्ची वीरता की आशा रखता हूँ। सच्ची वीरता धर्म की रक्षा में है, दूसरे के प्राण लेने में नहीं। द्रौपदी! जिस आत्मिक बल ने तुम्हारी चीरहरण के समय रक्षा की थी वही तुम्हारी प्रतिज्ञाओं को पूरा करेगा। वही तुम्हारे केशों के धब्बे को मिटाएगा। उसी पर निर्भर रहो। पाशविक बल की ओर ध्यान मत दो।

कृष्ण की बातों से द्रौपदी का आवेश कम हो गया। वह शान्त होकर बोली-आप प्रयत्न कीजिए अगर दुर्योधन मान जाय।

श्रीकृष्ण दुर्योधन के पास गए किन्तु उसने उनकी एक भी बात नहीं मानी। उसे अपनी पाशविक शक्ति पर गर्व था। उसने उत्तर दिया-पाँच गाँव तो बहुत बड़ी चीज है। मैं सूई के अग्र भाग जितनी जमीन भी बिना युद्ध नहीं दे सकता। श्रीकृष्ण द्वारा की गई सन्धि की बातचीत निष्फल हो गई। दुर्योधन की पैशाचिक लिप्सा सभी लोगों के सामने नग्न रूप में आ गई।

दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ हुईं। कुरुक्षेत्र के मैदान में अठारह अक्षौहिणी सेना खून की प्यासी बन कर आ डटी। महान् नरसंहार होने लगा। खून की नदियाँ बह चलीं। विजय पाण्डवों की हुई किन्तु वह विजय हार से भी बुरी थी। पाँच पाण्डवों को छोड़ कर सारे सैनिक युद्ध में काम आगए। सन्दिनी लाशों से भर गई। देश की युवाशक्ति मटियामेट हो गई। लाखों विधवाओं, वृद्धों और बालकों के क्रन्दन से भरी इन्द्रप्रस्थपुरी में युधिष्ठिर

राजसिंहासन पर बैठे।

यह दृश्य देख कर द्रौपदी का हृदय दहल उठा। उसे विश्वास हो गया कि हिंसात्मक युद्ध में विजित और विजयी दोनों की हार है और अहिंसात्मक युद्ध में दोनों की विजय है। दोनों का कल्याण है। उस सूने राज्य में द्रौपदी का मन न लगा। शान्ति प्राप्त करने के लिए उसने दीक्षा ले ली। पाँचों पाण्डव भी संसार से विरक्त होकर मुनि बन गए।

शुद्ध संयम का आराधन करते हुए यथासमय समाधि पूर्वक काल करके पाँचों पाण्डव मोक्ष में गए। द्रौपदी पाँचवें ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुई। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगी और वहीं से मोक्ष जाएगी। (ज्ञाता धर्म कथाङ्ग अध्ययन १६)

(६) कौशल्या

प्राचीन समय में कुशस्थल नाम का अति रमणीय एक नगर था। वहां राजा के सब गुणों से युक्त सुकोशल नाम का राजा न्याय नीति पूर्वक राज्य करता था। प्रजा को वह अपने पुत्र के समान समझता था इसीलिए प्रजा भी उसे हृदय से अपना राजा मानती थी। उसकी रानी का नाम अमृतप्रभा था। उसका स्वभाव बहुत कोमल और मधुर था। कुछ समय पश्चात् रानी की कुक्षि से एक कन्या का जन्म हुआ। उसका नाम अपराजिता रक्खा गया। रूप लावण्य में वह अद्भुत थी। अपने माता पिता की इकलौती सन्तान होने के कारण वे उसे बहुत लाड प्यार करते थे। उसका लाड़प्यार वाला दूसरा नाम कौशल्या था। अनेक धायों की संरक्षणता में वह बढ़ने लगी। जब वह स्त्री कलाओं में निपुण होकर युवावस्था को प्राप्त हुई तब माता पिता को उसके अनुरूप वर खोजने की चिन्ता पैदा हुई।

इधर अयोध्या नगरी के अन्दर राजा दशरथ राज्य कर रहे

थे। मातापिता के दीक्षा ले लेने के कारण राजा दशरथ बाल्यावस्था में ही राजसिंहासन पर बिठा दिये गये थे। जब वे युवावस्था को प्राप्त हुए और राज्य का कार्य स्वयं सम्भालने लगे तब उनका ध्यान अपने राज्य की वृद्धि करने की ओर गया। अपने अपूर्व पराक्रम से उन्होंने कई राजाओं को अपने अधीन कर लिया। एक समय उन्होंने कुशस्थल पर चढ़ाई की। राजा दशरथ की सेना के सामने राजा सुकोशल की सेना न ठहर सकी। अन्त में सुकोशल पराजित हो गया। राजा सुकोशल ने अपनी कन्या कौशल्या का विवाह राजा दशरथ के साथ कर दिया। इससे दोनों राजाओं का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया। अयोध्या में आकर राजा दशरथ रानी कौशल्या के साथ आनन्द पूर्वक समय बिताने लगा।

मिथिला का राजा जनक और राजा दशरथ दोनों समवयस्क थे। एक समय वे दोनों उत्तरापथ की ओर गये। वहाँ कौतुक मंगल नगर के राजा शुभमति की कन्या कैकयी का स्वयंवर हो रहा था। वे भी वहाँ पहुँचे। राजाओं के बीच में वे दोनों चन्द्र और सूर्य के समान शोभित हो रहे थे। वस्त्राभूषण से अलङ्कृत होकर कैकयी प्रतिहारी के साथ स्वयंवर मण्डप में आई। वहाँ उपस्थित राजाओं को देखती हुई वह आगे बढ़ती गई। राजा दशरथ के पास आकर वह खड़ी होगई और वरमाला उनके गले में डाल दी। यह देख कर दूसरे राजाओं को बहुत बुरा लगा। जबर्दस्ती से कैकयी को छीन लेने के लिये वे युद्ध की तैयारी करने लगे। राजा शुभमति और राजा दशरथ भी लड़ाई के लिये तय्यार हुए। राजा दशरथ के रथ में बैठ कर कैकयी उसका सारथी बनी। उस ने ऐसी चतुराई से रथ को हांकना शुरू किया जिससे राजा दशरथ की लगातार विजय होती गई। अन्त में सब राजाओं को परास्त कर राजा दशरथ ने कैकयी के साथ विवाह किया। प्रसन्न होकर

राजा दशरथ ने कैकयी से कहा– हे प्रिये ! तुम्हारे सारथीपन के कारण ही मेरी विजय हुई है । मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ । तुम कोई वर मांगो । कैकयी ने उत्तर दिया– स्वामिन् ! समय आयेगा तब माँग लूँगी । अभी आप इसे अपने ही पास धरोहर की भाँति रखिए । इसके पश्चात् राजा दशरथ कैकयी को लेकर अपने नगर में चले आए । कुछ समय बाद उसने सर्वाङ्गसुन्दरी राजकुमारी सुमित्रा (मित्राभू , सुशीला) और सुप्रभा के साथ विवाह किया ।

रानियों के साथ राजा दशरथ सुखपूर्वक अपना समय बिताने लगे । रानी कौशल्या में अनेक गुण थे । उस का स्वभाव बड़ा सीधा सादा और सरल था । सौतिया डाह तो उसके अन्दर नाम मात्र को भी न था । कैकयी, सुप्रभा और सुमित्रा को वह अपनी छोटी बहिनें मान कर उनके साथ बड़े प्रेम का व्यवहार करती थी । सद्गुणों के कारण राजा ने उसे पटरानी बना दिया ।

एक समय रात्रि के पिछले पहर में कौशल्या ने बलदेव के जन्म सूचक चार महास्वप्न देखे । उसने अपने देखे हुए स्वप्न राजा को सुनाये । राजा ने कहा– प्रिये ! तुम्हारी कुक्षि से एक महान् प्रतापी पुत्र का जन्म होगा । रानी अपने गर्भ का यत्न पूर्वक पालन करने लगी । गर्भस्थिति पूरी होने पर रानी ने पुण्डरीक कमल के समान वर्ण वाले पुत्र को जन्म दिया ।

पुत्र जन्म से राजा दशरथ को अत्यन्त हर्ष हुआ । प्रजा खुशियाँ मनाने लगी । अनेक राजा विविध प्रकार की भेटें लेकर राजा दशरथ की सेवा में उपस्थित होने लगे । खजाने में पद्मा (लक्ष्मी) की बहुत वृद्धि हुई, इससे राजा दशरथ ने पुत्र का नाम पद्म रखा । लोगों में ये राम के नाम से प्रख्यात हुए । ये बलदेव थे ।

कुछ समय पश्चात् रानी सुमित्रा ने एक रात्रि के शेष भाग में वसुदेव के जन्म सूचक सात महास्वप्न देखे । समय पूरा होने पर उसने

एक प्रतापी, तेजस्वी और पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म से राजा, रानी तथा प्रजा सभी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। राजा ने पुत्र का नाम नारायण रक्खा किन्तु लोगों में वह 'लक्ष्मण' इस नाम से प्रख्यात हुआ। ये दोनों भाई पृथ्वी पर चन्द्र और सूर्य के समान शोभित होने लगे।

इसके पश्चात् कैकयी की कुक्षि से भरत और सुप्रभा की कुक्षि से शत्रुघ्न ने जन्म लिया। योग्य समय पर कलाचार्य के पास सब कलाएं सीख कर चारों भाई कला में प्रवीण हो गये।

एक समय चार ज्ञान के धारक एक मुनिराज अयोध्या में पधारे। राजा दशरथ उन्हें वन्दना नमस्कार करने के लिये गया। मुनि ने समयोचित धर्मदेशना दी। राजा ने अपने पूर्वभव के विषय में पूछा। मुनिराज ने राजा को उसका पूर्वभव कह सुनाया जिससे उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य सौंप कर दीक्षा लेने का निश्चय किया।

राम के राज्याभिषेक की बात सुन कर कैकयी के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उसने स्वयंवर के समय दिये हुए वरदान को इस समय राजा से मांगा और कहा कि मेरे पुत्र भरत को राज्य मिले और राम को वनवास। इस दुःखद वरदान को सुन कर राजा को मूर्च्छा आ गई। जब राम को इस बात का पता लगा तो वे शीघ्र ही वहाँ आये। शीतल उपचारों से राजा की मूर्च्छा दूर कर उनकी आज्ञा से वन जाने को तय्यार हुए। सब से पहले वे माता कैकयी के पास आए। उसे प्रणाम कर वन जाने की आज्ञा माँगी। इसके पश्चात् वे माता कौशल्या के पास आए। वन जाने की बात सुन कर उनको अति दुःख हुआ किन्तु इस सारे प्रपंच को रचने वाली दासी मन्थरा पर और कठिन वरदान को माँगने वाली रानी कैकयी पर उन्होंने जरा भी क्रोध नहीं किया और न उनके प्रति

किसी प्रकार के कटुतापूर्ण शब्दों का प्रयोग ही किया। माता कौशल्या ने गम्भीरता और धैर्य्य पूर्वक राम को वन में जाने की अनुमति दी। पतिव्रता सीता भी राम के साथ वन को गई और लक्ष्मण भी उनके साथ वन को गया।

कौशल्या के हृदय में जितना स्नेह राम के लिये था उतना ही स्नेह लक्ष्मण और भरतादि के लिये भी था। सीता हरण के कारण रावण के साथ संग्राम करते हुए लक्ष्मण को शक्ति बाण लगा और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा यह खबर जब अयोध्या पहुँची तो रानी कौशल्या को बहुत दुःख हुआ। वह सोचने लगी राम! तुम लक्ष्मण के बिना वापिस अकेले कैसे आओगे? व्याकुल होती हुई सुमित्रा को उसने आश्वासन देकर धैर्य बंधाया। इतने में नारद ने आकर लक्ष्मण के स्वस्थ होने की खबर कौशल्या आदि रानियों को दी तब कहीं जाकर उनकी चिन्ता दूर हुई।

अपने पराक्रम से लंका पर विजय प्राप्त करके लक्ष्मण और सीता सहित राम वापिस अयोध्या में आये। भरत के अत्याग्रह से राम ने अयोध्या का राज्य स्वीकार किया।

रानी कौशल्या ने राम को वन में जाते देखा और लंका पर विजय प्राप्त कर वापिस लौटते हुए भी देखा। राम को वनवासी तपस्वी वेष में भी देखा और राज्य वैभव से युक्त राजसिंहासन पर बैठे हुए भी देखा। कौशल्या ने पति सुख भी देखा और पुत्र-वियोग के दुःख को भी सहन किया। वह राजरानी भी बनी और राजमाता भी बनी। उसने संसार के सारे रंग देख लिये किन्तु उसे कहीं भी आत्मिक शान्ति का अनुभव नहीं हुआ। संसार के प्रति उसे वैराग्य होगया। सांसारिक बंधनों को तोड़ कर उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कई वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन कर सद्गति को प्राप्त किया।

(७) मृगावती

मृगावती वैशाली के प्रसिद्ध महाराजा चेटक (चेड़ा) की पुत्री थी। उसकी एक बहिन का नाम पद्मावती था। जो चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी थी। सती पद्मावती ने भी अपने उज्ज्वल चरित्र द्वारा सोलह सतियों के पवित्र हार को सुशोभित किया है। उस का चरित्र आगे दिया जाएगा।

मृगावती की दूसरी बहिन का नाम त्रिशला था। जो महाराज सिद्धार्थ की रानी थी। उसी के गर्भ से चरम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। पद्मावती और त्रिशला के सिवाय मृगावती के चार बहिनें और थीं।

मृगावती बहुत सुन्दर, धर्म परायण और गुणवती थी। उस का विवाह कौशाम्बी के महाराजा शतानीक के साथ हुआ था। अपने गुणों के कारण वह उसकी पटरानी बन गई थी।

कौशाम्बी वाणिज्य, व्यवसाय और कला कौशल के लिए प्रसिद्ध थी। वहाँ बहुत से चित्रकार रहते थे।

एक बार कौशाम्बी का एक चित्रकार चित्रकला में अधिक प्रवीण होने के लिए साकेतनपुर गया। वहाँ एक बुढ़िया चितेरन के घर ठहर गया। बुढ़िया का लड़का चित्रकला में बहुत निपुण था। कौशाम्बी का चित्रकार वहीं रह कर चित्रकला सीखने लगा।

एक बार बुढ़िया के घर राजपुरुष आए। वे उसके लड़के के नाम की चिट्ठी लाए थे। बुढ़िया उन्हें देख कर छाती और सिर कूटती हुई ज़ोर ज़ोर से रोने लगी। कौशाम्बी के चित्रकार ने उस से रोने का कारण पूछा। बुढ़िया ने कहा- बेटा ! यहाँ सुरप्रिय नाम के यक्ष का स्थान है। वहाँ प्रति वर्ष मेला भरता है। उस

मेले के दिन किसी न किसी चित्रकार को उस यक्ष का चित्र अवश्य बनाना पड़ता है। यदि चित्र में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो यक्ष चित्रकार के प्राण ले लेता है। यदि उस का चित्र बनाने के लिए कोई तैयार न हो तो यक्ष कुपित होकर नगर में उपद्रव मचाने लगता है। बहुत से लोगों को मार डालता है।

इस बात से डर कर बहुत से चितेरे नगर छोड़ कर भाग गए, फिर भी यक्ष का कोप कम नहीं हुआ। साकेतनपुर में सभी लोग भयभीत रहने लगे। यह देख कर यक्ष को प्रसन्न करने के लिए राजा ने सिपाहियों को भेज कर चितेरों को फिर नगर में बुला लिया। मेले के दिन प्रत्येक चित्रकार के नाम की चिट्ठी घड़े में डाल कर एक कन्या द्वारा निकलवाई जाती है। जिसके नाम की चिट्ठी निकलती है उसी को यक्ष का चित्र बनाने के लिए जाना पड़ता है। आज मेले का दिन है। मेरे पुत्र के नाम की चिट्ठी निकली है। मेरा यह इकलौता बेटा है। इसी की कमाई से घर का निभाव हो रहा है यह चिट्ठी यमराज के घर का निमन्त्रण है। इस वृद्धावस्था मे इस पुत्र के विना मेरा कौन सहारा है?

कौशाम्बी के चित्रकार ने कहा– माताजी! आप शोक मत कीजिए। यक्ष का चित्र बनाने के लिए आपके पुत्र के बदले मैं चला जाऊँगा। इस प्रकार उसने वृद्धा के शोक को दूर कर दिया। धैर्य, उत्साह और साहस पूर्वक वह पुलिस के साथ हो लिया। उसने उसी समय अट्ठम तप का पच्चक्खाण कर लिया और चित्र बनाने के लिए केसर, कस्तूरी आदि महा सुगन्धित पदार्थों को साथ ले लिया। पवित्र होकर वह यक्ष के मन्दिर मे पहुँचा। केसर, चन्दन, अगर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों के विविध रंग बना कर उस ने यक्ष का चित्र बनाया। फिर चित्र की पूजा करके एकाग्र चित्त से उसके सामने बैठ कर और हाथ जोड़ कर कहने लगा–

हे यक्षाधिराज ! मैंने आप का चित्र बनाया है। उस में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो इस सेवक को क्षमा कीजिएगा। आप के सन्तोष से सभी का कल्याण है। नगर के सभी लोग आपकी प्रसन्नता चाहते हैं।

यक्ष चित्रकार की स्तुति से प्रसन्न हो गया और बोला—चित्रकार ! मैं तुम पर सन्तुष्ट हूँ। अपना इच्छित वर मांगो।

चित्रकार ने कहा— यदि आप प्रसन्न हैं तो अब यहाँ के लोगों को अभयदान दे दीजिए। दया स्वर्ग और मोक्ष की जननी है।

चित्रकार का परोपकार से भरा हुआ कथन सुन कर यक्ष और भी प्रसन्न हो गया और बोला—आज से लेकर जीवन पर्यन्त मैं किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा। किन्तु यह वरदान तो मेरी सद्गति या परोपकार के लिए है। तुम अपने लिए कोई दूसरा वर मांगो।

चित्रकार ने उत्तर दिया—आपने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर जीव हिंसा को बन्द कर दिया,यह बड़े हर्ष की बात है। यदि आप विशेष प्रसन्न हैं तो मैं दूसरा वर माँगता हूँ—आप अपने मन को आत्मकल्याण की ओर लगाइए।

यक्ष अत्यन्त प्रसन्न होकर बोला— तुम्हारी बात मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु यह भी मेरे हित के लिए है। तुम अपने हित के लिए कुछ मांगो।

यक्ष के बार बार आग्रह करने पर चित्रकार ने कहा— यदि आप मेरे पर अत्यधिक प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर दीजिए कि मैं किसी व्यक्ति या वस्तु के एक भाग को देख कर सारे का चित्र खींच सकूँ।

यक्ष ने 'तथाऽस्तु' कह कर उसकी प्रार्थना के अनुसार वर दे दिया। चित्रकार अपने अभीष्ट को प्राप्त कर बहुत खुश हुआ और अपने स्थान पर चला आया। उसके मुँह से सारा हाल सुन कर राजा और प्रजा को बड़ा हर्ष हुआ। सभी निर्भय होकर

आनन्द पूर्वक रहने लगे। चित्रकार अपनी कुशलता के कारण सब जगह प्रसिद्ध हो गया। उसकी कीर्ति दूर दूर तक फैल गई।

एक बार शतानीक ने अपनी चित्रशाला चित्रित करने के लिए उसी चित्रकार को बुलाया। राजा ने उसकी बहुत प्रशंसा की और अपनी चित्रशाला में विविध प्रकार के प्राणी, सुन्दर दृश्य तथा दूसरी वस्तुएं चित्रित करने के लिए कहा।

चित्रकार अपनी कारीगरी दिखाने लगा। सिंह, हाथी आदि प्राणी ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे वे अभी बोलेंगे। प्राकृतिक दृश्य ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे वास्तविक हों। सभी चित्र सजीव तथा भाव पूर्ण थे।

एक बार रानी मृगावती अपने महल की खिड़की में बैठी हुई थी। उसका अंगूठा चित्रकार की नजरों में पड़ गया। यक्ष द्वारा प्राप्त हुए वरदान के कारण उसने सारी मृगावती का हूबहू चित्र बना दिया। चित्र बनाते समय उसकी पीछी से काले रंग का एक धब्बा चित्र की जांघ पर गिर पड़ा। चित्रकार ने उसे पोंछ दिया किन्तु फिर भी वहाँ काला चिह्न बना रहा। चित्रकार ने सोचा- मृगावती की जांघ पर सचमुच काला तिल होगा इसी लिए वरदान के कारण बार बार पोंछने पर भी यह दाग यहाँ से नहीं मिटता। यह चिह्न देखने वाले के दिल में सन्देह पैदा करने वाला है, किन्तु नहीं निकलने पर क्या किया जाय। इस चित्र को वस्त्र पहिना देने चाहिएं जिससे यह तिल ढक जाय। यह सोच कर काम को दूसरे दिन के लिए बन्द करके वह अपने घर चला गया।

अचानक उसी समय महाराज शतानीक चित्रशाला देखने के लिए आए। अनेक प्रकार के सुन्दर और कलापूर्ण चित्रों को देख कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। चित्र देखते हुए वे मृगावती के वस्त्र रहित चित्र के पास आ पहुँचे। चित्र को देख कर उन्हें चित्रकार की कुशलता पर आश्चर्य होने लगा। अचानक उनका ध्यान

जंघा पर पड़े हुए तिल के निशान पर गया। राजा के मन में सन्देह हो गया। वे सोचने लगे– इस चित्रकार का मृगावती के साथ गुप्त सम्बन्ध होगा, नहीं तो यह इस तिल को कैसे जान सकता है। उसका अपराध बहुत बड़ा है, इसके लिए उसे मृत्यु दण्ड मिलना चाहिए। यह निश्चय करके राजा ने उसके लिए मृत्युदण्ड की आज्ञा दे दी।

चित्रकार ने क्षमा याचना करते हुए कहा– महाराज ! मुझे यक्ष की तरफ से वरदान मिला हुआ है। यह बात सभी लोग जानते हैं। आप भी इससे अपरिचित न होंगे। उस वर के कारण मैं किसी वस्तु या व्यक्ति का एकअङ्ग देख कर पूरा चित्र बना सकता हूँ। मैंने महारानी का केवल एक अंगूठा देखा था, उसी से वर के कारण सारा चित्र खींच दिया। जंघा के दाग को निकालने के लिए मैंने कई बार प्रयत्न किया किन्तु वह न निकला। हार कर मैंने दूसरे दिन इस चित्र को कपड़े पहिनाने का निश्चय किया जिस से यह दाग ढक जाय। मैंने आप से सच्ची बात निवेदन कर दी है, अब आप जो चाहें कर सकते हैं। आप हमारे मालिक हैं।

राजा ने चित्रकार की परीक्षा के लिए उसे एक कुब्जा का केवल मुंह दिखा कर सारी का चित्र बनाने की आज्ञा दी। चित्रकार ने कुब्जा का हूबहू चित्र बना दिया। राजा को उसकी बात पर विश्वास हो गया। फिर भी उसने इस बात को अपना अपमान समझा कि चित्रकार ने रानी का चित्र उससे बिना पूछे इस प्रकार बनाया। इस लिए राजा ने यह कहते हुए कि भविष्य में यह किसी कुलवती महिला का चित्र न खींचने पावे, चित्रकार का अंगूठा काट लेने की आज्ञा दे दी।

बिना दोष के दण्डित होने के कारण चित्रकार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने मन में बदला लेने का निश्चय किया।

कुमार राज्य सम्भाल लेगा और मैं शोक मुक्त हो जाऊँगी तो स्वयं आपके पास चली आऊँगी। आप किसी बात के लिए मुझ पर अप्रसन्न न होइएगा। यदि आपने मेरी इस बात पर ध्यान न दिया और शोक की अवस्था में भी राज्य और मुझ पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया तो मुझे प्राण त्यागने पड़ेंगे। इससे आपका मनोरथ मिट्टी में मिल जाएगा। इस लिए लड़ाई बन्द करके आप अपने राज्य की ओर चले जाइये इसी में कल्याण है।

राजा ने मृगावती की बात मान ली और लड़ाई बन्द करके सेना सहित अवन्ती की ओर प्रस्थान कर दिया।

चण्डप्रद्योतन के लौट जाने पर मृगावती ने पति का मृत्यु संस्कार किया। कौशाम्बी के चारों ओर मजबूत दीवाल बनवाई जिससे शत्रु शीघ्र नगरी में न घुस सके। उदयनकुमार को अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा दी। धीरे धीरे उसे राज्य का भार सम्भालने योग्य बना दिया।

चण्डप्रद्योतन अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए उत्कण्ठित था। कुछ वर्षों के बाद उसने मृगावती को बुलाने के लिए अपने सेवकों को भेजा। सेवकों ने कौशाम्बी में जाकर मृगावती को चण्डप्रद्योतन का सन्देश सुनाया। मृगावती ने उत्तर दिया— मैं तुम्हारे राजा को मन से भी नहीं चाहती। मैंने अपने शील की रक्षा के लिए युक्ति रची थी। महाराजा शतानीक की मृत्यु हो जाने से मैं आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी। किसी दूसरे पुरुष को पति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। इस लिए तुम लोग वापिस जाकर अपने राजा से कह दो कि वह अपने पापपूर्ण विचारों को छोड़ दे।

सेवकों को इस बात से खुशी हुई कि मृगावती अपने शील पर दृढ़ है। उन्होंने अवन्ती में जाकर सारी बात राजा से कही। चण्डप्रद्योतन ने उसी समय कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी और नगरी के

पास पड़ाव डाल कर दूत द्वारा मृगावती को कहलाया–मृगावती ! यदि तुम अपना और अपने पुत्र का भला चाहती हो तो शीघ्र मेरी बात मानलो नहीं तो तुम्हारा राज्य नष्ट कर दिया जायगा।

मृगावती ने आपत्ति को आई हुई जान कर नगरी के प्राकार पर सिपाहियों को तैनात कर दिया। सब प्रकार का प्रबन्ध करके वह अपने शील की रक्षा के लिए नवकार मन्त्र का जाप करने लगी।

उसी समय ग्रामानुग्राम विचर कर जगत का कल्याण करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कौशाम्बी पधारे। नगरी के बाहर देवों ने समवसरण की रचना की। भगवान के प्रभाव से आस पास के सभी प्राणी अपने वैर को भूल गए। राजा चण्ड प्रद्योतन पर भी असर पड़ा। भगवान् का उपदेश सुनने के लिए वह समवसरण में आया। मृगावती को भी भगवान् के आगमन का समाचार जान कर बड़ी खुशी हुई। अपने पुत्र को साथ लेकर वह नगरी के बाहर भगवान् के दर्शनार्थ गई। वह भी धर्मोपदेश सुनने के लिए बैठ गई। भगवान् ने सभी के लिए हितकारक उपदेश देना शुरू किया।

भगवान् के उपदेश से मृगावती ने उसी समय दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। यह सुन कर चण्डप्रद्योतन को भी बड़ा हर्ष हुआ। उसने उदयन को कौशाम्बी के राजसिंहासन पर बैठा कर राज्याभिषेक महोत्सव मनाया। मृगावती ने भी राजा को सदैव इसी प्रकार उदयन के ऊपर अपनी कृपादृष्टि बनाए रखने का सन्देश दिया।

इस के बाद मृगावती ने भगवान् के पास दीक्षा धारण कर ली तथा महासती चन्दनबाला की आज्ञा में विचरने लगी।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर विचरते हुए कौशाम्बी पधारे। चन्दनबाला का भी अपनी शिष्याओं के साथ वहीं आगमन हुआ। एक दिन मृगावती अपनी गुरुआनी सती चन्दनबाला की आज्ञा

लेकर भगवान् के दर्शनार्थ गई। सूर्य चन्द्र भी अपने मूल विमान से दर्शनार्थ आए थे, अतः प्रकाश के कारण समय का ज्ञान न रहा। सूर्य चन्द्र चले गये। इतने में रात हो गई। मृगावती अंधेरा हो जाने पर उपाश्रय में पहुँची। वहाँ आकर उसने चन्दनबाला को वन्दना की। प्रवर्तिनी होने के कारण उसे उपालम्भ देते हुए चन्दनबाला ने कहा– साध्वियों को सूर्यास्त के बाद उपाश्रय के बाहर न रहना चाहिये।

मृगावती अपना दोष स्वीकार करके उसके लिये पश्चात्ताप करने लगी। समय होने पर चन्दनबाला तथा दूसरी साध्वियाँ अपने अपने स्थान पर सो गई, किन्तु मृगावती बैठी हुई पश्चात्ताप करती रही। धीरे धीरे उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। उसे केवलज्ञान होगया।

अँधेरी रात थी। सब सतियाँ सोई हुई थी। उसी समय मृगावती ने अपने ज्ञान द्वारा एक काला साँप देखा। वह चन्दनबाला के हाथ की तरफ आ रहा था। यह देख कर मृगावती ने चन्दनबाला के हाथ को उठा लिया। हाथ के छूए जाने से चन्दनबाला की नींद खुल गई। पूछने पर मृगावती ने सांप की बात कह दी और निद्राभंग करने के लिए क्षमा मांगी।

चन्दनबाला ने पूछा– अँधेरे में आपने साँप को कैसे देख लिया? मृगावती ने उत्तर दिया– आपकी कृपा से मेरे दोष नष्ट हो गए है, अतः ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई है। चन्दनबाला– पूर्ण या अपूर्ण?

मृगावती–आपकी कृपा होने पर अपूर्णता कैसे रह सकती है?

चन्दनबाला– तब तो आपको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। बिना जाने मुझ से आशातना हुई है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

चन्दनबाला ने मृगावती को वन्दना की। केवली की आशातना के लिए वह पश्चात्ताप करने लगी। उसी समय उसके घाती कर्म नष्ट हो जाने से उसे भी केवलज्ञान होगया। आयुष्य पूरी होने पर सती मृगावती सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुई।

(८) सुलसा

आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले की बात है। मगध देश में राजगृही नाम की विशाल नगरी थी। वहाँ श्रेणिक नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। उसके सुनन्दा नाम वाली भार्या से उत्पन्न हुआ अभयकुमार नामक पुत्र था। वह औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी रूप चारों बुद्धियों का निधान था। वही राजा का प्रधान मंत्री था। नगरी धन, धान्य आदि से पूर्ण तथा सुखी थी।

उसी नगरी में नाग नाम का रथिक रहता था। वह राजा श्रेणिक का सेवक था। उसके श्रेष्ठ गुणों वाली सुलसा नामक भार्या थी। नाग सारथी ने गुरु के समक्ष यह नियम कर लिया था कि मैं कभी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करूँगा। दोनों स्त्री पुरुष परस्पर प्रेमपूर्वक सुख से जीवन व्यतीत करते थे। सुलसा सम्यक्त्व में दृढ़ थी। उसे कभी क्रोध न आता था।

एक बार नाग रथिक ने किसी सेठ के पुत्रों को आंगन में खेलते हुए देखा। बच्चे देवकुमार के समान सुन्दर थे। उनके खेल से सारा आंगन हास्यमय हो रहा था। उन्हें देख कर नाग रथिक के मन में आया-पुत्र के बिना घर सूना है। सब प्रकार का सुख होने पर भी सन्तान के बिना फीका मालूम पड़ता है। इस प्रकार के विचारों से उसके हृदय में पुत्रप्राप्ति की प्रबल इच्छा जाग उठी। वह पुत्रप्राप्ति के लिए विविध प्रकार के उपाय सोचने लगा। इस के लिए वह मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना करने लगा। सुलसा ने यह देख कर उससे कहा-प्राणनाथ! पुत्र, यश, धन आदि सभी वस्तुओं की प्राप्ति अपने अपने कर्मानुसार होती है। बाँधे हुए कर्म भोगने ही पड़ते हैं। इस में मनुष्य या देव कुछ नहीं कर सकते। मालूम पड़ता है, मेरे गर्भ से कोई सन्तान न होगी इस

लिए आप दूसरा विवाह कर लीजिए।

नाग सारथी ने उत्तर दिया—मुझे तुम्हारे ही पुत्र की आवश्यकता है। मैं दूसरा विवाह नहीं करना चाहता।

सुलसा ने कहा—सन्तान, धन आदि किसी वस्तु का अभाव अन्तराय कर्म के उदय से होता है। अन्तराय को दूर करने के लिए हमें दान, तप, पच्चक्खाण आदि धर्म कार्य करने चाहिएं। धर्म से सभी बातों की प्राप्ति होती है। धर्म ही कल्पवृक्ष है। धर्म ही चिन्तामणि रत्न तथा कामधेनु है। भोले प्राणी स्वर्ग और मोक्ष के देने वाले धर्म को छोड़ कर इधर उधर भटकते है। उत्तम कुल, दीर्घ आयुष्य,स्वस्थ शरीर, पूर्ण इन्द्रियाँ, अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति, परस्पर प्रेम, गुणों का अनुराग, उत्तम सन्तान तथा ऐश्वर्य आदि सभी बातें धर्म से प्राप्त होती हैं। घर में लक्ष्मी,बाहु में बल, हाथों द्वारा दान, देह में सुन्दरता, मुंह में अमृत के समान मीठी वाणी तथा कीर्ति आदि सभी गुणों का कारण धर्म है।

किसी वस्तु के अपने पास न होने पर खेद न करना चाहिए। उसकी प्राप्ति के लिए शुभ कर्म तथा पुण्य उपार्जन करना चाहिये।

सुलसा की बात सुन कर नाग सारथी की भी धर्म की ओर विशेष रुचि हो गई। दोनों उसी दिन से दान,त्याग और तपस्या आदि धर्म कार्यों में विशेष अनुराग रखने लगे।

एक बार देवों की सभा लगी हुई थी। मनुष्यलोक की बात चली। शक्रेन्द्र ने सुलसा की प्रशंसा करते हुए कहा—भरतखण्ड के मगध देश की राजगृही नगरी में नाग नाम का सारथी रहता है। उसकी भार्या सुलसा को कभी क्रोध नहीं आता। वह धर्म में ऐसी दृढ़ है कि देव दानव या मनुष्य कोई भी उसे विचलित करने में समर्थ नहीं है। इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा को सुन कर हरिणगवेषी देव सुलसा की परीक्षा करने के लिए मृत्युलोक में आया। दो

साधुओं का रूप बना कर वह सुलसा के घर गया। साधुओं को देख कर सुलसा बहुत हर्षित हुई। मन में सोचने लगी– मेरा अहो भाग्य है कि निर्ग्रन्थ साधु भिक्षा के लिए मेरे घर पधारे हैं। साधुओं को वन्दना नमस्कार करने के बाद सुलसा ने हाथ जोड़ कर विनति की– मुनिराज! आप के पधारने से मेरा घर पवित्र हुआ है। आप को जिस वस्तु की चाहना हो फरमाइए।

मुनि ने उत्तर दिया– तुम्हारे घर में लक्षपाक तेल है। उग्र विहार के कारण बहुत से साधु ग्लान हो गए हैं। उनके उपचार के लिए इसकी आवश्यकता है।

'लाती हूँ' कह कर हर्षित होती हुई सुलसा तेल लाने के लिए अन्दर गई, ज्यों ही वह उपर रक्खे तेल के भाजन को उतारने लगी कि देवमाया के प्रभाव से वह हाथ से फिसल कर नीचे गिर पड़ा। इसी प्रकार दूसरा और तीसरा भाजन भी नीचे गिर कर फूट गया।

इतना नुकसान होने पर भी सुलसा के मन में बिल्कुल खेद नहीं हुआ। बाहर आकर उसने सारा हाल साधुओं से कहा। साधुवेषधारी देव प्रसन्न हो गया। उसने अपने असली रूप में प्रकट होकर सुलसा से कहा– शक्रेन्द्र ने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वास्तव में तुम वैसी ही हो। मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए साधु का वेष बनाया था। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जो तुम्हारी इच्छा हो माँगो।

सुलसा ने उत्तर दिया– आप मेरे हृदय की बात जानते ही हैं, फिर मुझे कहने की क्या आवश्यकता है?

देव ने ज्ञान द्वारा उसके पुत्र प्राप्ति रूप मनोरथ को जान कर सुलसा को बत्तीस गोलियाँ दीं और कहा– एक २ गोली खाती जाना। इनके प्रभाव से तुम्हें बत्तीस पुत्रों की प्राप्ति होगी। फिर कभी कुछ आवश्यकता पड़े मेरा स्मरण करना, मैं उसी समय उपस्थित हो जाऊँगा। यह कह कर देव अन्तर्धान हो गया।

गोलियाँ खाने से पहले सुलसा ने सोचा– मैं बत्तीस पुत्रों का क्या करूँगी ? यदि शुभ लक्षणों वाला एक ही पुत्र हो तो वही घर को आनन्द से भर देता है। अकेला चाँद रात्रि को प्रकाशित कर देता है किन्तु अनगिनत तारों से कुछ नहीं होता। इसी प्रकार एक ही गुणी पुत्र वंश को उज्ज्वल बना देता है, निर्गुण बहुत से पुत्र भी कुछ नहीं कर सकते। अधिक पुत्रों के होने से धर्म कार्य में भी बाधा पड़ती है। यदि मेरे बत्तीस लक्षणों वाला एक ही पुत्र उत्पन्न हो तो बहुत अच्छा है। यह सोच कर उसने सभी गोलियाँ एक साथ खा लीं। उनके प्रभाव से सुलसा के बत्तीस गर्भ रह गए और धीरे धीरे बढ़ने लगे। सुलसा के उदर में भयङ्कर वेदना होने लगी। उस असह्य वेदना की शान्ति के लिए सुलसा ने हरिणगवेषी देव का स्मरण किया। देव ने प्रकट होकर सुलसा से कहा तुम्हें एक एक गोली खानी चाहिए थी। बत्तीस गोलियों को एक साथ खाने से तुम्हारे एक साथ बत्तीस पुत्रों का जन्म होगा। इन में से किसी एक की मृत्यु होने पर सभी मर जाएंगे। यदि तुम अलग अलग बत्तीस गोलियाँ खाती तो अलग अलग बत्तीस पुत्रों को जन्म देती।

सुलसा ने उत्तर दिया– प्रत्येक प्राणी को अपने किए हुए कर्म भोगने ही पड़ते है। आपने तो अच्छा ही किया था किन्तु अशुभ कर्मोदय के कारण मुझ से गल्ती हो गई। यदि आप इस वेदना को शान्त कर सकते हों तो प्रयत्न कीजिए, नहीं तो मुझे बाँधे हुए कर्म भोगने ही पड़ेंगे।

हरिणगवेषी देव ने सुलसा की वेदना को शान्त कर दिया। समय पूरा होने पर उसने शुभ लक्षणों वाले बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। बड़े धूमधाम से पुत्रों का जन्म महोत्सव मनाया गया। बारहवें दिन सभी के अलग अलग नाम रक्खे गये।

पाँच पाँच धायमाताओं की देखरेख में सभी पुत्र धीरे धीरे बढ़ने लगे। नाग रथिक का घर पुत्रों के मधुर गान, सरल हँसी तथा बालक्रीड़ाओं से भर गया। सभी बालक एक से एक बढ़ कर सुन्दर थे। उन्हें देख कर माता पिता के हर्ष की सीमा न रही। योग्य अवस्था होने पर सभी को धर्म कर्म और लोक सम्बन्धी शिक्षा दी गई। सभी कुमार पुरुष की कलाओं में प्रवीण हो गए और राजा श्रेणिक की नौकरी करने लगे। युवा अवस्था प्राप्त होने पर नाग रथिक ने कुलीन और गुणवती कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

एक बार राजा श्रेणिक के पास कोई तापसी (संन्यासिनी) एक चित्र लाई। यह चित्र वैशाली के राजा चेटक की सुज्येष्ठा नामक पुत्री का था। उसे देख कर श्रेणिक के मन में उससे विवाह करने की इच्छा हुई। पिता की इच्छा पूरी करने के लिए अभय कुमार वणिक का वेश बना कर वैशाली में गया। वहाँ जाकर राजमहल के समीप दुकान कर ली। उसकी दुकान पर सुज्येष्ठा की एक दासी सुगन्धित वस्तुओं को खरीदने के लिए आने लगी। अभयकुमार ने एक पट पर श्रेणिक का चित्र बना रक्खा था। जिस समय दासी दुकान पर आती वह उस चित्र की पूजा करने लगता। एक बार दासी ने पूछा—यह किस का चित्र है?

मैं यह नहीं बता सकता, अभयकुमार ने उत्तर दिया। दासी के बहुत आग्रहपूर्वक पूछने पर अभयकुमार ने कहा— यह चित्र राजा श्रेणिक का है।

दासी ने सारी बात सुज्येष्ठा से कही। सुज्येष्ठा ने दासी से कहा ऐसा प्रयत्न करो जिससे इस राजा के साथ मेरा विवाह हो जाय। दासी ने आकर यह बात अभयकुमार से कही। इस पर अभय कुमार ने एक सुरंग तैयार कराई और श्रेणिक महाराज को यह

लाया- चैत्र शुक्ला द्वादशी के दिन इस सुरंग के द्वारा आप यहाँ आजाइएगा। सुज्येष्ठा को भी इस बात की खबर कर दी कि श्रेणिक राजा द्वादशी के दिन वैशाली में आएंगे।

उसी दिन श्रेणिक आया। सुज्येष्ठा उसके साथ जाने के लिए तैयार होने लगी। इतने में उसकी छोटी बहिन चेलणा ने कहा- मैं भी तुहारे साथ चलूँगी और श्रेणिक के साथ विवाह करूँगी। दोनों बहिनें तैयार होकर सुरंग के मुँह पर आई। वहाँ आकर सुज्येष्ठा बोली- मैं अपना रत्नों का पिटारा भूल आई हूँ। मैं उसे लेने जाती हूँ। मेरे आने तक तुम यहीं ठहरना। यह कह कर वह रत्नकरण्ड लाने वापिस चली गई। इतने में श्रेणिक वहाँ आ पहुँचा। वह सुलसा के बत्तीस पुत्रों के साथ वहाँ आया था। सुरंग के द्वार पर खड़ी हुई चेलणा को सुज्येष्ठा समझ कर श्रेणिक ने उसे रथ पर बिठा लिया और शीघ्रता से राजगृही की ओर प्रस्थान कर दिया।

इतने में सुज्येष्ठा आई। सुरंग के द्वार पर किसी को न देख कर वह समझ गई कि चेलणा अकेली चली गई है। उसने चिल्लाना शुरू किया। चेड़ा महाराज को खबर पहुँची। पुत्री का हरण हुआ जान कर उन्होंने पीछा किया। सुलसा के पुत्रों ने चेड़ा राजा की सेना को मार्ग ही में रोक लिया। युद्ध शुरू हुआ। उस में सुलसा का एक पुत्र मारा गया। एक की मृत्यु से बाकी बचे हुए इकतीस पुत्रों की भी मृत्यु हो गई। श्रेणिक चेलणा को लेकर राजगृही के समीप पहुँचा। राजा ने उसे सुज्येष्ठा के नाम से बुलाया तो चेलणा ने कहा- मैं सुज्येष्ठा नहीं हूँ। मैं तो उसकी छोटी बहिन चेलणा हूँ। राजा को अपनी भूल का पता लगा। बड़े समारोह के साथ श्रेणिक और चेलणा का विवाह हो गया।

सुलसा को अपने पुत्रों की मृत्यु का समाचार सुन कर बड़ा दुःख हुआ। वह विलाप करने लगी। एक साथ बत्तीस पुत्रों की

मृत्यु उसके लिए असह्य हो गई । उस का रुदन सुन कर आस पास के लोग भी शोक करने लगे । उस समय अभयकुमार नाग रथिक के घर आया और सुलसा को सान्त्वना देने के लिए कहने लगा—सुलसे ! धर्म पर तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा है । तुम उसके मर्म को पहिचानती हो । अविवेकी पुरुष के समान विलाप करना तुम्हें शोभा नहीं देता । यह संसार इन्द्रजाल के समान है । इन्द्रधनुष के समान नश्वर है । हाथी के कानों के समान चपल है । सन्ध्या राग के समान अस्थिर है । कमलपत्र पर पड़ी हुई बूँद के समान क्षणिक है । मृगतृष्णा के समान मिथ्या है । यहाँ जो आया है वह अवश्य जायगा । नष्ट होने वाली वस्तु के लिए शोक करना वृथा है । अभयकुमार के इस प्रकार के वचनों को सुन कर सुलसा और नाग रथिक का शोक कुछ कम हो गया । संसार की विचित्रता को समझ कर उन्होंने दुःख करना छोड़ दिया ।

कुछ दिनों बाद भगवान् महावीर चम्पा नगरी में पधारे । नगरी के बाहर देवों ने समवसरण की रचना की । भगवान् ने धर्मोपदेश दिया । देशना के अन्त में अम्बड़ नाम का विद्याधारी श्रावक खड़ा हुआ । विद्या के बल से वह कई प्रकार के रूप पलट सकता था । वह राजगृही का रहने वाला था । उसने कहा—प्रभो ! आपके उपदेश से मेरा जन्म सफल होगया । अब मैं राजगृही जा रहा हूँ ।

भगवान् ने फरमाया—राजगृही में सुलसा नाम वाली श्राविका है । वह धर्म में परम दृढ़ है ।

अम्बड़ ने मन में सोचा—सुलसा श्राविका बड़ी पुण्यशालिनी है, जिसके लिए भगवान् स्वयं इस प्रकार कह रहे हैं । उसमें ऐसा कौन सा गुण है जिससे भगवान् ने उसे धर्म में दृढ़ बताया । मैं उसके सम्यक्त्व की परीक्षा करूँगा । यह सोच कर उसने परिव्राजक (संन्यासी) का रूप बनाया और सुलसा के घर आकर कहा— आयुष्मति !

मुझे भोजन दो इससे तुम्हें धर्म होगा। सुलसा ने उत्तर दिया– जिन्हें देने से धर्म होता है, उन्हें मैं जानती हूँ।

वहाँ से लौट कर अम्बड़ ने आकाश में पद्मासन रचा और उस पर बैठ कर लोगों को आश्चर्य में डालने लगा। लोग उसे भोजन के लिए निमन्त्रित करने लगे किन्तु उसने किसी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। लोगों ने पूछा–भगवान्! ऐसा कौन भाग्यशाली है जिसके घर का भोजन ग्रहण करके आप पारणा करेंगे।

अम्बड़ ने कहा–मैं सुलसा के घर का आहार पानी ग्रहण करूँगा।

लोग सुलसा को बधाई देने आए। उन्होंने कहा–सुलसे! तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो। तुम्हारे घर भूखा संन्यासी भोजन करेगा।

सुलसा ने उत्तर दिया– मैं इसे ढोंग मानती हूँ।

लोगों ने यह बात अम्बड़ से कही। अम्बड़ ने समझ लिया– सुलसा परम सम्यग्दृष्टि है जिससे महान् अतिशय देखने पर भी वह श्रद्धा में डाँवाडोल नहीं हुई।

इसके बाद अम्बड़ श्रावक ने जैन मुनि का रूप बनाया। 'णिसीहि णिसीहि' के साथ नमुक्कार मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसने सुलसा के घर में प्रवेश किया। सुलसा ने मुनि जान कर उसका उचित सत्कार किया। अम्बड़ श्रावक ने अपना असली रूप बता कर सुलसा की बहुत प्रशंसा की। उसे भगवान् महावीर द्वारा की हुई प्रशंसा की बात कही। इसके बाद वह अपने घर चला गया।

सम्यक्त्व में दृढ़ होने के कारण सुलसा ने तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा। आगामी चौबीसी मे उसका जीव पन्द्रहवें तीर्थङ्कर के रूप में उत्पन्न होगा और उसी भव में मोक्ष जायगा।

(ठा. ९ उ. ३ सूत्र ६९१ टीका) (हरि. आव. नि. गा. १२८४)

(९) सीता

भरतक्षेत्र में मिथिला नाम की नगरी थी। वहाँ हरिवंशी राजा वासुकी का पुत्र राजा जनक राज्य करता था। उसका दूसरा नाम विदेह था। रानी का नाम विदेहा था। राजा न्याय नीतिपरायण था। प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था अतः प्रजा भी उसे बहुत मानती थी।

रानी विदेहा में राजरानी के योग्य सब ही गुण विद्यमान थे। सुख पूर्वक समय बिताती हुई रानी एक समय गर्भवती हुई। समय पूरा होने पर रानी की कुक्षि से एक युगल, अर्थात् एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुआ। इससे राजा, रानी और प्रजा को बहुत ही प्रसन्नता हुई।

इसी समय सौधर्म देवलोक का पिंगल नाम का देव अवधि ज्ञान से अपना पूर्वभव देख रहा था। रानी विदेहा की कुक्षि से उत्पन्न होने वाले युगल सन्तान में से पुत्र रूप में उत्पन्न होने वाले जीव के साथ उसे अपने पूर्व भव के वैर का स्मरण हो आया। अपने वैर का बदला लेने के लिये वह शीघ्र ही रानी के प्रसूति गृह में आया और वहाँ से बालक को उठा कर चल दिया। वह उसे मार डालना चाहता था किन्तु बालक की सुन्दर आकृति देख कर उसे उस पर दया आ गई। इससे उसे वैताढ्य पर्वत पर ले जाकर एक वन में सुनसान जगह पर रख दिया। इस प्रकार अपने वैर का बदला चुका हुआ मान कर वह वापिस अपने स्थान पर लौट आया।

वैताढ्य पर्वत पर रथनूपुर नाम का नगर था। वहाँ पर चन्द्रगति नाम का विद्याधर राज्य करता था। वनक्रीड़ा करता हुआ वह उधर निकल आया। एक सुन्दर बालक को पृथ्वी पर पड़ा हुआ

देख कर उसे आश्चर्य और प्रसन्नता दोनों हुए। उसने तत्काल बालक को उठा लिया और अपने महल की ओर रवाना हुआ। घर आकर उसने वह बालक रानी को दे दिया। उसके कोई सन्तान नहीं थी इस लिए ऐसे सुन्दर बालक को प्राप्त कर उसे बहुत खुशी हुई। बालक की प्राप्ति के विषय में राजा और रानी के सिवाय किसी को कुछ भी मालूम न था इस लिये उन दोनों ने विचार किया कि इसे अपना निजी पुत्र होना जाहिर करके धूमधाम से इसका जन्मोत्सव मनाना चाहिए। ऐसा विचार कर राजा ने अपने परिजनों में तथा शहर में यह घोषणा करा दी कि रानी सगर्भा थी किन्तु कई कारणों से यह बात अब तक गुप्त रखी गई थी। आज रानी की कुक्षि से एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। इस घोषणा को सुन कर प्रजा में आनन्द छा गया। विविध प्रकार से खुशियाँ मनाई जाने लगीं। पुत्र जन्मोत्सव मना कर राजा ने पुत्र का नाम भामण्डल रखा। सुखपूर्वक लालन पालन होने से वह द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। क्रमशः बढ़ता हुआ बालक यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। अब राजा चन्द्रगति को उसके अनुरूप योग्य कन्या खोजने की चिन्ता हुई।

अपने यहाँ पुत्र तथा पुत्री के उत्पन्न होने की शुभ सूचना एक दासी द्वारा प्राप्त करके राजा जनक खुश हो ही रहे थे इतने ही में पुत्र-हरण की दुःखद घटना घटी। दूसरी दासी द्वारा इस खबर को सुन कर राजा की खुशी चिन्ता में परिणत हो गई। उनके हृदय को भारी चोट पहुँची जिससे वे मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। प्रजा में भी अत्यन्त शोक छा गया। शीतल उपचार करने पर राजा की मूर्च्छा दूर हुई। पुत्री को ही पुत्र मान कर उन्होंने संतोष किया। जन्मोत्सव मना कर पुत्री का नाम सीता रक्खा। पाँच धायों द्वारा लालन पालन की जाती हुई सीता सुरक्षित बेल की तरह बढ़ने लगी।

योग्य वय होने पर स्त्री की चौसठ कलाओं में वह प्रवीण हो गई। अब राजा विदेह को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई। वर में नीचे लिखी बातें अवश्य देखनी चाहियें-

कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणा सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या ॥

अर्थात्- कुल, शील (स्वभाव और आचरण) सनाथता, (माता पिता एवं भाई आदि परिवार), विद्या, धन, शरीर (स्वास्थ्य आदि) वय (उम्र) ये सात बातें वर में अच्छी देख कर ही कन्या देनी चाहिए। इसके बाद वह तो अपने भाग्याधीन है।

वैताढ्य पर्वत के दक्षिण में अद्धबर्बर नाम का एक देश था। वहाँ अन्तरंग नाम का एक म्लेच्छराजा राज्य करता था। उसके बहुत से पुत्र थे। एक समय वे बड़ी भारी सेना लेकर मिथिला पर चढ़ आए और नाना प्रकार से उपद्रव करने लगे। राजा विदेह की सेना थोड़ी होने के कारण वह उनके उपद्रव रोकने में असमर्थ थी। उसकी सेना बारबार परास्त होती थी। यह देख कर राजा विदेह बहुत घबराया। सहायता के लिए अपने मित्र राजा दशरथ के पास उसने एक दूत भेजा। दूत की बात सुन कर राजा दशरथ अपने मित्र राजा विदेह की सहायता के लिये सेनासहित मिथिला जाने को तैयार हुए। उसी समय राम और लक्ष्मण आकर उनके सामने उपस्थित हुए और विनय पूर्वक अर्ज करने लगे कि हे पूज्य! आपकी वृद्धावस्था है। अतः हम लोगों को ही मिथिला जाने की आज्ञा दीजिये। पुत्रों का विशेष आग्रह देख कर राजा दशरथ ने उन्हें मिथिला की ओर विदा किया। वहाँ पहुंच कर राम और लक्ष्मण ने ऐसा पराक्रम दिखलाया कि म्लेच्छ राजा की सेना भाग गई। राजा विदेह और मिथिलावासी जनों को शान्ति मिली, वे निरुपद्रव हो गए। उनका अद्भुत पराक्रम देख

कर राजा विदेह को बहुत प्रसन्नता हुई। उनका उचित सत्कार करके उन्हें अयोध्या की ओर विदा किया।

सीता का दूसरा नाम जानकी था। वह परमसुन्दरी एवं रूपवती थी। उसके रूप लावण्य की प्रशंसा चारों ओर फैल चुकी थी। एक समय नारद मुनि उसे देखने के लिये मिथिला में आये। राजमहल में आकर वे सीधे वहाँ पहुँचे जहाँ जानकी अपनी सखियों के साथ खेल रही थी। नारद मुनि के विचित्र रूप को देख कर जानकी डर कर भागने लगी, दासियों ने शोर किया जिससे राजपुरुष वहाँ पहुँचे और नारद मुनि को पकड़ कर अपमान पूर्वक महल से बाहर निकाल दिया। नारद मुनि को बड़ा क्रोध आया। वे इस अपमान का बदला लेने का उपाय सोचने लगे। सीता का एक चित्र बना कर वे वैताढ्य गिरि पर विद्याधरकुमार भामण्डल के पास पहुँचे। भामण्डल को वह चित्रपट दिखला कर सीता को हर लाने के लिये नारदमुनि उसे उत्साहित कर वहाँ से चले गये। चित्रपट देख कर भामण्डल सीता पर मुग्ध होगया। उसकी प्राप्ति के लिये वह रात दिन चिन्तित रहने लगा। राजपुत्र की चिन्ता और उदासीनता का कारण मालूम करके चन्द्रगति ने एक दूत जनक के पास भेजा और अपने पुत्र भामण्डल के लिये सीता की मांगणी की। दूत की बात सुन कर राजा जनक ने उत्तर दिया कि– मैंने अपनी प्यारी पुत्री सीता का स्वयंवर द्वारा विवाह करने का निश्चय किया है। स्वयंवर में सब राजाओं को निमन्त्रण दिया जायगा। मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार देवाधिष्ठित वज्रावर्त नाम का धनुष वहाँ रखा जायगा। जो धनुष पर बाण चढ़ाने में समर्थ होगा उसी के साथ सीता का पाणिग्रहण होगा। दूत ने वैताढ्य गिरि पर आकर सारी बात चन्द्रगति को कह सुनाई। राजा ने भामण्डल को आश्वासन [illegible] और सीता के स्वयंवर की प्रतीक्षा करने लगा।

दूत के लौट जाने पर राजा जनक ने बहुत कुशल कारीगरों को बुला कर सुन्दर स्वयंवर मण्डप बनाने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् राजा ने विविध देशों के राजाओं के पास स्वयंवर का निमन्त्रण भेजा। निश्चित तिथि पर अनेक राजा और राजकुमार स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए। राजा दशरथ राम, लक्ष्मण आदि अपने पुत्रों के साथ और विद्याधर चन्द्रगति अपने पुत्र भामण्डल के साथ वहाँ आये। सभी राजाओं के यथायोग्य आसन पर बैठ जाने के पश्चात् राजा जनक ने धनुष की ओर संकेत करके सब राजाओं को अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई। इसी समय एक प्रतिहारी के साथ सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत सीता स्वयंवर मण्डप में आई। उस के अद्भुत रूप लावण्य को देख कर उपस्थित सभी राजा और राजकुमार उसकी प्राप्ति के लिए अपने अपने इष्टदेव का ध्यान करने लगे।

राजा जनक की प्रतिज्ञा सुन कर बैठे हुए राजकुमारों में से प्रत्येक बारी बारी से धनुष के पास आकर अपना बल अजमाने लगे किन्तु धनुष पर बाण चढ़ाना तो दूर रहा, उस धनुष को हिलाने में भी समर्थ न हुए। जो राजकुमार बड़े गर्व के साथ अकड़ कर धनुष के पास आते थे असफल होजाने पर वे लज्जा से सिर नीचा करके वापिस अपने आसन पर आ बैठते थे। राजकुमारों की यह दशा देख कर राजा जनक के हृदय में चिन्ता उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा– क्या क्षत्रियों का बल पराक्रम पूरा हो चुका है? क्या मेरी प्रतिज्ञा पूरी न होगी? क्या सीता का विवाह न हो सकेगा? उसके हृदय में इस प्रकार के संकल्प विकल्प उठ रहे थे। इतने ही में काकुत्स्थकुलदीपक दशरथनन्दन राम अपने आसन से उठे। धनुष के पास आकर अनायास ही उन्होंने धनुष को उठा कर उस पर बाण चढ़ा दिया। यह देख कर राजा जनक की प्रसन्नता की

सीमा न रही। उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। सीता ने परम हर्ष के साथ अपने भाग्य की सराहना करते हुए राम के गले में वरमाला डाल दी।

राजा जनक और राजा दशरथ पहले से मित्र थे। अब उनकी मित्रता और भी गहरी हो गई। राजा जनक ने विधिपूर्वक सीता का विवाह राम के साथ कर दिया। राजा दशरथ अपने पुत्रों और पुत्रवधू को साथ लेकर सानन्द अयोध्या लौट आए और सुख पूर्वक समय बिताने लगे।

स्वयंवर में आए हुए दूसरे राजा लोग निराश होकर अपने अपने नगर को वापिस लौटे। विद्याधरकुमार भामण्डल को अत्यधिक निराशा हुई। सीता की प्राप्ति न होने से वह रात दिन चिन्तित एवं उदास रहने लगा।

एक समय चार ज्ञान के धारक एक मुनिराज अयोध्या में पधारे। राजा दशरथ अपने परिवार सहित धर्मोपदेश सुनने के लिए गया। भामण्डल को साथ लेकर आकाशमार्ग से गमन करता हुआ चन्द्रगति भी उधर से निकला। मुनिराज को देख कर वह नीचे उतर आया। भक्तिपूर्वक वन्दना नमस्कार कर वह वहाँ बैठ गया। 'भामण्डल अब भी सीता की अभिलाषा से संतप्त हो रहा है' यह बात अपने ज्ञान द्वारा जान कर मुनिराज ने समयोचित देशना दी। प्रसंगवश चन्द्रगति और उसकी रानी पुष्पवती के तथा भामण्डल और सीता के पूर्वभव कह सुनाये। उसी में भामण्डल और सीता का इस भव में एक साथ जन्म लेना और तत्काल पूर्वभव के वैरी एक देव द्वारा भामण्डल का हरा जाना आदि सारा वृत्तान्त भी कह सुनाया। इसे सुन कर भामण्डल को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। मूर्च्छित होकर वह उसी क्षण भूमि पर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद उसकी मूर्च्छा दूर हुई। जिस तरह मुनिराज ने कहा था प्रकार उसने अपने पूर्वभव का सारा वृत्तान्त जान लिया।

सीता को अपनी बहिन समझ कर उसने उसे प्रणाम किया। जन्म से बिछुड़े हुए अपने भाई को प्राप्त कर सीता को भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई। चन्द्रगति ने दूत भेजकर राजा जनक और उनकी रानी विदेहा को भी बुलवाया और जन्मते ही जिसका हरण हो गया था वह यह भामण्डल तुम्हारा पुत्र है आदि सारा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया। यह सुन कर उन्हें परम हर्ष हुआ और भामण्डल को अपना पुत्र समझ कर छाती से लगा लिया। अपने वास्तविक माता पिता को पहिचान कर भामण्डल को भी बहुत प्रसन्नता हुई। उसने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। अपना पूर्वभव सुन कर चन्द्रगति को वैराग्य उत्पन्न होगया। भामण्डल को राजसिंहासन पर बिठा कर दीक्षा अङ्गीकार कर ली।

राजा दशरथ ने भी मुनिराज से अपने पूर्वभव के विषय में पूछा। अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर राजा दशरथ को भी वैराग्य उत्पन्न होगया। उन्होंने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य देकर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया।

राम के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी। रानी कैकयी की दासी मन्थरा से यह सहन नहीं हो सका। उसने कैकयी को उकसाया और संग्राम के समय राजा दशरथ द्वारा दिये गये दो वर मांगने के लिए प्रेरित किया। दासी की बातों में आकर कैकयी ने राजा से दो वर मांगे– मेरे पुत्र भरत को राजगद्दी मिले और राम को चौदह वर्ष का वनवास। अपने वचन का पालन करने के लिए राजा ने इसके दोनों वरदान स्वीकार किए। पिता की आज्ञा से राम वन जाने के लिए तय्यार हुए। जब यह बात सीता को मालूम हुई तो वह भी राम के साथ वन जाने को तय्यार हो गई। रानी कौशल्या के पास आकर वन जाने की अनुमति मांगने लगी। कौशल्या ने कहा– पुत्रि ! राम पिता की आज्ञा से वन जा रहा

है। वह वीर पुरुष है। उसके लिये कुछ कठिन नहीं है किन्तु तू बहुत कोमलाङ्गी है। तू सदा महलों में रही है। वन में शीत ताप आदि के तथा पैदल चलने के कष्ट को कैसे सहन कर सकेगी? सीता ने कहा—माताजी! आपका कहना ठीक है किन्तु आपका आशीर्वाद मेरी सब कठिनाइयों को दूर करेगा। जिस प्रकार रोहिणी चन्द्रमा का, बिजली मेघ का और छाया पुरुष का अनुसरण करती है उसी प्रकार पतिव्रता स्त्रियों को अपने पतिका अनुसरण करना चाहिए। पति के सुख में सुखी और दुःख में दुखी रहना उनका परम धर्म है। इस प्रकार विनय पूर्वक निवेदन कर सीता ने कौशल्या से वन जाने की आज्ञा प्राप्त कर ली।

राम की वन जाने की बात सुन कर लक्ष्मण एकदम कुपित हो गया। वह कहने लगा कि मेरे रहते हुए राम के राजगद्दी के हक को कौन छीन सकता है? पिताजी तो सरल प्रकृति के है किन्तु स्त्रियाँ स्वभावतः कुटिल हुआ करती है। अन्यथा कैकयी अपना वरदान इस समय क्यों माँगती? मैं राम को वन मे न जाने दूँगा। मैं उन्हे राजगद्दी पर बिठाऊँगा। ऐसा सोच कर लक्ष्मण राम के पास आया। राम ने समझा कर उसका क्रोध शान्त किया। वह भी राम के साथ वन जाने को तय्यार हो गया। तत्पश्चात् सीता और लक्ष्मण सहित राम वन की ओर रवाना हो गए।

एक समय एक सघन वन से एक झोपड़ी बना कर सीता, लक्ष्मण और राम ठहरे हुए थे। सीता के अद्भुत रूप लावण्य की शोभा सुन कर कामातुर बना हुआ रावण संन्यासी का वेष बना कर वहाँ आया। राम और लक्ष्मण के बाहर चले जाने पर वह झोंपड़ी के पास आया और भिक्षा माँगने लगा। भिक्षा देने के लिये जब सीता बाहर निकली तो रावण ने उसे पकड़ लिया और अपने पुष्पक विमान में बिठा कर लंका ले गया। वहाँ ले जाकर सीता को

अशोक वाटिका में रख दिया। अब कामी रावण सीता को अनेक तरह के प्रलोभन देकर उसे अपने जाल में फंसाने की चेष्टा करने लगा। हे देवि! तुम प्रसन्न होकर मुझे स्वीकार करो। मैं तुम्हारा दास बन कर रहूँगा। मैं तुम्हें अपनी पटरानी बना कर रखूँगा। तुम्हारी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करूँगा। किसी स्त्री पर बलात्कार न करने का मेरा नियम लिया हुआ है। अतः हे देवि! तू मुझे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर। सीता ने रावण के बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया। वह तो अपने मन में 'राम राम' की रट लगा रही थी। जब रावण ने देखा कि सीता पर उसके बताये गये प्रलोभनों का कुछ भी असर नहीं हो रहा है तब वह उसे अपनी तलवार का डर दिखाने लगा। सीता इससे डरने वाली न थी। उसने निर्भीक होकर जवाब दिया कि हे रावण! तू अपनी तलवार का डर किसे बता रहा है? मुझे अपना पतिव्रत धर्म प्राणों से भी प्यारा है। अपने सतीत्व की रक्षा के लिये मैं हँसते हँसते अपने प्राण न्योछावर कर सकती हूँ। जिस प्रकार जीवित सिंह की मूँछों के बाल उखाड़ना और जीवित शेषनाग के मस्तक की मणि को प्राप्त करना असम्भव है उसी प्रकार सतियों के सतीत्व का अपहरण करना भी असम्भव है।

रावण ने साम, दाम, दण्ड और भेद इन चारों नीतियों का प्रयोग सीता पर कर लिया किन्तु उसकी एक भी युक्ति सफल न हुई। सीता को अपने सतीत्व में मेरु के समान निश्चल देख कर रावण निराश हो गया। वह वापिस अपने महल को लौट गया किन्तु वह कामाग्नि में दग्ध होने लगा। अपने पति की यह दशा देख कर मन्दोदरी को बहुत दुःख हुआ। वह कहने लगी—हे स्वामिन्! सीता का हरण करके आपने बहुत अनुचित कार्य किया है। आप सरीखे उत्तम पुरुषों को यह कार्य

शोभा नहीं देता। सीता महासती है। वह मन से भी परपुरुष की इच्छा नहीं करती। सतियों को कष्ट देना ठीक नहीं है। अतः आप इस दुष्ट वासना को हृदय से निकाल दीजिए और शीघ्र ही सीता को वापिस राम के पास पहुँचा दीजिए। रावण के छोटे भाई विभीषण ने भी रावण को बहुत कुछ समझाया किन्तु रावण तो कामान्ध बना हुआ था। उसने किसी की बात पर ध्यान न दिया।

राम लक्ष्मण जब वापिस लौट कर झोंपड़ी पर आये तो उन्होंने वहाँ सीता को न देखा, इससे उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे इधर उधर सीता की खोज करने लगे किन्तु सीता का कहीं पता न लगा। सीता की खोज में घूमते हुए राम लक्ष्मण की सुग्रीव से भेंट हो गई। सीता की खोज के लिये सुग्रीव ने भी चारों दिशाओं में अपने दूत भेजे। हनुमान् द्वारा सीता की खबर पाकर राम, लक्ष्मण और सुग्रीव बहुत बड़ी सेना लेकर लंका को गये। अपनी सेना को सज्जित कर रावण भी युद्ध के लिये तय्यार हुआ। दोनों तरफ की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। कई वीर योद्धा मारे गये। अन्त में वासुदेव लक्ष्मण द्वारा प्रतिवासुदेव रावण मारा गया। राम की विजय हुई। सीता को लेकर राम और लक्ष्मण अयोध्या को लौटे। माता कौशल्या, सुमित्रा और कैकयी को तथा भरत को और सभी नगर निवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। सभी ने मिल कर राम का राज्याभिषेक किया। न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए राजा राम सुखपूर्वक दिन बिताने लगे।

एक समय रात्रि के अन्तिम भाग में सीता ने एक शुभ स्वप्न देखा। उसने अपना स्वप्न राम से कहा। स्वप्न सुन कर राम ने कहा— देवि! तुम्हारी कुक्षि से किसी वीरपुत्र का जन्म होगा। सीता यतना पूर्वक अपने गर्भ का पालन करने लगी।

सीता के सिवाय राम के प्रभावती, रतिनिभा और श्रीदामा

राम की तीन रानियाँ और थीं। सीता को सगर्भा जान कर उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे उस पर कोई कलंक चढ़ाना चाहती थीं। अतः रातदिन उसका छिद्र ढूँढने लगीं। एक दिन कपटपूर्वक उन्होंने सीता से पूछा कि सखि! तुम लंका में बहुत समय तक रही थी और रावण को भी देखा था। हमें भी बताओ कि रावण का रूप कैसा था? सीता की प्रकृति सरल थी। उसने कहा– बहिनो! मैंने रावण का रूप नहीं देखा किन्तु कभी कभी मुझे डराने धमकाने के लिए वह अशोक वाटिका में आया करता था इसलिए उसके चरण मैंने देखे हैं। सौतों ने कहा– अच्छा, उसके पैर ही चित्रित करके हमें दिखाओ। उन्हें देखने की हमें बहुत इच्छा हो रही है। सरल प्रकृति वाली सीता उनके कपटभाव को न जान सकी। सरल भाव से उसने रावण के दोनों पैर चित्रित कर दिये। सौतों ने इन्हें अपने पास रख लिया। अब वे अपनी इच्छा को पूरी करने का उचित अवसर देखने लगीं। एक समय राम अकेले बैठे हुए थे। तब सब सौतें मिल कर उनके पास गईं। चित्र दिखा कर वे कहने लगीं– स्वामिन्! जिस सीता को आप पतिव्रता और सती कहते हैं उसके चरित्र पर जरा गौर कीजिए। वह अब भी रावण की ही इच्छा करती है। वह नित्यप्रति इन चरणों के दर्शन करती है। सौतों की बात सुन कर राम विचार में पड़ गए किन्तु किसी अनबन के कारण सौतों ने यह बात बनाई होगी। यह सोच कर राम ने उनकी बातों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। अपना प्रयास असफल होते देख सौतों की ईर्ष्या और भी बढ़ गई। उन्होंने अपनी दासियों द्वारा लोगों में धीरे धीरे यह बात फैलानी शुरू की। इससे लोग भी अब सीता को सकलंक समझने लगे।

एक दिन रात्रि के समय राम सादा वेष पहन कर लोगों का सुख दुःख जानने के लिए नगर में निकले। घूमते हुए वे एक धोबी के घर

के पास जा पहुँचे। धोबिन रात में देरी से आई थी। वह दरवाजा खटखटा रही थी। धोबी उसे बुरी तरह से डांट रहा था और कह रहा था कि मैं राम थोड़ा ही हूँ जिन्होंने रावण के पास रही हुई सीता को वापिस अपने घर में रख लिया। धोबी के इन शब्दों ने राम के हृदय को भेद डाला। उन्होंने सीता को त्यागने का निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन राम ने सारी हकीकत लक्ष्मण से कही। लक्ष्मण ने कहा-पूज्य भ्राता! आप यह क्या कह रहे हैं? सीता शुद्ध है। वह महासती है। उसके विषय में किसी प्रकार की भी शङ्का न करनी चाहिए। राम ने कहा– तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु लोकापवाद से रघुकुल का निर्मल यश मलिन होता है। मैं इसे सहन नहीं कर सकता।

दूसरे दिन प्रातःकाल राम ने सीता को वन के दृश्य देखने रूप दोहद को पूरा करने के बहाने से रथ में बैठा कर जंगल में भेज दिया। एक भयंकर जंगल के अन्दर ले जाकर सारथी ने सीता से सारी हकीकत कही। सुनते ही सीता मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। शीतल पवन से कुछ देर बाद उसकी मूर्च्छा दूर हुई। सीता की यह दशा देख कर सारथी बहुत दुखी हुआ किन्तु वह विवश था। सीता को वहाँ छोड़ कर वह वापिस अयोध्या लौट आया। सीता अपने मन में सोच रही थी कि मैंने ऐसा कौन सा अशुभ कार्य किया या किसी पर झूठा कलंक चढ़ाया है जिसके परिणाम स्वरूप इस जन्म में मुझ पर यह झूठा कलंक लगा है।

पुण्डरीकपुर का स्वामी राजा वज्रजंघ अपने मंत्रियों सहित उस वन में हाथी पकड़ने के लिये आया था। अपना कार्य करके वापिस लौटते हुए उसने विलाप करती हुई सीता को देखा। नजदीक जाकर उसने सीता से उसके दुःख का कारण पूछा। प्रधानमन्त्री ने राजा का परिचय देते हुए कहा– हे सुभगे! ये पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजंघ हैं। ये परनारी के सहोदर परम श्रावक हैं। तुम

अपना वृत्तान्त इनसे कहो। ये अवश्य तुम्हारा दुःख दूर करेंगे।

मन्त्री के कथन पर विश्वास करके सीता ने अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा कहने लगा— हे आर्ये! एक धर्म वाले परस्पर बन्धु होते हैं। इसलिये तुम मेरी धर्म बहिन हो। तुम मुझे अपना भाई समझ कर मेरे घर को पावन करो और धर्म ध्यान करती हुई सुख पूर्वक अपना समय बिताओ। वज्रजंघ को शुद्ध हृदय जान कर सीता ने पुण्डरीकपुर में जाना स्वीकार कर लिया। राजा वज्रजंघ सीता को पालकी में बैठा कर अपने नगर में ले आया। सीता विधिवत् अपने गर्भ का पालन करने लगी।

समय पूरा होने पर सीता ने एक पुत्र युगल को जन्म दिया। राजा वज्रजंघ ने दोनों पुत्रों का जन्मोत्सव मनाया। उनमें से एक का नाम लव और दूसरे का नाम कुश रखा। दोनों राजकुमार आनन्दपूर्वक बढ़ने लगे। योग्य वय होने पर उन दोनों को शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा दिलाई गई। यौवन अवस्था प्राप्त होने पर राजा वज्रजंघ ने दूसरी बत्तीस राजकन्याओं के और अपनी पुत्री शशिचूला का विवाह लव के साथ कर दिया। कुश के लिए राजा वज्रजंघ ने पृथ्वीपुर के राजा पृथुराज से उसकी कन्या की मांगनी की किन्तु लव, कुश के वंश को अज्ञात बता कर पृथुराज ने अपनी कन्या देने से इन्कार कर दिया। राजा वज्रजंघ ने इसे अपना अपमान समझा। राजा वज्रजंघ ने लव कुश को साथ लेकर पृथुराज के नगर पर चढ़ाई कर दी। उसकी प्रबल सेना के सामने पृथुराज की सेना न टिक सकी। पराजित होकर वह मैदान छोड़ कर भाग गई। पृथुराज भी अपने प्राण बचाने के लिए भागने लगा किन्तु लव, कुश ने उसे चारों ओर से घेर लिया। कुश ने कहा— राजन्! आप सरीखे उत्तम कुल वंश वाले हम जैसे हीन कुल वंश वालों के सामने से अपने प्राण बचा कर भागते हुए

शोभा नहीं देते। जरा मैदान में खड़े रह कर हमारा पराक्रम तो देखो जिससे हमारे कुल वंश का पता चल जाय। कुश के ये मर्मकारी वचन सुन कर पृथुराज का अभिमान चूरचूर हो गया। वह मन में सोचने लगा–इन दोनों वीरों का पराक्रम ही इनके उत्तम कुल वंश का परिचय दे रहा है। ये अवश्य ही किसी वीर क्षत्रिय की सन्तान हैं। इन्हें अपनी कन्या देने में मेरा गौरव ही है। ऐसा सोच कर पृथुराज ने राजा वज्रजंघ से सुलह करके अपनी कन्या का विवाह कुश के साथ कर दिया। इसी समय नारद मुनि वहाँ आ पहुँचे। राजा वज्रजंघ के प्रार्थना करने पर नारद मुनि ने लव और कुश के कुल वंश का परिचय दिया, जिससे पृथुराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने आप को सौभाग्यशाली मानने लगा।

इसके बाद राजा वज्रजंघ लव और कुश के साथ अनेक नगरों पर विजय करता हुआ पुण्डरीकपुर लौट आया।

सती साध्वी सीता पर कलंक चढ़ाना, गर्भवती अवस्था में निष्कारण उसे भयङ्कर वन में छोड़ देना आदि सारा वृत्तान्त नारदजी द्वारा जान कर लव और कुश राम पर अति कुपित हुए। राजा वज्रजंघ की सेना को साथ में लेकर लव और कुश ने अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। इस अचानक चढ़ाई से राम लक्ष्मण को अति विस्मय हुआ। वे सोचने लगे कि यह कौन शत्रु है और इस आकस्मिक आक्रमण का क्या कारण है? आखिर अपनी सेना को लेकर वे भी मैदान में आए। घमासान युद्ध शुरू हुआ। लव कुश के बाणप्रहार से परास्त होकर राम की सेना अपने प्राण लेकर भागने लगी। अपनी सेना की यह दशा देख कर वे विस्मय के साथ विचार में पड़ गए कि हमारी सेना ने आज तक अनेक युद्ध किये। सर्वत्र विजय हुई किन्तु ऐसी दशा कभी नहीं हुई। क्या उपार्जन की हुई कीर्ति पर आज धब्बा लग जायगा? कुछ भी हो

हमें धीरता पूर्वक शत्रु का मुकाबिला करना ही चाहिए। ऐसा सोच कर लक्ष्मण धनुष बाण लेकर आगे बढ़ा। उसके छोड़े हुए बाणों को लव और कुश बीच में ही काट देते थे। शत्रु पर फेंके सब शस्त्रों को निष्फल जाते देख कर लक्ष्मण अति कुपित हुए। विजय का कोई उपाय न देख कर शत्रु का सिर काट कर लाने के लिए उन्होंने चक्र चलाया। लव कुश के पास आकर उन दोनों भाइयों की प्रदक्षिणा देकर चक्र वापिस लौट आया। अब तो राम लक्ष्मण की निराशा का ठिकाना न रहा। वे दोनों उदास होकर बैठ गए और सोचने लगे कि मालूम होता है कि ये कोई नए बलदेव और वासुदेव प्रकट हुए हैं।

उसी समय नारद मुनि वहाँ आ पहुँचे। राम लक्ष्मण को उदास बैठे देख कर वे हँस कर कहने लगे- हर्षित होने के बदले आज आप उदास होकर कैसे बैठे हैं? अपने शिष्य और पुत्र के सामने पराजित होना तो हर्ष की बात है। राम लक्ष्मण ने कहा- महाराज! हम आपकी बात का रहस्य कुछ भी नहीं समझ सके। जरा स्पष्ट करके कहिये। नारदजी ने कहा- ये लड़ने वाले दोनों वीर माता सीता के पुत्र हैं। चक्र ने भी इस बात की सूचना दी है क्योंकि यह स्वगोत्री पर नहीं चलता।

नारदजी की बात सुन कर राम लक्ष्मण के हर्ष का पारावार न रहा। वे अपने वीर पुत्रों से भेंट करने के लिए आतुरता पूर्वक उनकी तरफ चले। लव कुश के पास आकर नारदजी ने सारा वृत्तान्त कहा। उन्होंने अपने अस्त्र शस्त्र नीचे डाल दिये और आगे बढ़ कर सामने आते हुए राम लक्ष्मण के चरणों में सिर नमाया। उन्होंने भी प्रेमालिङ्गन कर आशीर्वाद दिया। अपने वीर पुत्रों को देख कर उन्हें अति हर्ष हुआ। इसके बाद राम ने सीता को लाने की आज्ञा दी। सीता के पास जाकर

लक्ष्मण ने चरणों में नमस्कार किया और अयोध्या में चल कर उसे पावन करने की प्रार्थना की। सीता ने कहा– वत्स! अयोध्या चलने में मुझे कोई एतराज नहीं है किन्तु जिस लोकापवाद से डर कर राम ने मेरा त्याग किया था वह तो ज्यों का त्यों बना रहेगा। इसलिए मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि अपने सतीत्व की परीक्षा देकर ही मैं अयोध्या में प्रवेश करूँगी।

राम के पास आकर लक्ष्मण ने सीता की प्रतिज्ञा कह सुनाई। सती सीता को निष्कारण वन में छोड़ देने के कारण होने वाले पश्चात्ताप से राम पहले से ही खिन्न हो रहे थे। सीता की कठिन प्रतिज्ञा को सुन कर वे और भी अधिक खिन्न हुए। राम के पास अन्य कोई उपाय न था, वे विवश थे। उन्होंने एक अग्नि का कुण्ड बनवाया। इस दृश्य को देखने के लिए अनेक सुर नर वहाँ इकट्ठे हुए और उत्सुकता पूर्ण नेत्रों से सीता की ओर देखने लगे। अग्नि अपना प्रचण्ड रूप धारण कर चुकी थी। उसकी ओर आँख उठा कर देखना भी लोगों के लिए कठिन हो गया। उस समय सीता अग्निकुण्ड के पास आकर खड़ी हो गई और उपस्थित देव और मनुष्यों के सामने अग्नि से कहने लगी–

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमध्ये,
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं पापकं पावक! त्वं,
सुकृत निकृतकानां त्वं हि सर्वत्र साक्षी॥

अर्थात्– मन, वचन या काया से, जागते समय या स्वप्न में, यदि रामचन्द्रजी को छोड़ कर किसी दूसरे पुरुष में मेरा पतिभाव हुआ हो तो हे अग्नि! तुम इस पापी शरीर को जला डालो। सदाचार और दुराचार के लिए इस समय तुम्हीं साक्षी हो।

ऐसा कह कर सीता उस अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। तत्काल अग्नि

कूद कर वह कुण्ड जल से भर गया। शीलरक्षक देवों ने जल में कमल पर सिंहासन बना दिया और सती सीता उस पर बैठी हुई दिखने लगी। यह दृश्य देख कर लोगों के हर्ष का ठिकाना न रहा। सती के जयनाद से आकाश गूँज उठा। देवताओं ने सती पर पुष्पवृष्टि की।

राम उपस्थित जनसमाज के सामने पश्चात्ताप करने लगे- मैंने सती साध्वी पत्नी को इतना कष्ट दिया। सत्यासत्य का निर्णय किए बिना चपल लोकापवाद से डर कर भयङ्कर वन में छोड़ कर मैंने उसे प्राणान्त कष्ट दिया। यह मेरा अविचारपूर्ण कार्य था। सती को कष्ट में डाल कर मैंने भारी पाप उपार्जन किया है। मैं इस पाप से कैसे छूटूँगा। इस प्रकार पश्चात्ताप में पड़े हुए अपने पति को देख कर सीता कहने लगी- नाथ! आपका पश्चात्ताप करना व्यर्थ है। सोने को अग्नि में तपाने से उसकी कीमत बढ़ती है घटती नहीं। इसी प्रकार आपने मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई है। यदि यह सारा प्रपंच न बना होता तो शील का माहात्म्य कैसे प्रकट होता? इस लिए आपको पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार पति पत्नी के संवाद को सुन कर सब लोग कहने लगे कि-सर्वत्र सत्य की जय होती है। सती सीता सत्य पर अटल थी। अनेक विपत्तियाँ आने पर भी वह शील में दृढ़ रही। इसी लिए आज उसकी सर्वत्र जय हो रही है।

उस समय चार ज्ञान के धारक एक मुनिराज वहाँ पधारे। सब लोगों ने विनयपूर्वक वन्दना की और धर्मोपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। विशाल जन समूह को मुनिराज ने धर्मोपदेश फरमाया। कितने ही सुलभबोधि जीवों ने वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा अङ्गीकार की। सीता ने मुनिराज से पूछा- हे भगवन्! पूर्व जन्म में मैंने ऐसा कौन सा कार्य किया जिससे मुझ पर

यह कलंक लगा ? कृपा करके कहिये ।

उपस्थित जनसमाज के सामने मुनिराज ने कहना शुरू किया। भव्यों ! अपनी आत्मा का हित चाहने वाले पुरुषों को झूठ वचन, दोषारोपण, निन्दा और किसी की गुप्त बात को प्रकट करना इत्यादि अवगुणों का सर्वथा त्याग करना चाहिये। किसी निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाना तो अतिनिन्दनीय कार्य है। ऐसा व्यक्ति लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में अनेक कष्ट भोगता है। जो व्यक्ति शुद्ध संयम पालने वाले मुनिराज पर झूठा कलंक लगाता है उस पर सती सीता की तरह झूठा कलंक आता है। सीता के पूर्वभव की कथा इस प्रकार है–

भरतक्षेत्र में मृणालिनी नाम की नगरी थी। उस में श्रीभूति नाम का एक प्रतिष्ठित पुरोहित रहता था। उसकी स्त्री का नाम सरस्वती था। उसके एक पुत्री थी। जिसका नाम वेगवती था।

एक दिन अपनी सखियो के साथ खेलती हुई वेगवती नगरी से कुछ दूर जंगल की ओर निकल गई। आगे जाकर उसने देखा कि एक कृशकाय तपस्वी मुनिराज काउसग्ग करके ध्यान में खड़े है। नगरी मे इसकी खबर मिलने से सैकड़ों नर नारी उनके दर्शन करने के लिए आरहे है। यह देख कर वेगवती के हृदय में मुनि पर पूर्वभव का वैर जागृत हो गया। वह दर्शनार्थ आने वाले लोगों से कहने लगी– संसार को छोड़ कर साधु का वेष पहनने वाले भी कितने कपटी और ढोंगी होते हैं। भोले प्राणियो को ठगने के लिये वे क्या क्या दम्भ रचते है। पवित्र कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की सेवा को छोड़ कर लोग भी ऐसे पाखण्डियों की ही सेवा करते है। मैंने अभी देखा था कि यह साधु एकान्त में एक स्त्री के साथ क्रीड़ा कर रहा था। इससे ध्यानस्थ मुनि का चित्त संतप्त हो उठा। वे विचारने लगे कि मैं निर्दोष हूँ इस लिए मुझे तो किसी प्रकार

का दुःख नहीं है किन्तु इससे जैन शासन कलङ्कित होता है। इसलिए मेरे सिर से जब यह कलंक उतरेगा तभी मैं काउस्सग्ग पार कर अन्न जल ग्रहण करूँगा। ऐसी कठोर प्रतिज्ञा करके मुनि ध्यान में विशेष दृढ़ बन गए।

शासनदेवी का आसन कंपित हुआ। उसने अवधिज्ञान द्वारा मुनि के भावों को जान लिया। वह तत्काल वहाँ आई और उस स्त्री के उदर में शूल रोग उत्पन्न कर दिया जिससे उसे असह्य कष्ट होने लगा। वह उपस्थित जनसमुदाय के सामने मुनि को लक्ष्य करके उच्च स्वर से कहने लगी—भगवन्! आप सर्वथा निर्दोष हैं। मैंने आपके ऊपर मिथ्या दोष लगाया है। हे क्षमानिधे! आप मेरे अपराध को क्षमा करें। अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर मुनि ने काउस्सग्ग पार लिया। जनता के आग्रह से मुनि ने धर्मोपदेश फरमाया। वेगवती [illegible] थी। उपदेश से उसका हृदय परिवर्तित हो गया। उसे धर्म पर पूर्ण श्रद्धा हो गई। उसी समय उसने श्राविका के व्रत अङ्गीकार कर लिए। कुछ समय पश्चात् इसे संसार से वैराग्य हो गया। दीक्षा अङ्गीकार कर शुद्ध संयम का पालन करने लगी। कई वर्षों तक संयम का पालन कर वह पाँचवें देवलोक में उत्पन्न हुई। वहाँ से चव कर मिथिला के राजा जनक के घर पुत्री रूप से उत्पन्न हुई। पूर्वभव में इसने मुनि पर झूठा कलङ्क लगाया था इसलिए इस भव में इस पर भी यह झूठा कलंक आया था।

अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर सीता को संसार से विरक्ति हो गई। उसी समय राम की आज्ञा लेकर उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कई वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन करती रही। अन्त में अन्तिम समय नजदीक आया जान कर उसने विधिपूर्वक संलेखना संथारा किया और मर कर बारहवें देवलोक में इन्द्र का पद प्राप्त किया। वहाँ से चव कर [illegible] मोक्ष प्राप्त करेगी।

(१०) सुभद्रा

प्राचीन समय में वसन्तपुर नाम का एक रमणीय नगर था। वहाँ जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके मन्त्री का नाम जिनदास था। वह जैन धर्मानुयायी बारह व्रतधारी श्रावक था। उसकी पत्नी का नाम तत्त्वमालिनी था। अपने पति के समान वह पूर्ण धर्मानुरागिणी और श्राविका थी। उसकी कुक्षि से एक महारूपवती कन्या का जन्म हुआ। इससे माता और पिता दोनों को बहुत प्रसन्नता हुई। जन्मोत्सव मना कर उन्होंने उसका नाम सुभद्रा रक्खा।

माता पिता के विचार, व्यवहार और रहन-सहन का सन्तान पर बहुत असर पड़ता है। सुभद्रा पर भी माता पिता के धार्मिक संस्कारों का गहरा असर पड़ा। बचपन से ही धर्म की ओर उसकी विशेष रुचि थी और धर्मक्रियाओं पर विशेष प्रेम था। माता पिता की देखादेख वह भी धार्मिक क्रियाएं करने लगी। थोड़े ही समय में सुभद्रा ने सामायिक, प्रतिक्रमण, नव तत्त्व, पच्चीस क्रिया आदि का बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

योग्य वय होने पर जिनदास को सुभद्रा के योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई। सेठ ने विचार किया कि मेरी पुत्री की धर्म के प्रति विशेष रुचि है इस लिए किसी जैन धर्मानुयायी वर के साथ विवाह करने से ही इसका दाम्पत्य जीवन सुखमय हो सकता है। यह सोच कर जिनदास ऐसे ही वर की खोज में रहने लगा।

वसन्तपुर व्यापार का केन्द्र था। अनेक नगरों से आकर व्यापारी वहाँ व्यापार किया करते थे। एक समय चम्पानिवासी बुद्धदास नाम का व्यापारी वहाँ आया। वह बौद्ध मतावलम्बी था। एक दिन व्याख्यान सुन कर वापिस आती हुई सुभद्रा को उसने देखा। उसने उसके विषय में पूछताछ की। किसी ने उसे बताया कि

यह जिनदास श्रावक की पुत्री है, अभी कुमारी है। किसी जैन धर्मप्रेमी के साथ ही विवाह करने का इसके पिता का निश्चय है।

बुद्धदास के हृदय में उस कन्या को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो गई। वह मन में विचारने लगा कि मुझ में और तो सारे गुण विद्यमान हैं सिर्फ इतनी कमी है कि मैं जैनी नहीं हूँ। इसे प्राप्त करने के लिये मैं जैनी भी बन जाऊँगा। ऐसा दृढ़ निश्चय करके बुद्धदास कपट जैन साधुओं के पास जाने लगा। दिखावटी विनय भक्ति करके वह उनके पास ज्ञान सीखने लगा। मुनिवन्दन, व्याख्यानश्रवण, ध्यान, पच्चक्खाण, सामायिक पौषध आदि धार्मिक क्रियाएं करने लगा।

अब बुद्धदास पक्का धार्मिक समझा जाने लगा। सभी लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। धीरे धीरे जिनदास श्रावक को भी ये सारी बातें मालूम हुईं। एक दिन जिनदास ने उसे अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। बुद्धदास तो इस अवसर की प्रतीक्षा में था ही। उसे बहुत हर्ष हुआ। प्रातःकाल उठ कर उसने नित्य नियम किया। मुनिवन्दन करके उसने पोरिसी का पच्चक्खाण कर लिया। पोरिसी आने पर वह जिनदास श्रावक के घर आया। थाली परोसते समय उसने कहा- मुझे अमुक विगय और इतने द्रव्यों के सिवाय आज त्याग है इसलिए इसका ध्यान रखियेगा।

बुद्धदास की इन बातों से जिनदास को यह विश्वास होगया कि धर्म पर इसकी पूर्ण श्रद्धा है और यह धर्म के मर्म को अच्छी तरह जानता है। यह सुभद्रा के योग्य वर है ऐसा सोच कर जिनदास ने बुद्धदास के सामने अपने विचार प्रकट किए। पहले तो बुद्धदास ने ऊपरी ढोंग बता कर कुछ आनाकानी की किन्तु बहुत अधिक कहने पर बुद्धदास ने कहा- यद्यपि इस समय मेरा विवाह विचार करने का नहीं था तथापि आप सरीखे बड़े आद-

मियों के वचनों का मैं उल्लंघन नहीं कर सकता। मैं तो आप सरीखे बड़े श्रावकों की आज्ञा का पालन करने वाला हूँ।

बुद्धदास का नम्रता से भरा उत्तर सुन कर जिनदास का हृदय प्रेम से भर गया। शुभ मुहूर्त में उसने सुभद्रा का विवाह उसके साथ कर दिया। कुछ समय तक बुद्धदास वहीं पर रहा। बाद में उनकी आज्ञा लेकर वह अपने घर चम्पापुरी में लौट आया। वहाँ आने पर सुभद्रा को मालूम हुआ कि स्वयं बुद्धदास और उसका सारा कुटुम्ब बौद्धधर्मी है। बुद्धदास ने मेरे पिता को धोखा दिया है। सुभद्रा विचारने लगी कि अब क्या हो सकता है। जो कुछ हुआ सो हुआ। मैं अपना धर्म कभी नहीं छोड़ूँगी। धर्म अंतरात्मा की वस्तु है। वह मुझे प्राणों से भी प्यारा है। प्राणान्त कष्ट आने पर भी मैं धर्म पर दृढ़ रहूँगी। ऐसा निश्चय कर सुभद्रा पूर्व की भाँति अपना नित्यनियम आदि धार्मिक क्रियाएं करती रही।

उसके इन कार्यों को देख कर उसकी सासू बहुत क्रोधित हुई। वह उससे कहने लगी—मेरे घर में रह कर तेरा यह ढोंग नहीं चल सकता। तू इन सब को छोड़ दे, अन्यथा तुझे कड़ा दण्ड भोगना पड़ेगा।

जब उसकी सासू ने देखा कि इन बातों का उस पर कुछ भी असर न पड़ा तब उसने उस पर किसी प्रकार का लाञ्छन लगा कर उसे अपने मार्ग पर लाने का निश्चय किया।

एक दिन एक जिनकल्पी मुनिराज उधर आ निकले। भिक्षा के लिए उन्होंने सुभद्रा के घर में प्रवेश किया। भक्तिपूर्वक वन्दना कर सुभद्रा ने उन्हें आहार बहराया। 'फूस के गिर जाने से मुनिराज की आँख में से पानी गिर रहा है' यह देख कर सुभद्रा ने बड़ी सावधानी से अपनी जीभ द्वारा फूस बाहर निकाल दिया। ऐसा करते समय सुभद्रा के ललाट पर लगी हुई कुंकुम की बिन्दी मुनिराज के ललाट पर लग गई। उसकी सासू ने अपनी इच्छापूर्ति के

निकाल कर दरवाजों पर छिड़के तो दरवाजे तत्काल खुल जावेंगे।'

आकाशवाणी को सुन कर राजा ने शहर में घोषणा करवाई कि 'जो सती इस काम को पूरा करेगी राज्य की ओर से उसका बड़ा भारी सन्मान किया जावेगा।'

निर्धारित किये हुए कुँए पर लोगों की भारी भीड़ जमा होने लगी। सभी उत्सुकतापूर्ण नेत्रों से देखने लगे कि देखें कौन सती इस कार्य को पूरा करती है। राजसन्मान और यश प्राप्त करने की इच्छा से अनेक स्त्रियों ने कुँए से पानी निकालने का प्रयत्न किया किन्तु सब व्यर्थ रहा। कच्चे सूत से बाँध कर चलनी जब कुँए में लटकाई जाती तो सूत टूट जाने से चलनी कुंए में ही गिर पड़ती अथवा कभी किसी की चलनी जल तक पहुँच भी जाती तो वापिस खींचते समय सारा जल छिद्रों से निकल जाता। राजा की आज्ञा से रानियों ने भी जल निकालने का प्रयत्न किया किन्तु वे भी सफल न हो सकीं। अब तो राजा को बहुत निराशा हुई।

राजा की घोषणा सुन कर सुभद्रा अपनी सासू के पास आई और जल निकालने के लिये कुंए पर जाने की आज्ञा मांगी। क्रुद्ध होती हुई सासू ने कहा– बस रहने दो, तुम कितनी सती हो मैं अच्छी तरह जानती हूँ। अपने घर में ही बैठी रहो। वहाँ जाकर सब लोगों के सामने हंसी क्यों करवाती हो? सुभद्रा ने विनय पूर्वक कहा– आप मुझे आज्ञा दीजिए। आपके आशीर्वाद से मैं अवश्य सफल होऊँगी। सुभद्रा का विशेष आग्रह देख कर सासू ने अनिच्छापूर्वक आज्ञा दे दी।

सुभद्रा कुंए पर आई। कच्चे सूत से चलनी बाँध कर वह आगे बढ़ी। सब लोग टकटकी बाँध कर निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। सुभद्रा ने चलनी को कुंए में लटकाया और जल से भर कर बाहर खींच लिया।

सुभद्रा के इस आश्चर्य जनक कार्य को देख कर सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए। राजा और प्रजा में हर्ष छा गया। लोग सुभद्रा के सतीत्व की प्रशंसा करने लगे। सती सुभद्रा की जयध्वनि से आकाश गूँज उठा।

जयध्वनि के साथ सती एक दरवाजे पर आई। जल छिड़कते ही दरवाजा खुल गया। इस तरह सती ने शहर के तीन दरवाजे खोल दिए। चौथा दरवाजा अन्य किसी सती की परीक्षा के लिये छोड़ दिया।

सती सुभद्रा के सतीत्व की चारों ओर प्रशंसा फैल गई। राजा ने सती का यथोचित सम्मान किया और धूमधाम के साथ उसे घर पहुँचाया। सुभद्रा की सास ने तथा उसके सारे परिवार वालों ने भी सारी बातें सुनीं। उन्होंने भी सुभद्रा के सतीत्व की प्रशंसा की और अपने अपने अपराध के लिये उससे क्षमा माँगी। सती के प्रयत्न से बुद्धदास तथा उसके माता पिता एवं परिवार के अन्य लोगों ने जैनधर्म अङ्गीकार कर लिया।

अब सुभद्रा का सांसारिक जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा। पति, सास तथा सम्बन्धी उसका सत्कार करने लगे। उसे किसी प्रकार का अभाव नहीं रहा, किन्तु सुभद्रा सांसारिक वासनाओं में ही फँसी रहना नहीं चाहती थी। उसे संसार की अनित्यता का भी ज्ञान था इसलिए अपने सासू श्वसुर तथा पति की आज्ञा लेकर उसने दीक्षा ले ली। शुद्ध संयम का पालन करती हुई बहुत वर्षों तक विचर कर अनेक प्राणियों का कल्याण करती रहीं। अन्त में केवलज्ञान, केवलदर्शन उपार्जन कर मोक्ष पद प्राप्त

(११) शिवा

प्राचीन समय में विशाला नाम की एक विशाल और सुन्दर नगरी थी। वहाँ चेटक राजा राज्य करता था। उसके सात कन्याएं थीं। उन में से एक का नाम शिवा था। जब वह विवाह के योग्य हुई तब राजा चेटक ने उसका विवाह उज्जैन के महाराज चण्डप्रद्योतन के साथ कर दिया।

शिवा देवी जिस प्रकार शरीर से सुन्दर थी उसी प्रकार गुणों से भी वह सुन्दर थी। विवाह के बाद उज्जैन में आकर वह अपने पति के साथ सुखपूर्वक समय बिताने लगी। अपने पति के विचारों का वह वैसे ही साथ देती—जैसे छाया शरीर का साथ देती है। अवसर आने पर एक योग्य मन्त्री के समान उचित सलाह देने में भी वह न हिचकती थी। इन सब गुणों से राजा उसे बहुत मानने लगा और उसे अपनी पटरानी बना दिया।

राजा के प्रधान मन्त्री का नाम भूदेव था। इन दोनों में परस्पर इतना प्रेम था कि एक दूसरे से थोड़ी देर के लिये भी कोई अलग होना नहीं चाहता था। किसी भी बात में राजा मन्त्री पर अविश्वास नहीं करता था। यहाँ तक कि अन्तःपुर में भी राजा अपने साथ उसे निःशङ्क ले जाता था। इस कारण रानी शिवा देवी का भी उसके साथ परिचय हो गया। अपने पति की उस पर इतनी ज्यादह कृपा देख कर वह भी उसका उचित सत्कार करने लगी। मन्त्री का मन मलिन था। उसने इस सत्कार का दूसरा ही अर्थ लगाया। वह रानी को अपने जाल में फंसाने की चेष्टा करने लगा। रानी की मुख्य दासी को उसने अपनी ओर कर लिया। दासी के द्वारा अपना बुरा अभिप्राय रानी के सामने रखा।

रानी विचार करने लगी कि पुरुषों का हृदय कितना मलिन

होता है। सामान्य व्यक्ति उचित अनुचित का कुछ भी विचार नहीं करते। रानी ने दासी को ऐसा डाँटा कि वह काँपने लगी। हाथ जोड़ कर उसने अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी।

अपनी युक्ति को असफल होते देख कर मन्त्री बहुत निराश हुआ। अब उसने रानी को बलपूर्वक प्राप्त करने का निश्चय किया। इसके लिए वह कोई अवसर देखने लगा। एक दिन किसी अन्य राजा से मिलने के लिए राजा चण्डप्रद्योतन अपनी राजधानी से बाहर गया। अपने साथ चलने के लिए राजा ने भूदेव मन्त्री को भी कहा किन्तु बिमारी का बहाना करके वह यहीं रह गया। रानी शिवा देवी को प्राप्त करने का उसे यह अवसर उचित प्रतीत हुआ। घर से रवाना होकर वह राजमहल में पहुँचा और निःशंक भाव से वह अन्तःपुर में चला गया। रानी शिवा देवी के पास जाकर उसने अपनी दुष्ट भावना उसके सामने प्रकट की। उसने रानी को अनेक प्रलोभन दिये और जन्म भर उसका दास बन रहने की प्रतिज्ञा की।

रानी को अपना शील धर्म प्राणों से भी ज्यादह प्यारा था। वह पतिव्रत धर्म में दृढ़ थी। उसने निर्भर्त्सना पूर्वक मन्त्री को अन्तःपुर से निकलवा दिया। घर आने पर मन्त्री को अपने दुष्कृत्य पर बहुत पश्चात्ताप होने लगा। वह सोचने लगा कि जब राजा को मेरे पाप का पता लगेगा तो मेरी कैसी दुर्दशा होगी। इसी चिन्ता में वह बीमार पड़ गया।

बाहर से लौटते ही राजा ने मन्त्री को बुलाया। वह डर के मारे काँपने लगा। बीमारी की अधिकता बता कर उसने राजा के सामने उपस्थित होने में असमर्थता प्रकट की। राजा को मन्त्री के बिना चैन नहीं पड़ता। वह सन्ध्या के समय शिवा देवी को साथ लेकर मन्त्री के घर पहुँच गया। अब तो मन्त्री का डर और भी बढ़ गया।

मन्त्री को शय्या पर पड़ा हुआ देख कर राजा को बहुत दुःख हुआ। प्रेम की अधिकता से वह स्वयं उसकी सेवा शुश्रूषा में लग गया। पति को सेवा करते हुए देख कर रानी शिवा देवी भी उसकी सेवा में लग गई। रानी का शुद्ध और गम्भीर हृदय जान कर मन्त्री अपने नीच कार्य का पश्चात्ताप करने लगा। उसकी आंखों से आंसुओं की धारा बह चली। रानी उसके भावों को समझ गई। उसे सान्त्वना देती हुई वह कहने लगी– भाई ! पश्चात्ताप से पाप हल्का हो जाता है। एक बार भूल करके भी यदि मनुष्य अपनी भूल को समझ कर सन्मार्ग पर आ जाय तो वह भूला हुआ नहीं गिना जाता। मन्त्री ने शिवा देवी के पैरों में गिर कर क्षमा मांगी।

एक समय नगर में अग्नि का भयंकर उपद्रव हुआ। अनेक उपाय करने पर भी वह शान्त न हुआ। प्रजा में हाहाकार मच गया। तब इस प्रकार की आकाशवाणी हुई कि कोई शीलवती स्त्री अपने हाथ से चारो दिशाओ में जल छिड़के तो यह अग्नि का उपद्रव शान्त हो सकता है। आकाशवाणी को सुन कर बहुत सी स्त्रियो ने ऐसा किया किन्तु उपद्रव शान्त न हुआ। महल की छत पर चढ़ कर शिवादेवी ने चारो दिशाओं मे जल छिड़का। जल छिड़कते ही अग्नि का उपद्रव शान्त हो गया। प्रजा मे हर्ष छा गया। 'महासती शिवादेवी की जय' की ध्वनि से आकाश गूँज उठा।

एक समय ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान मे पधारे। रानी शिवा देवी सहित राजा चण्डप्रद्योतन भगवान् को वन्दना नमस्कार करने के लिए गया। भगवान् ने धर्मोपदेश फरमाया। शील का माहात्म्य बताते हुए भगवान् ने फरमाया–

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बम्भयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करन्ति तं ॥

हुए। ये पाँचों पाण्डव कहलाते थे। श्रेष्ठ गुरु के पास इन्हें उत्तम शिक्षा दिलाई गई। थोड़े ही समय में ये पाँचों शस्त्र और शास्त्र दोनों विद्याओं में प्रवीण हो गए।

एक समय पाण्डु राजा सैर करने के लिये जंगल में गये। रानी कुन्ती और माद्री दोनों साथ में थीं। वसन्तक्रीड़ा करता हुआ राजा पाण्डु आनन्द पूर्वक समय बिता रहा था। इसी समय अकस्मात् हृदय की गति बन्द हो जाने से उसकी मृत्यु हो गई। इस आकस्मिक वज्रपात से रानी कुन्ती और माद्री को बहुत शोक हुआ। जब यह खबर नगर में पहुँची तो चारों ओर कुहराम छा गया। पाण्डव शोक समुद्र में डूब गये। उन्होंने अपने पिता का यथाविधि अग्नि संस्कार किया। माता कुन्ती और माद्री को महलों में लाकर उनकी विनय भक्ति करते हुए वे अपना समय बिताने लगे। योग्य वय होने पर पाँचों पाण्डवों का विवाह कम्पिलपुर के राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के साथ हुआ। द्रौपदी धर्मपरायणा एवं पतिव्रता थी।

राजा पाण्डु के बड़े भाई का नाम धृतराष्ट्र था। वे जन्मान्ध थे। उनकी पत्नी का नाम गान्धारी था। उनके दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे। जो कौरव कहलाते थे। दुर्योधन बड़ा कुटिल था। वह पाण्डवों से ईर्ष्या रखता था। वह उनका राज्य छीनना चाहता था। उसने पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए तैयार कर लिया। पाण्डवों ने अपने राज्य को दाँव पर रख दिया। वे जुए में हार गये। कौरवों ने उनका राज्य छीन लिया। द्रौपदी सहित पाँचों पाण्डव वन में चले गये। वहाँ उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े। पुत्र वियोग से माता कुन्ती बहुत उदासीन रहने लगी।

एक समय कृष्ण वासुदेव कुन्ती देवी से मिलने के लिये आये। प्रणाम करके उन्होंने कहा– भूआजी! आनन्द मंगल तो है? कुन्ती ने उत्तर दिया– वत्स! तुम्हीं सोचो– तुम्हारे भाई पाँचों

पाण्डव वन में कष्ट सहन कर रहे हैं। राजमहलों में पली हुई द्रौपदी भी उनके साथ कष्ट सहन कर रही है। उनका वियोग मुझे दुःखी कर रहा है। ऐसी अवस्था में मेरे लिए आनन्द मंगल कैसा ? कृष्ण ने उसे सान्त्वना दी और शीघ्र ही उसके दुःख को दूर करने का आश्वासन दिया।

कृष्ण वासुदेव दुर्योधन आदि कौरवों के पास आये। कृष्ण ने पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेने के लिए उन्हें बहुतेरा समझाया किन्तु कौरव न माने। परिणामस्वरूप महाभारत युद्ध हुआ। लाखों आदमी मारे गये। पाण्डवों की विजय हुई। युधिष्ठिर हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठे। कुन्ती राजमाता और द्रौपदी राजरानी बनी। न्याय और नीतिपूर्वक राज्य करने से प्रजा महाराज युधिष्ठिर को धर्मराज कहने लगी।

युद्ध में दुर्योधन आदि सभी कौरव मारे गये थे। पुत्रों के शोक से दुःखी होकर धृतराष्ट्र और गान्धारी वन में जाकर रहने लगे। उनके शोक सन्तप्त हृदय को सान्त्वना देने तथा उनकी सेवा करने के लिये कुन्ती भी उनके पास वन में जाकर रहने लगी।

कुछ समय पश्चात् कुन्ती ने दीक्षा लेने के लिए अपने पुत्रों से अनुमति माँगी। पाण्डवों के इन्कार करने पर कुन्ती ने उन्हें समझाते हुए कहा-पुत्रो ! जो जन्म लेकर इस संसार में आया है एक न एक दिन उसे अवश्य यहाँ से जाना होगा। यहाँ सदा किसी की न बनी रही है और न सदा बनी रहेगी। कल यहाँ कौरवों का राज्य था। आज उनका नाम निशान भी नहीं है। आत्म शान्ति न राज्य से मिलती है, न धन से, न कुटुम्ब से और न वैभव से। आत्मशान्ति तो त्याग से ही मिल सकती है। मैंने राज रानी बन कर ऐश आराम देखा, तुम्हारे वन में चले जाने पर दुःख वियोग का कष्ट सहन किया। तुम्हारे वापिस आने पर हर्षित हुई।

तुम्हारे राजसिंहासन बैठने पर मैं राजमाता बनी। मैंने संसार के सारे रंग देख लिये किन्तु मुझे आत्मिक शान्ति का अनुभव न हुआ। ये सांसारिक सम्बन्ध मुझे बन्धन मालूम पड़ते है। मैं इन्हें तोड़ डालना चाहती हूँ।

माता कुन्ती के उत्कृष्ट वैराग्य को देख कर पाण्डवों ने उसे दीक्षा लेने की अनुमति दे दी। पुत्रों की अनुमति प्राप्त कर कुन्ती ने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। विविध प्रकार की कठोर तपस्या करती हुई कुन्ती आर्या विचरने लगी। थोड़े ही समय में तपस्या द्वारा सभी कर्मों का क्षय कर वह मोक्ष मे पधार गई।

(१३) दमयन्ती

विदर्भ देश में कुंडिनपुर (कुन्दनपुर) नाम का नगर था। वहाँ भीम राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम पुष्पवती था। उसकी कुक्षि से एक पुत्री का जन्म हुआ जिसका नाम दमयन्ती रक्खा गया। उसका रूप सौन्दर्य अनुपम था। उसकी बुद्धि तीव्र थी। थोड़े ही समय मे वह स्त्री की चौंसठ कलाओं मे प्रवीण होगई।

'दमयन्ती का विवाह उसकी प्रकृति, रूप, गुण आदि के अनुरूप वर के साथ हो' ऐसा सोच कर राजा भीम ने स्वयंवर द्वारा उसका विवाह करने का निश्चय किया। विविध देशों के राजाओं के पास आमन्त्रण भेजे। निश्चित तिथि पर अनेक राजा और राजकुमार स्वयंवर मण्डप मे एकत्रित हो गए। कौशलदेश (अयोध्या) का राजा निषध भी अपने पुत्र नल और कुबेर के साथ वहाँ आया।

हाथ मे माला लेकर एक सखी के साथ दमयन्ती स्वयंवर मण्डप मे आई। राजाओं का परिचय प्राप्त करती हुई दमयन्ती धीरे धीरे आगे बढ़ने लगी। राजकुमार नल के पास आकर उसने उनके बल पराक्रम आदि का परिचय प्राप्त किया। दर्पण मे पड़ने वाले

आता। कुछ शर्त रखिये। राजा नल ने अपना सारा राज्य दाव पर रख दिया। कुबेर का पासा सीधा पड़ा। वह जीत गया। शर्त के अनुसार अब राज्य का स्वामी कुबेर हो गया।

राजा नल राजपाट को छोड़ कर जंगल में जाने को तैयार हुआ। दमयन्ती भी उसके साथ वन जाने को तैयार हुई। राजा नल ने उसे बहुत समझाया और कहा– प्रिये! पैदल चलना, भूख प्यास को सहन करना, सर्दी गर्मी में समभाव रखना, जंगली जानवरों से भयभीत न होना, इस प्रकार के और भी अनेक कष्ट जंगल में सहन करने पड़ते हैं। तुम राजमहलों में पली हुई हो। इन कष्टों को सहन न कर सकोगी। इसलिये तुम्हारे लिये यही उचित है कि तुम अपने पिता के यहाँ चली जाओ।

दमयन्ती ने कहा– स्वामिन्! आप क्या कह रहे हैं? क्या छाया शरीर से दूर रह सकती है? मैं आपसे अलग नहीं रह सकती। जहाँ आप है वहीं मैं हूँ। मैं आपके साथ वन में चलूँगी।

दमयन्ती का विशेष आग्रह देख कर नल ने उसे अपने साथ चलने के लिए कह दिया। नल और दमयन्ती ने वन की ओर प्रस्थान किया। चलते चलते वे एक भयंकर जंगल में पहुँच गये। सन्ध्या का समय हो चुका था और वे भी थक गए थे। इसलिए रात बिताने के लिए वे एक वृक्ष के नीचे ठहर गए। रास्ते की थकावट के कारण दमयन्ती को सोते ही नींद आगई। नल अपने भाग्य पर विचार कर रहा था। उसे नींद नहीं आई। वह सोचने लगा–दमयन्ती वन के कष्टों को सहन न कर सकेगी। मोह के कारण यह मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहती है। इसलिए यही अच्छा है कि मैं इसे यहाँ सोती हुई छोड़ कर चला जाऊँ। ऐसा विचार कर नल ने दमयन्ती की साड़ी के एक किनारे पर लिखा– प्रिये! बाएं हाथ की ओर तुम्हारे पीहर कुण्डिनपुर का रास्ता है। तुम वहाँ चली

हाथी पूरे वेग से दौड़ा जा रहा था। इससे नगर में हाहाकर मच गया। हाथी को वश में करने के लिए बहुत बड़ी सम्पत्ति देने के लिए राजा ने घोषणा करवाई। राजसन्मान और सम्पत्ति को सभी लोग चाहते थे किन्तु हाथी का सामना करना साक्षात् मृत्यु थी। मरना कोई भी नहीं चाहता था।

नल हाथी को पकड़ने की कला जानता था। इसलिए वह आगे बढ़ा। एक सफेद कपड़े को बाँस पर लपेट कर हाथी के सामने खड़ा कर दिया और नल उसके पास छुप कर खड़ा हो गया। कपड़े को आदमी समझ कर उसे मारने के लिए ज्यों ही हाथी दौड़ कर उधर आया त्यों ही पास में छुपा हुआ नल हाथी का कान पकड़ कर उसकी गर्दन पर सवार हो गया। उसने हाथी के मर्मस्थान पर ऐसा मुष्टि प्रहार किया जिससे उसका मद तत्काल उतर गया। शान्त होकर वह जहाँ का तहाँ खड़ा होगया। नल ने उसे आलानस्तम्भ (हाथी के बांधने की जगह) में बाँध दिया।

राजा और प्रजा का भय दूर हुआ। सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। राजा दधिपर्ण बहुत सन्तुष्ट हुआ। वस्त्राभरण से सन्मानित करके राजा ने उस कुबड़े को अपने पास बिठाया। राजा उसका परिचय पूछने लगा। नल ने अपना वास्तविक परिचय देना ठीक नहीं समझा। उसने कहा—मैंने अयोध्या नरेस नल के यहाँ रसोइए का काम किया है। राजा नल सूर्य की कृपा से सूर्यपाक रसवती बनाना जानते थे। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने मुझे भी सिखा दिया है। तब राजा दधिपर्ण ने कहा तुम हमारे यहाँ रहो और रसोईए का काम करो। उसने राजा की बात मान ली और काम करने लगा।

राजा नल जब दमयन्ती को छोड़ कर चला गया तो कितनी ही देर तक दमयन्ती सुखपूर्वक सोती रही। रात्रि के पिछले पहर में उसने एक स्वप्न देखा— 'फलों से लदा हुआ एक आम्रवृक्ष

है। फल खाने की इच्छा से वह उस पर चढ़ी। उसी समय एक मदोन्मत्त हाथी आया और उसने आम्रवृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया। वह भूमि पर गिर पड़ी। हाथी उसकी ओर लपका और उसे अपनी सूँड में उठा कर भूमि पर पटका।

इस भयंकर स्वप्न को देख कर वह चौंक पड़ी। उठ कर उसने देखा तो राजा नल वहाँ पर नहीं था। वह उसे ढूँढने के लिए इधर उधर जंगल में घूमने लगी किन्तु कहीं पता नहीं लगा। इतने में उसकी दृष्टि अपनी साड़ी के पल्ले पर पड़ी। राजा नल के लिखे हुए अक्षरों को देखकर वह मूर्छित होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। कितनी ही देर तक वह इसी अवस्था में पड़ी रही। वन की शीतल पवन लगने पर उसकी मूर्छा दूर हुई। अपने भाग्य को कोसती हुई वह अपने देखे हुए स्वप्न पर विचार करने लगी– आम्रवृक्ष के समान मेरे पति देव हैं। आम्रफल के समान राज्यलक्ष्मी है। मदोन्मत्त हाथी के समान कुबेर है। मुझे भूमि पर पछाड़ने का मतलब मेरे लिए पतिवियोग है।

बहुत देर तक विचार करने के पश्चात् दमयन्ती ने यही निश्चय किया कि अब मुझे पति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही स्वीकार करना चाहिये। ऐसा सोच कर उसने कुण्डिनपुर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग बहुत विकट था। भयंकर जंगली जानवरों का सामना करती हुई दमयन्ती आगे बढ़ने लगी।

उन दिनों यशोभद्र मुनि ग्रामानुग्राम विहार कर धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण कर रहे थे। एक समय वे अयोध्या में पधारे। राजा कुबेर अपने कुटुम्बसहित धर्मोपदेश सुनने के लिए आया। धर्मोपदेश सुन कर कुबेर के पुत्र राजकुमार सिंहकेसरी को वैराग्य उत्पन्न होगया। पिता की आज्ञा लेकर उसने यशोभद्र मुनि के पास दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कर्मों का क्षय करने के लिये वे

हाथी पूरे वेग से दौड़ा जा रहा था। इससे नगर में हाहाकार मच गया। हाथी को वश में करने के लिए बहुत बड़ी सम्पत्ति देने के लिए राजा ने घोषणा करवाई। राजसन्मान और सम्पत्ति को सभी लोग चाहते थे किन्तु हाथी का सामना करना साक्षात् मृत्यु थी। मरना कोई भी नहीं चाहता था।

नल हाथी को पकड़ने की कला जानता था। इसलिए वह आगे बढा। एक सफेद कपड़े को बाँस पर लपेट कर हाथी के सामने खड़ा कर दिया और नल उसके पास छुप कर खड़ा हो गया। कपड़े को आदमी समझ कर उसे मारने के लिए ज्यों ही हाथी दौड़ कर उधर आया त्यों ही पास में छुपा हुआ नल हाथी का कान पकड़ कर उसकी गर्दन पर सवार हो गया। उसने हाथी के मर्मस्थान पर ऐसा मुष्टि प्रहार किया जिससे उसका मद तत्काल उतर गया। शान्त होकर वह जहाँ का तहाँ खड़ा होगया। नल ने उसे आलानस्तम्भ (हाथी के बांधने की जगह) मे बाँध दिया।

राजा और प्रजा का भय दूर हुआ। सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। राजा दधिपर्ण बहुत सन्तुष्ट हुआ। वस्त्राभरण से सन्मानित करके राजा ने उस कुबड़े को अपने पास बिठाया। राजा उसका परिचय पूछने लगा। नल ने अपना वास्तविक परिचय देना ठीक नहीं समझा। उसने कहा—मैंने अयोध्या नरेस नल के यहाँ रसोइए का काम किया है। राजा नल सूर्य की कृपा से सूर्यपाक रसवती बनाना जानते थे। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने मुझे भी सिखा दिया है। तब राजा दधिपर्ण ने कहा तुम हमारे यहाँ रहो और रसोईए का काम करो। उसने राजा की बात मान ली और काम करने लगा।

राजा नल जब दमयन्ती को छोड़ कर चला गया तो कितनी ही देर तक दमयन्ती सुखपूर्वक सोती रही। रात्रि के पिछले पहर में उसने एक स्वप्न देखा— 'फलों से लदा हुआ एक आम्रवृक्ष

हैं। फल खाने की इच्छा से वह उस पर चढ़ी। उसी समय एक मदोन्मत्त हाथी आया और उसने आम्रवृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया। वह भूमि पर गिर पड़ी। हाथी उसकी ओर लपका और उसे अपनी सूँड में उठा कर भूमि पर पटका।

इस भयकर स्वप्न को देख कर वह चौंक पड़ी। उठ कर उसने देखा तो राजा नल वहाँ पर नहीं था। वह उसे ढूँढने के लिए इधर उधर जगल में घूमने लगी किन्तु कहीं पता नहीं लगा। इतने में उसकी दृष्टि अपनी साड़ी के कोने पर पड़ी। राजा नल के लिखे हुए अक्षरों को देखकर वह मूर्च्छित होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। कितनी ही देर तक वह इसी अवस्था में पड़ी रही। वन का शीतल पवन लगने पर उसकी मूर्च्छा दूर हुई। अपने भाग्य को बारबार कोसती हुई वह अपने देखे हुए स्वप्न पर विचार करने लगी– आम्रवृक्ष के समान मेरे पति देव हैं। आम्रफल के समान राज्यलक्ष्मी है। मदोन्मत्त हाथी के समान कुबेर है। मुझे भूमि पर पछाड़ने का मतलब मेरे लिये पतिवियोग है।

बहुत देर तक विचार करने के पश्चात् दमयन्ती ने यही निश्चय किया कि अब मुझे पति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही स्वीकार करना चाहिये। ऐसा सोच कर उसने कुण्डिनपुर की ओर प्रयाण किया। मार्ग बहुत विकट था। भयकर जगली जानवरों का सामना करती हुई दमयन्ती आगे बढ़ने लगी।

उन दिनों यशोभद्र मुनि ग्रामानुग्राम विचर कर धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण कर रहे थे। एक समय वे अयोध्या में पधारे। राजा कुबेर अपने पुत्रसहित धर्मोपदेश सुनने के लिये आया। धर्मोपदेश सुन कर कुबेर के पुत्र राजकुमार सिंहकेसरी को वैराग्य उत्पन्न होगया। पिता की आज्ञा लेकर उसने यशोभद्र मुनि के पास दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कर्मों का क्षय करने के लिये वे

कठोर तपस्या करते हुए विचरने लगे। एक समय गुरु की आज्ञा लेकर सूर्य की आतापना लेने के लिये वे जंगल में गये। वहाँ जाकर निश्चल रूप से ध्यान में खड़े हो गये। परिणामों की विशुद्धता के कारण वे क्षपकश्रेणी में चढ़े और घाती कर्मों का क्षय कर उन्होंने तत्काल केवलज्ञान केवलदर्शन उपार्जन कर लिए। उनका केवल-ज्ञान महोत्सव मनाने के लिए देव आने लगे। यह दृश्य देख कर दमयन्ती भी उधर गई। वन्दना नमस्कार करके उसने अपने पूर्व-भव के विषय में पूछा। केवली भगवान् ने फरमाया-

इस जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के अन्दर ममण नाम का एक राजा था। उसकी स्त्री का नाम वीरमती था। एक समय राजा और रानी दोनों कहीं बाहर जाने के लिये तैयार हुए। इतने में सामने एक मुनि आते हुए दिखाई दिये। राजा रानी ने इसे अपशकुन समझा। अपने सिपाहियों द्वारा मुनि को पकड़वा लिया और बारह घन्टे तक उन्हें वहाँ रोक रक्खा। इसके पश्चात् राजा और रानी का क्रोध शान्त हुआ। उन्हें सद्बुद्धि आई। मुनि के पास आकर वे अपने अपराध के लिये बारबार क्षमा मांगने लगे। मुनि ने उन्हें धर्मोपदेश दिया जिससे राजा और रानी दोनों ने जैनधर्म स्वीकार किया और वे दोनों शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करते हुए समय बिताने लगे। आयुष्य पूर्ण होने पर ममण का जीव राजा नल हुआ है और रानी वीरमती का जीव तू दमयन्ती हुई है। निष्कारण मुनिराज को बारह घन्टे तक रोक रखने के कारण इस जन्म मे तुम पति पत्नी का बारह वर्षतक वियोग रहेगा।

यह फरमाने के बाद केवली भगवान् के शेष चार अघाती कर्म नष्ट हो गए और वे उसी समय मोक्ष पधार गये।

केवली भगवान् द्वारा अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर दम-यन्ती कर्मों की विचित्रता पर बारबार विचार करने लगी। अशुभ

कर्म बाँधते समय प्राणी खुश होता है किन्तु जब उनका अशुभ फल उदय में आता है तब वह महान् दुखी होता है। हँसते हँसते प्राणी जिन कर्मों को बाँधते हैं रोने पर भी उनसे छुटकारा नहीं होता। किस रूप में कर्म बँधते हैं और किस रूप में उदय में आते हैं यही कर्मों की विचित्रता है।

जंगल में आगे चलती हुई दमयन्ती को धनदेव नाम का एक सार्थपति मिला। वह अचलपुर जा रहा था। दमयन्ती भी उसके साथ हो गई। धनदेव ने उसका परिचय जानना चाहा किन्तु दमयन्ती ने अपना वास्तविक परिचय न दिया। उसने कहा कि मैं दासी हूँ। कहीं नौकरी करना चाहती हूँ। धनदेव ने विशेष छानबीन करना उचित न समझा। धीरे धीरे वे सब लोग अचलपुर पहुँचे। धनदेव का साथ (काफिला) नगर के बाहर ठहर गया।

अचलपुर में ऋतुपर्ण राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम चन्द्रयशा था। उसे मालूम पड़ा कि नगर के बाहर एक साथ ठहरा हुआ है। उसमें एक कन्या है। वह देवकन्या के समान सुन्दर है। कार्य में बहुत होशियार है। उसने सोचा यदि उसे अपनी दानशाला में रख दिया जाय तो बहुत अच्छा हो। रानी ने नौकरों को भेज कर उसे बुलाया और बातचीत करके उसे अपनी दानशाला में रख लिया।

चन्द्रयशा दमयन्ती की मौसी थी। चन्द्रयशा ने उसे नहीं पहिचाना। दमयन्ती अपनी मौसी और मौसा को भलि प्रकार पहिचानती थी किन्तु उसने अपना परिचय देना उचित न समझा। वह दानशाला में काम करने लग गई। आने जाने वाले अतिथियों को खूब दान देती हुई ईश्वरभजन में अपना समय बिताने लगी।

एक समय कुण्डिनपुर से एक ब्राह्मण अचलपुर आया। राजा रानी ने उचित सत्कार करके महाराजा भीम और रानी पुष्पवती

का कुशल समाचार पूछा। कुशल समाचार कहने के बाद ब्राह्मण ने कहा कि राजा भीम ने राजा नल और दमन्ती की खोज के लिए चारों दिशाओं में अपने दूत भेज रखे हैं किन्तु अभी उनका कहीं भी पता नहीं लगा है। सुनते हैं कि राजा नल दमयन्ती को जंगल में अकेली छोड़ कर चला गया है। इस समाचार से राजा भीम की चिन्ता और भी बढ़ गई है। नल और दमयन्ती की बहुत खोज की किन्तु उनका कहीं भी पता नहीं लगा। आखिर निराश होकर अब मैं वापिस कुण्डिनपुर लौट रहा हूँ।

भोजन करके ब्राह्मण विश्राम करने चला गया। शाम को घूमता हुआ ब्राह्मण राजा की दानशाला में पहुँचा। दान देती हुई कन्या को देख कर वह आगे बढ़ा। वह उसे परिचित सी मालूम पड़ी। नजदीक पहुँचने पर उसे पहिचानने में देर न लगी। दमयन्ती ने भी ब्राह्मण को पहिचान लिया।

ब्राह्मण ने जाकर रानी चन्द्रयशा को खबर दी। वह तत्काल दानशाला में आई और दमयन्ती से प्रेमपूर्वक मिली। न पहिचानने के कारण उसने दमयन्ती से दासी का काम लिया था इसलिए वह पश्चात्ताप करने लगी और दमयन्ती से अपने अपराध के लिए क्षमा मांगने लगी। रानी चन्द्रयशा दमयन्ती को साथ लेकर महलों मे आई। इस बात का पता जब राजा ऋतुपर्ण को लगा तो वह बहुत प्रसन्न हुआ।

इसके बाद ब्राह्मण की प्रार्थना पर राजा ऋतुपर्ण ने दमयन्ती को धूमधाम के साथ कुण्डिनपुर की ओर रवाना किया। यह खबर राजा भीम के पास पहुँची। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ सामन्तों को उसके सामने भेजा। महलों में पहुँच कर दमयन्ती ने मातापिता को प्रणाम किया। इसके पश्चात् उसने अपनी सारी दुःखकहानी कह सुनाई। किस तरह राजा नल उसे भयंकर वन में अकेली

सोती हुई छोड़ गया और किस किस तरह से उसे भयङ्कर जंगली जानवरों का सामना करना पड़ा, आदि वृत्तान्त सुन कर राजा और रानी का हृदय काँप उठा। उन्होंने दमयन्ती को सान्त्वना दी और कहा- पुत्रि ! तू अब यहाँ शान्ति से रह। नल राजा का शीघ्र पता लगाने के लिए प्रयत्न किया जायगा। दमयन्ती शान्ति पूर्वक वहाँ रहने लगी। राजा नल की खोज के लिये राजा भीम ने चारों दिशाओं में अपने आदमियों को भेजा।

एक समय सुसुमार नगर का एक व्यापारी कुण्डिनपुर आया। बातचीत के सिलसिले में उसने राजा से बतलाया कि नल राजा का एक रसोइया हमारे नगर के राजा दधिपर्ण के यहाँ रहता है। वह सूर्यपाक रसवती बनाना जानता है। पास में बैठी हुई दमयन्ती ने भी यह बात सुनी। उसे कुछ विश्वास हुआ कि वह राजा नल ही होना चाहिए। व्यापारी ने फिर कहा वह रसोइया शरीर से कुबड़ा है किन्तु बहुत गुणवान् है। पागल हुए हाथी को वश में करने की क्रिया भी वह जानता है। यह सुन कर दमयन्ती को पूर्ण विश्वास होगया कि वह राजा नल ही है किन्तु विद्या के बल से अपने रूप को उसने बदल रक्खा है, ऐसा मालूम पड़ता है।

दमयन्ती के कहने पर राजा भीम को भी विश्वास होगया किन्तु वे एक परीक्षा और करना चाहते थे। उन्होंने कहा राजा नल अश्वविद्या में विशेष निपुण हैं। यह परीक्षा और कर लेनी चाहिये। इससे पूरा निश्चय हो जायगा। फिर सन्देह का कोई कारण नहीं रहेगा। इसलिये मैंने एक उपाय सोचा है- यहाँ से एक दूत सुसुमार नगर राजा दधिपर्ण के पास भेजा जाय। उसके साथ दमयन्ती के स्वयंवर की आमन्त्रणपत्रिका भेजी जाय। दूत को स्वयंवर की निश्चित तिथि के एक दिन पहले वहाँ पहुँचना चाहिए। यदि वह कुबड़ा राजा नल होगा तब तो अश्वविद्या द्वारा वह राजा दधिपर्ण

को यहाँ एक दिन मे पहुँचा देगा। राजा भीम की यह युक्ति सब को ठीक जँची। उसी समय एक दूत को सारी बात समझा कर सुंसुमार नगर के लिये रवाना कर दिया।

चलता हुआ दूत कई दिनों में सुंसुमार नगर में पहुँचा। राजा के पास जाकर उसने आमन्त्रणपत्रिका दी। राजा बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु उसे पढ़ते हुए राजा का चेहरा उदास होगया। कुण्डिनपुर बहुत दूर था और स्वयंवर में सिर्फ एक ही दिन बाकी था। राजा सोचने लगा अब कुण्डिनपुर कैसे पहुँचा जाय। राजा की चिन्ता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। नल भी अपने मन में विचारने लगा कि आर्यकन्या दमयन्ती दुबारा स्वयंवर कैसे करेगी। चल कर मुझे भी देखना चाहिये। ऐसा सोच कर उसने कहा महाराज! आप चिन्ता क्यों करते है? यदि आपकी इच्छा कुण्डिनपुर जाने की हो तो श्रेष्ठ घोड़ो वाला एक रथ मंगाइये। मैं अश्वविद्या जानता हूँ। अतः आपको आज ही कुण्डिनपुर पहुँचा दूँगा।

कुबड़े की बात सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय रथ मंगाया। राजा उसमें बैठ गया। कुबड़ा सारथी बना। घोड़े हवा से बातें करने लगे। थोड़े ही समय में वे कुंडिनपुर पहुँच गये। राजा भीम ने उनका उचित सन्मान करके उत्तम स्थान मे ठहराया। राजा दधिपर्ण ने देखा कि शहर में स्वयंवर की कुछ भी तैयारी नही है फिर भी शान्तिपूर्वक वे अपने नियत स्थान पर ठहर गये।

अब राजा भीम और दमयन्ती को पूर्ण विश्वास होगया कि यह कुबड़ा कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है किन्तु राजा नल ही है। राजा भीम ने शाम को उसे अपने महल मे बुलाया। राजा ने उससे कहा हमने आपके गुणों की प्रशंसा सुन ली है तथा हमने स्वयं भी परीक्षा कर ली है। आप राजा नल ही है।

अब हम लोगों पर कृपा कर आप अपना असली रूप प्रकट कीजिए।

राजा भीम की बात के उत्तर में कुब्जरूपधारी नल ने कहा– राजन् ! आप क्या कह रहे हैं ! कहाँ राजा नल और कहाँ मैं ? कहाँ उनका रूप सौन्दर्य और कहाँ मैं कुबड़ा । आप भ्रम में हैं । विपत्ति के मारे राजा नल कहीं जंगलों में भटक रहे होंगे । आप वहीं खोज करवाइए ।

राजा भीम ने कहा– हस्तिविद्या, अश्वविद्या, सूर्यपाक रसवती विद्या आदि के द्वारा मुझे पूर्ण निश्चय होगया कि आप राजा नल ही हैं । राजन् ! स्वजनों को अब विशेष कष्ट में डालना उचित नहीं है । ऐसा कहते हुए राजा का हृदय भर आया ।

राजा नल भी अब ज्यादह देर के लिए अपने आप को न छिपा सके। तुरन्त रूपपरावर्तिनी विद्या द्वारा अपने असली रूप में प्रकट होगए। राजा भीम, रानी पुष्पवती और दमयन्ती के हर्ष का पारावार न रहा । शहर में इस हर्ष समाचार को फैलते देर न लगी । प्रजा में खुशी छा गई । राजा दधिपर्ण भी वहाँ आया । न पहिचानने के कारण अपने यहाँ नौकर रखने के लिए उसने राजा नल से क्षमा माँगी ।

जब यह खबर अयोध्या पहुँची तो वहाँ का राजा कुबेर तत्काल कुण्डिनपुर के लिए रवाना हुआ । जाकर अपने बड़े भाई नल के पैरों में गिरा और अपने अपराधों के लिए क्षमा मागने लगा । बड़े भाई नल को वन में भेजने के कारण उसे बहुत पश्चात्ताप हो रहा था । अयोध्या का राज्य स्वीकार करने के लिए वह नल से प्रार्थना करने लगा ।

नल और दमयन्ती को साथ लेकर कुबेर अयोध्या की ओर रवाना हुआ । नल दमयन्ती का आगमन सुन कर अयोध्या की प्रजा उनके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी ।

कुबेर ने राजगद्दी नल को सौंप दी। अब नल राजा हुआ और दमयन्ती महारानी बनी। न्याय नीतिपूर्वक राज्य करता हुआ राजा नल प्रजा का पुत्रवत् पालन करने लगा। कुछ समय पश्चात् महारानी दमयन्ती की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम पुष्कर रक्खा गया। जब राजकुमार पुष्कर युवावस्था को प्राप्त हुआ तो उसे राज्य भार सौंप कर राजा नल और दमयन्ती ने दीक्षा ले ली।

जिन कर्मों ने नल दमयन्ती को वन वन भटकाया और अनेक कष्टों मे डाला, नल और दमयन्ती ने उन्हीं कर्मों के साथ युद्ध करके उनका अन्त करने का निश्चय कर लिया।

कई वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन कर नल और दमयन्ती देवलोक में गये। वहाँ से चव कर मनुष्य भव में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। (पंच प्रतिक्रमण) (भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति-गा० ८) (त्रिषष्टि शलाका पु. च. पर्व ८ सर्ग ३)

(१४) पुष्पचूला

गङ्गा नदी के तट पर पुष्पभद्र नाम का नगर था। वहाँ पुष्पकेतु राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पुष्पवती था। उनके दो सन्तान थीं, एक पुत्र और दूसरी पुत्री। पुत्र का नाम पुष्पचूल था और पुत्री का नाम पुष्पचूला। भाई बहिन मे परस्पर बहुत स्नेह था।

पुष्पचूला में जन्म से ही धार्मिक संस्कार जमे हुए थे। सांसारिक भोगविलास उसे अच्छे न लगते थे।

विवाह के बाद उसने दीक्षा ले ली। तपस्या और धर्मध्यान के साथ साथ दूसरों की वैयावच्च में भी वह बहुत रुचि दिखाने लगी। शुद्धभाव से सेवा मे लीन रहने के कारण वह क्षपक श्रेणी में चढ़ी। उसके घातीकर्म नष्ट हो गए।

अपने उपदेशों से भव्यप्राणियों का कल्याण करती हुई महासती पुष्पचूला ने आयुष्य पूरी होने पर मोक्ष को प्राप्त किया।

(१५) प्रभावती

विशाला नगरी के स्वामी महाराजा चेटक के सात पुत्रियाँ थीं। सभी पुत्रियाँ गुणवती, शीलवती तथा धर्म में रुचि वाली थीं। उनमें से मृगावती, शिवा, प्रभावती और पद्मावती सोलह सतियों में गिनी गई हैं। इनका नाम मङ्गलमय समझ कर प्रातःकाल जपा जाता है। त्रिशला कुण्डलपुर के महाराज सिद्धार्थ की रानी थीं। उन्हीं के गर्भ से चरम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। चेलणा श्रेणिक राजा की रानी थी। उसने अपने उपदेश तथा प्रभाव से श्रेणिक को सम्यग्दृष्टि तथा भगवान् महावीर का परम भक्त बनाया। सातवीं पुत्री का नाम सुज्येष्ठा था। चेलणा की बड़ी बहिन सुज्येष्ठा ने बालब्रह्मचारिणी साध्वी होकर आत्मकल्याण किया। देश तथा धर्म के नाम को उज्ज्वल करने वाली ऐसी पुत्रियों के कारण चेड़ा महाराज जैन साहित्य में अमर रहेंगे।

प्रभावती का विवाह सिन्धुसौवीर देश के राजा उदयन के साथ हुआ था। उनकी राजधानी वीतभय नगर था। प्रभावती में जन्म से ही धर्म के दृढ़ संस्कार थे। उदयन भी धर्मपरायण राजा था। धर्म तथा न्याय से प्रजा का पालन करते हुए वे अपना जीवन सुखपूर्वक बिता रहे थे। कुछ समय पश्चात् प्रभावती के अभिजित् नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचर कर जनता का कल्याण करते हुए वीतभय नगर में पधारे। राजा तथा रानी दोनों दर्शन करने गए। भगवान् का उपदेश सुन कर प्रभावती ने दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। दीक्षा की आज्ञा देने से पहले राजा ने रानी से कहा– जिस समय तुम्हें देवलोक प्राप्त हो मुझे प्रतिबोध देने के लिए आना। प्रभावती ने उसकी

बात मान कर दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कठोर तपस्या तथा निर्दोष संयम का पालन करती हुई वह आयुष्य पूरी होने पर काल करके देवलोक में उत्पन्न हुई।

अपने दिए हुए वचन के अनुसार उसने मृत्युलोक में आकर उदयन राजा को प्रतिबोध दिया। राजा ने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कठोर तपस्या द्वारा वह राजर्षि हो गया।

यथासमय कर्मों को खपा कर दोनों मोक्ष प्राप्त करेंगे।

(१६) पद्मावती

पद्मावती वैशाली के महाराजा चेटक की पुत्री और चम्पा नरेश महाराजा दधिवाहन की रानी थी। दधिवाहन न्यायी, प्रजावत्सल और धार्मिक राजा था। रानी भी उसी के समान गुणों वाली थी। राजा और रानी दोनों मर्यादित भोगों को भोगते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

एक बार रात्रि के पिछले पहर में रानी ने एक शुभस्वप्न देखा। पूछने पर स्वप्नशास्त्रियों ने बताया कि रानी के गर्भ से किसी प्रतापी पुत्र का जन्म होगा। राजा और रानी दोनों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

रानी ने गर्भ धारण किया। कुछ दिनों बाद उसके मन में विविध प्रकार के दोहद (गर्भिणी की इच्छा) उत्पन्न होने लगे। एक बार रानी की इच्छा हुई– मैं राजा का वेश पहिनूँ। सिर पर मुकुट रक्खूँ। राजा मुझ पर छत्र धारण करे। इस प्रकार सज धज कर मेरी सवारी नगर में से निकले। इसके बाद वन में जाकर क्रीड़ा करूँ।

लज्जा के कारण रानी अपने इस दोहद को प्रकट न कर सकी, किन्तु इच्छा बहुत प्रबल थी इसलिए वह मन ही मन घुलने लगी। उसके चेहरे पर उदासी छा गई। शरीर प्रतिदिन दुर्बल होने लगा।

राजा ने रानी से दुर्बलता का कारण पूछा। रानी ने पहले

तो टालमटोल की किन्तु आग्रह पूर्वक पूछने पर उसने सकुचाते हुए अपने दोहद की बात कह दी।

गर्भ में रहे हुए बालक की इच्छा ही गर्भिणी की इच्छा हुआ करती है। उसी से बालक की रुचि और भविष्य का पता लगाया जा सकता है। पद्मावती के मन में राजा बनने की इच्छा हुई थी। यह जान कर दधिवाहन को बहुत प्रसन्नता हुई। उसे विश्वास हो गया कि पद्मावती के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक बहुत तेजस्वी और प्रभावशाली होगा।

रानी का दोहद पूरा करने के लिए उसी प्रकार सवारी निकली। रानी राजा के वेश में हाथी के सिंहासन पर बैठी थी। राजा ने उस पर छत्र धारण कर रक्खा था। नगरी की सारी जनता यह दृश्य देखने के लिए उमड़ रही थी। उसे इस बात का हर्ष था कि उनका भावी राजा बड़ा प्रतापी होने वाला है।

सवारी का हाथी धीरे धीरे नगरी को पार करके वन में आ पहुँचा। उन दिनों वसन्त ऋतु थी। लताएं और वृक्ष फूल, फल तथा कोमल पत्तों से लदे थे। पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे। फूलों की मीठी मीठी सुगन्ध आ रही थी। यह दृश्य देख कर हाथी को अपना पुराना घर याद आगया। बन्धन में पड़े रहना उसे अखरने लगा। उसका मन अपने पुराने साथियों से मिलने के लिये व्याकुल हो उठा। अंकुश की उपेक्षा करके वह भागने लगा। महावत ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु हाथी न माना। उसने महावत को नीचे गिरा दिया तथा पहले की अपेक्षा अधिक वेग से दौड़ना शुरू किया। राजा और रानी हाथी की पीठ पर रह गए।

स्वतन्त्रता सभी को प्रिय होती है। उस समय वह हाथी प्रसन्न हो रहा था। साथ में उसे भय भी था कि कहीं दुबारा बन्धन में न पड़ जाऊँ इसलिये वह घोर वन की ओर सरपट दौड़ रहा था।

वह जिधर दौड़ रहा था उसी मार्ग में कुछ दूरी पर एक वट का वृक्ष था। राजा ने उसे देख कर रानी से कहा-देखो हाथी उस वृक्ष के नीचे से निकलेगा। जब वह उसके नीचे पहुँचे तुम वृक्ष की डाल पकड़ लेना। मैं भी ऐसा ही करूँगा। ऐसा करने पर हम दोनों इस आपत्ति से बच जाएंगे।

हाथी दौड़ता हुआ वटवृक्ष के नीचे आया। राजा ने शीघ्रता से एक डाल को पकड़ लिया। गर्भवती होने के कारण रानी ऐसा न कर सकी। वह हाथी पर रह गई। राजा वृक्ष से उतर कर अपनी राजधानी में चला गया।

हाथी दौड़ता दौड़ता घने वन में पहुँचा। उसे प्यास लग आई। पानी पीने के लिए वह एक जलाशय में उतरा। उस समय हाथी का होदा एक वृक्ष की शाखा के साथ लग गया। रानी उसे पकड़ कर नीचे उतर आई। हाथी ने पानी पीकर फिर दौड़ना शुरू किया। पद्मावती नीचे बैठ गई उस समय वह अकेली और असहाय थी। कुछ समय पहले जिसकी आज्ञा प्राप्त करने के लिए हजारों व्यक्ति उत्सुक रहते थे, अब उसकी करुण पुकार को सुनने वाला कोई न था। चारों ओर से सिंह, व्याघ्र वगैरह जंगली प्राणियों के भयङ्कर शब्द सुनाई दे रहे थे। उस निर्जन वन में एक अबला के लिए अपने प्राणों को बचाना बहुत कठिन था। पद्मावती ने अपने जीवन को सन्देह में पड़ा जान कर सागारी संथारा कर लिया। अपने पापों के लिए वह आलोयणा करने लगी-

यदि मैंने इस भव या परभव में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु या वनस्पति काय के जीवों की हिंसा मन, वचन या काया से स्वयं की हो, दूसरे के द्वारा कराई हो ,या करने वाले को भला समझा हो तो मेरा वह आरम्भ सम्बन्धी पाप मिथ्या अर्थात् निष्फल होवे। मैं ऐसे कार्य को बुरा मानती हूँ तथा जिन जीवों को मेरे

कारण कष्ट हुआ है उनसे क्षमा मागती हूँ। इसी प्रकार त्रस अर्थात् बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों को मन, वचन या काया से हिंसा की हो, कराई हो या उसका अनुमोदन किया हो तो मेरा वह पाप मिथ्या होवे। मैं उसके लिए हृदय से पश्चात्ताप करती हूँ। यदि मैंने देवरानी, जेठानी, ननद, भौजाई, सासू, श्वसुर, जेठ, देवर आदि किसी भी कुटुम्बी को मर्मभेदी वचन कहा हो, उनकी गुप्त बात को प्रकट किया हो, धरोहर रक्खी हुई वस्तु को दबाया हो या और किसी प्रकार से उन्हें कष्ट पहुँचाया हो तो मेरा वह पाप मिथ्या होवे। मैं उनसे बारबार क्षमा माँगती हूँ। यदि मैंने जानते हुए या बिना जाने कभी झूठ बोला हो, चोरी की हो, स्वप्न में भी परपुरुष के लिए बुरी भावना की हो, परिग्रह का अधिक संचय किया हो, धन, धान्य, कुटुम्ब आदि पर ममत्व रक्खा हो, तो मेरा वह पाप निष्फल होवे। यदि मैंने धन पाकर गर्व किया हो, किसी की निन्दा या चुगली की हो, इधर उधर बातें बनाकर दो व्यक्तियों में झगड़ा कराया हो, किसी पर झूठा कलंक लगाया हो, धर्मकार्य में आलस्य किया हो, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये माया जाल रचा हो, किसी को धोखा दिया हो, सच्चे देव, गुरु तथा धर्म के प्रति अविश्वास किया हो, अधर्म को धर्म समझा हो, तो मेरा वह पाप मिथ्या हो। मैं उसके लिए पश्चात्ताप करती हूँ। अपने अपराध के लिए संसार के सभी जीवों से क्षमा माँगती हूँ। संसार के सभी प्राणी मेरे मित्र हैं। मेरी शत्रुता किसी से नहीं है।

इस प्रकार आलोयणा करने से पद्मावती का दुःख कुछ हल्का हो गया। उसे वहीं पर नींद आ गई।

उठने पर पद्मावती ने नगर के लिए मार्ग खोजना शुरू किया। खोजते खोजते वह एक आश्रम में पहुँच गई। आश्रम निवासियों ने उसका अतिथिसत्कार किया। स्वस्थ होने पर उन्होंने उसे नगर

बालक चण्डाल के घर बड़ा होने लगा। उसके शरीर पर प्रायः खुजली चला करती थी। इसलिये वह अपने अंगों को हाथ से खुजलाया करता था। इसी कारण से लोग उसे करकण्डू कहने लगे।

करकण्डू यद्यपि चण्डाल के घर पल रहा था फिर भी उसकी प्रत्येक चेष्टा से स्पष्ट मालूम पड़ता था कि वह भविष्य में राजा बनेगा। खेलते समय वह स्वयं राजा बनता। अपने किसी साथी को सिपाही बनाता और किसी को चोर। फिर उनका न्याय करता। अपराधी को सजा देता। इस प्रकार उसके प्रत्येक कार्य राजा के समान होते थे। बड़ा होने पर उसे श्मशान में रक्षा करने का कार्य सौंपा गया।

एक बार करकण्डू श्मशान में पहरा दे रहा था। उसी समय उधर से दो साधु निकले। आपस में बातचीत करते समय एक साधु के मुँह से निकला—

बाँस की इस झाड़ी में एक सात गाँठ वाली लकड़ी है। वह जिसे प्राप्त होगी उसे राज्य मिलेगा।

इस बात को करकण्डू तथा रास्ते चलते हुए एक ब्राह्मण ने सुना। दोनो लकड़ी लेने चले। दोनों ने उसे एक साथ छूआ। ब्राह्मण कहने लगा— इस लकड़ी पर मेरा अधिकार है और करकण्डू कहने लगा मेरा। दोनो में झगड़ा खड़ा होगया। कोई अपने अधिकार को छोड़ना नहीं चाहता था। बात बढ़ने पर न्याया-लय तक पहुँची। ब्राह्मण और करकण्डू दोनो दरबार में उपस्थित हुए। दधिवाहन राजा न्याय करने वाला था। करकण्डू को देख कर दरबार के सभी लोग चकित रह गए। चण्डाल के पुत्र मे इतना तेज और ओज देख कर वे आश्चर्य करने लगे।

करकण्डू ने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा—महाराज! मैं श्मशान का राजा हूँ। जिस प्रकार आपके राज्य में उत्पन्न हुई

सभी वस्तुओं पर आपका अधिकार है उसी प्रकार श्मशान में उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं पर मेरा अधिकार है।

करकण्डू की युक्ति और साहस भरी बात को सुन कर दधिवाहन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मुस्कराते हुए कहा-करकण्डू ! इस लकड़ी पर तुम्हारा अधिकार मानता हूँ। श्मशान की सीमा में उत्पन्न होने के कारण यह तुम्हारी है। इसके प्रभाव से जब तुम्हें राज्य प्राप्त हो जाय तो एक गाँव इस ब्राह्मण को भी दे देना।

एक बार करकण्डू उस लकड़ी को लेकर कञ्चनपुर की ओर जा रहा था। उसी समय वहाँ के राजा का देहान्त होगया। राजा के न कोई पुत्र था और न उत्तराधिकारी। मन्त्रियों को इस बात की चिन्ता हुई कि राजा किसे बनाया जाय। सबने इकट्ठे होकर निश्चय किया कि राज्य की श्रेष्ठ हस्तिनी के सूँड में हार डाल कर उसे नगर में घुमाया जाय। वह जिसके गले में हार डाल दे उसी को राजा बना देना चाहिए। निश्चय के अनुसार हथिनी घूमने लगी। उसकी सूंड में हार था। पीछे पीछे राजपुरुष चल रहे थे। हथिनी चक्कर लगाती हुई नगर के दूसरे द्वार पर पहुँची। उसी समय उस द्वार से करकण्डू ने प्रवेश किया। हथिनी ने माला उस के गले में डाल दी।

करकण्डू कंचनपुर का राजा बन गया। ब्राह्मण को इस बात का पता लगा। उसने करकण्डू के पास आकर गाँव मांगा। करकण्डू ने पूछा- तुम किसके राज्य में रहते हो ?

ब्राह्मण ने उत्तर दिया- राजा दधिवाहन के।

करकण्डू ने दधिवाहन राजा के नाम एक आज्ञापत्र लिखा कि इस ब्राह्मण को एक गाँव जागीरी में दो।

ब्राह्मण पत्र लेकर दधिवाहन के पास आया। उसे देख कर दधिवाहन कुपित हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा- जाओ ! कर-

कण्डू से कह दो कि मैं तुम्हारा राज्य छीन कर मैं ब्राह्मण को गाँव दूँगा। साथ ही उसने लड़ाई के लिए तैयारी शुरू कर दी।

ब्राह्मण ने जाकर सारी बात करकण्डू से कही। उसने भी युद्ध की तैयारी की और चम्पा पर चढ़ाई कर दी।

बाप और बेटा दोनों एक दूसरे के शत्रु बन कर रणक्षेत्र में आ डटे। दूसरे दिन सुबह ही युद्ध शुरू होने वाला था।

पद्मावती को इस बात का पता चला। एक मामूली सी बात पर पिता पुत्र के युद्ध और उसके द्वारा होने वाले नरसंहार की कल्पना से उसे बहुत दुःख हुआ।

वह करकण्डू के पास गई। सिपाहियों ने जाकर उसे खबर दी– महाराज! कोई साध्वी आप से मिलना चाहती है। करकण्डू ने कहा–उसे आने दो।

पद्मावती ने आते ही कहा–बेटा!

करकण्डू आश्चर्य में पड़ गया। उसे क्या मालूम था कि यही साध्वी उस की मां है।

पद्मावती ने फिर कहा– करकण्डू! मैं तुम्हारी मां हूँ। दधिवाहन राजा तुम्हारे पिता है। ऐसा कह कर पद्मावती ने उसे शुरू से लेकर सारा हाल सुनाया। उसे माता मान कर करकण्डू ने भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। युद्ध का विचार छोड़ कर वह पिता से मिलने चला।

पद्मावती शीघ्रता पूर्वक चम्पापुरी में गई। एक साध्वी को आते देख कर नगरी का दरवाजा खुला। पद्मावती सीधी दधिवाहन के पास पहुँची और सारा हाल कहा।

'करकण्डू मेरा पुत्र है' यह जान कर दधिवाहन को बहुत हर्ष हुआ। उसी समय उन्हीं वस्त्रों से वह करकण्डू से मिलने चला। करकण्डू भी पिता से मिलने के लिए आ रहा था। मार्ग मे ही दोनों मिल गए। करकण्डू दधिवाहन के पैरों में गिर पड़ा और अपने

अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा। दधिवाहन ने उसे अपनी छाती से लगा लिया। पिता को बिछुड़ा हुआ पुत्र मिला और पुत्र को पिता। दोनों सेनाएं जो परस्पर शत्रु बन कर आई थीं, परस्पर मित्र बन गईं। चम्पा और कंचनपुर दोनों का राज्य एक होगया। दधिवाहन करकण्डू को राजसिंहासन पर बिठा कर स्वयं धर्मध्यान में लीन रहने लगा।

तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि में लीन रहती हुई पद्मावती ने आत्म कल्याण किया।

(१) ठाणांग ९ उ ३ सूत्र ६९१ टीका (६) सती चन्दनबाला अपरनाम वसुमती
(२) ज्ञाताधर्मकथांग अ. १६ (७) राजीमती
(३) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (पर्व १ ? ७-८-१०) (८) पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान।
(४) पंचाशक १९ गा० ३१ (९) भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति गाथा ८१०
(५) हरि. आ. नियुक्ति

८७६- सतियों के लिए प्रमाणभूत शास्त्र।

निम्न लिखित शास्त्र और प्राचीन ग्रन्थों में सतियों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है-

(१) ब्राह्मी	आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १९६
(२) सुन्दरी	,, ,, गाथा ३४८, १९६
(३) चन्दनबाला	,, ,, गा० ५२० २१
(४) राजीमती	दशवैकालिकनिर्युक्ति अ० २ गा० ८
	उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २२
(५) द्रौपदी	ज्ञातासूत्र १६ वाँ अध्ययन
(६) कौशल्या	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व ७
(७) मृगावती	आवश्यकनिर्युक्ति गा० १०४८
	दशवैकालिकनिर्युक्ति अ० १ गा० ७६

(८) सुलसा आवश्यकनिर्युक्ति गा० १२८४
(९) सीता त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व ७
(१०) सुभद्रा दशवैकालिकनिर्युक्ति अ० १ गा० ७३-७४
(११) शिवा आवश्यक निर्युक्ति गा० १२८४
(१२) कुन्ती ज्ञाताधर्मकथाङ्ग १६ वाँ अध्ययन
(१३) दमयन्ती भरतेश्वर बाहु बलि वृत्ति गा. ८, त्रि. श. पुरुष चरित्र पर्व. ८ सर्ग. ३
(१४) पुष्पचूला आवश्यकनिर्युक्ति गा० १२८४
(१५) प्रभावती ,, गा० १२८४
(१६) पद्मावती आवश्यकनिर्युक्ति गा० १३११ की भाष्य गाथा २०५-२०६

सतरहवां बोल संग्रह

८७७–विनय समाधि अध्ययन की १७ गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र के नवें अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। उस में चार उद्देशे हैं। पहले उद्देशे में १७ गाथाएं हैं। दूसरे में २४। तीसरे में १५ और चौथे में ७। पहले उद्देशे की १७ गाथाओं का भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है–

(१) जो शिष्य अहङ्कार, क्रोध, छल तथा प्रमाद के कारण गुरु की सेवा में रहता हुआ भी विनयधर्म की शिक्षा नहीं लेता। अहङ्कार आदि दुर्गुण उसके ज्ञान आदि सद्गुणों को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार बाँस का फल स्वयं बाँस को नष्ट कर देता है।

(२) जो दुर्बुद्धि शिष्य अपने गुरु को मन्दबुद्धि, अल्पवयस्क और अल्पज्ञ जान कर उनकी हीलना करता है, निन्दा करता है। वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है तथा गुरु की बड़ी भारी आशातना करने वाला होता है।

(३) बहुत से मुनि वयोवृद्ध होने पर भी स्वभाव से मन्दबुद्धि होते हैं। बहुत से छोटी उमर वाले भी बुद्धिमान् तथा शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं। ज्ञान में न्यूनाधिक होने पर भी सदाचारी और सद्गुणी गुरुजनों का अपमान न करना चाहिए। उनका अपमान अग्नि के समान सभी गुणों को भस्म कर देता है।

(४) यह छोटा है, कुछ नहीं कर सकता, ऐसा समझ कर भी जो व्यक्ति साँप को छेड़ता है उसे साँप काट खाता है और बहुत

अधिक हानि पहुँचा देता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की हीलना करने वाला मन्द बुद्धि शिष्य जातिपथ अर्थात् जन्म मरणरूप संसार को बढाता है।

(५) दृष्टिविष सर्प भी बहुत क्रुद्ध होने पर प्राणनाश से अधिक कुछ नहीं कर सकता किन्तु आशातना के कारण आचार्य के अप्रसन्न हो जाने पर अबोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान का अभाव हो जाता है। फिर मोक्ष नहीं होता अर्थात् आचार्य की आशातना करने वाला कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

(६) जो अभिमानी शिष्य आचार्य की आशातना करता है। वह जलती हुई आग पर पैर रख कर जाना चाहता है, आशीविष अर्थात् भयङ्कर साँप को क्रोधित करता है अथवा जीने की इच्छा से जहर खाता है।

(७) यह सम्भव है कि पैर रखने पर आग न जलाए, क्रोधित सर्प न डसे अथवा खाया हुआ विष अपना असर न दिखाए अर्थात् खाने वाले को न मारे किन्तु गुरु की निन्दा या अपमान से कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

(८) जो अभिमानी शिष्य गुरुजनों की आशातना करता है वह कठोर पर्वत को मस्तक की टक्कर से फोड़ना चाहता है। सोए हुए सिंह को लात मार कर जगाता है तथा शक्ति (खांडा) की तेज धार पर अपने हाथ पैरों को पटक कर स्वयं घायल होता है।

(९) यह सम्भव है कि कोई सिर की टक्कर से पर्वत को तोड़ दे, क्रोधित सिंह से भी बच जावे। खांडे पर पटके हुए हाथ पैर भी न कटें किन्तु गुरु की हीलना करने वाला शिष्य कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

(१०) आशातना द्वारा आचार्य को अप्रसन्न करने वाला व्यक्ति कभी बोधि को प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिए वह मोक्ष सुख

का भागी भी नहीं हो सकता। अनाबाध मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्य पुरुष का कर्तव्य है कि वह सदा अपने धर्माचार्य को प्रसन्न रखने के लिये प्रयत्नशील रहे।

(११) जिस प्रकार अग्नि होत्री ब्राह्मण मन्त्रपूर्वक मधु, घी आदि की विविध आहुतियों से अग्नि का अभिषेक और पूजा करता है। उसी प्रकार अनन्तज्ञान सम्पन्न हो जाने पर भी शिष्य को आचार्य की नम्रभाव से उपासना करनी चाहिए।

(१२) शिष्य का कर्तव्य है कि जिस गुरु के पास आत्मा का विकाश करने वाले धर्मशास्त्र की शिक्षा ले, उसकी पूर्ण रूप से विनय भक्ति करे। हाथ जोड़ कर उसे सिर से नमस्कार करे और मन, वचन, काया से गुरु का सदा उचित सत्कार करे।

(१३) लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याण चाहने वाले साधु की आत्मा को शुद्ध करने वाले हैं। इस लिए शिष्य सदा यह भावना करे कि जो गुरु मुझे सदा हित शिक्षा देते हैं, मुझे उनका आदर सत्कार करना चाहिए।

(१४) जिस प्रकार रात्रि के अन्त में देदीप्यमान सूर्य सारे भरतखण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आचार्य अपने श्रुत अर्थात् ज्ञान, शील अर्थात् चारित्र और बुद्धि से जीवाजीवादि पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार देवों के बीच बैठा हुआ इन्द्र शोभा देता है उसी प्रकार साधुओं की सभा के बीच बैठा हुआ आचार्य शोभा देता है।

(१५) जैसे बादल रहित निर्मल आकाश में शुभ्र चाँदनी और तारामण्डल से घिरा हुआ चाँद शोभा देता है उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी अर्थात् आचार्य सुशोभित होता है।

(१६) आचार्य तीनों योगों की समाधि अर्थात् निश्चलता, श्रुतज्ञान, शील और बुद्धि से युक्त सम्यग्दर्शन आदि गुणों के

आकर (खान) होते है। मोक्षाभिलाषी को चाहिए कि वह आचार्य की निरन्तर आराधना करे। सदा उनकी सेवा मे रहे और उन्हें प्रसन्न रक्खे।

(१७) बुद्धिमान् साधु को चाहिए कि वह शिक्षाप्रद उपदेशों को सुन कर अप्रमत्तभाव से आचार्य की सेवा करे। इस प्रकार सेवा करने से सद्गुणों की प्राप्ति होती है और जीव अन्त में सिद्धि को प्राप्त करता है। (दशवैकालिक अध्ययन ९ उद्देशा १)

८७८- भगवान् महावीर की तपश्चर्या विषयक १७ गाथाएं

आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, नवम अध्ययन के चौथे उद्देशे मे भगवान् महावीर की तपश्चर्या का वर्णन है। उसमें सतरह गाथाएं है। उनका भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है।

भगवान् सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है-हे आयुष्मन् जम्बू ! भगवान् महावीर के पास से उनकी तपस्या का वर्णन मैंने जैसा सुना है वैसा तुम्हें कहता हूँ-

(१) किसी प्रकार का रोग न होने पर भी भगवान् ऊनोदरी अर्थात् परिमित आहार करते थे। रोग उत्पन्न होने पर उसके लिए औषधोपचार करना नहीं चाहते थे।

(२) सारे शरीर को अशुचि रूप समझ कर वे जुलाब, वमन, तैलाभ्यंग (मालिश), स्नान, सम्बाधन (पगचॉपी) और दातुन भी नहीं करते थे।

(३-४) इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर वे सदा अल्पभाषी होते हुए विचरते थे। शीत काल में भगवान् छाया मे बैठ कर ध्यान किया करते थे और ग्रीष्म ऋतु मे धूप में बैठ कर आतापना लेते थे। शरीर निर्वाह के लिए वे रूखे भात, मन्थु (बेर आदि का चूर्ण)

या उड़दों का आहार किया करते थे।

(५-६) लगातार आठ महीने तक भगवान् इन्हीं तीन वस्तुओं पर निर्वाह करते रहे। पन्द्रह दिन, महीना, दो महीने यहाँ तक कि छह महीने उन्होंने पानी का सेवन किए बिना बिता दिए। रूखे सूखे बचे हुए अन्न का भोजन करते हुए व किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखते हुए विचरते थे।

(७) इस प्रकार का अन्न भी वे बेले, तेले, चौले या पाँच पाँच उपवासों के बाद उपयोग में लाते थे। ऐसा करते हुए व शरीर की समाधि का ध्यान रखते थे। मन में कभी ग्लानि न आने देते थे तथा नियाणा भी न करते थे।

(८) हेय और उपादेय के स्वरूप को जानने वाले भगवान् महावीर ने स्वयं पाप नहीं किया, दूसरों से नहीं कराया और न करने वाले को भला समझा।

(९) भगवान् नगर अथवा गाँव में जाकर दूसरों के लिए किए हुए आहार की गवेषणा करते थे। इस प्रकार शुद्ध आहार लेकर उसे सावधानी से उपयोग में लाते थे।

(१०) भिक्षा लेने के लिए जाते समय भगवान् के मार्ग में कौए वगैरह भूखे पक्षी तथा दूसरे प्राणी अपना आहार करते हुए बैठे रहते थे। भगवान् उन्हें किसी प्रकार की बाधा पहुँचाए बिना निकल जाते थे।

(११-१२) यदि मार्ग में या दाता के द्वार पर ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चण्डाल, बिल्ली या कुत्ते वगैरह का आहार मिल रहा हो तो उसे देख कर भगवान् किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालते थे। मन में किसी प्रकार की अप्रीति किए बिना धीरे धीरे चले जाते थे। यहाँ तक कि भगवान् भिक्षाटन करते हुए कुन्थु वगैरह छोटे से छोटे प्राणी की भी हिंसा नहीं करते थे।

(१३) आहार भीगा हुआ हो या सूखा, ठण्डा हो या बहुत दिनों का बासी, उबाले हुए उड़दों का, पुराने अनाज का या जौ वगैरह नीरस धान्य का जो भी आहार मिल जाता वे उसे शान्तिपूर्वक काम में लाते। यदि बिल्कुल नहीं मिलता तो भी सन्तोष रखते थे।

(१४) भगवान् उत्कटुक, गोदोहनिका, वीरासन वगैरह आसनों से बैठ कर विकार रहित होते हुए धर्म ध्यान करते थे। इच्छा रहित बन कर वे आत्मा की पवित्रता के लिए ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग्लोक के स्वरूप का ध्यान में विचार करते थे।

(१५) इस प्रकार कषाय रहित होकर गृद्धि को छोड़ कर, शब्दादि विषयों में अनासक्त रहते हुए भगवान् ध्यान में लीन रहते थे। छद्मस्थ अवस्था में भी संयम में लीन रहते हुए भगवान् ने एक बार भी कषायादि रूप प्रमाद सेवन नहीं किया।

(१६-१७) अपने आप संसार की असारता को जान कर आत्मा की पवित्रता द्वारा मन, वचन और काया को अपने वश में रखते हुए भगवान् शान्त और कपट रहित होकर जीवन पर्यन्त पवित्र कार्यों में लगे रहे।

भगवान् ने इस प्रकार निरीह होकर शुद्ध संयम का पालन किया है। दूसरे साधुओं को भी इसी प्रकार करना चाहिए।

(आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध अध्ययन ६ उद्देशा ४)

८७९- मरण सतरह प्रकार का

आयुष्य पूरी होने पर आत्मा का शरीर से अलग होना अथवा शरीर से प्राणों का निकलना मरण कहलाता है। इसके १७ भेद हैं-

(१) आवीचिमरण- आयुकर्म के भोगे हुए पुद्गलों का प्रत्येक क्षण में अलग होना आवीचिमरण है।

(२) अवधिमरण- नरक आदि गतियों के कारणभूत आयु-कर्म के पुद्गलों को एक बार भोग कर छोड़ देने के बाद जीव फिर

उन्हीं पुद्गलों को भोग कर मृत्यु प्राप्त कर लो बीच की अवधि को अवधिमरण कहते हैं अर्थात् एक बार भोग कर छोड़े हुए परमाणुओं को दुबारा भोगने से पहल पहल जब तक जीव उनका भोगना शुरू नहीं करता तब तक अवधिमरण होता है।

(३) आत्यन्तिकमरण– आयुकर्म के जिन दलिकों को एक बार भोग कर छोड़ दिया है यदि उन्हें फिर न भोगना पड़े तो उन दलिकों की अपेक्षा जीव का आत्यन्तिकमरण होता है।

(४) वलन्मरण– संयम या महाव्रतों से गिरते हुए व्यक्ति की मृत्यु वलन्मरण होती है।

(५) वशार्तमरण– इन्द्रिय विषयों में फंसे हुए व्यक्ति की मृत्यु वशार्तमरण होती है।

(६) अन्तःशल्यमरण– जो व्यक्ति लज्जा या अभिमान के कारण अपने पापों की आलोयणा किए बिना ही मर जाता है। उसकी मृत्यु को अन्तःशल्यमरण कहते हैं।

(७) तद्भवमरण– तिर्यञ्च या मनुष्य भव में आयुष्य पूरी करके फिर उसी भव की आयुष्य बांध लेने पर तथा दुबारा उसी भव में उत्पन्न होकर मृत्यु प्राप्त करना तद्भवमरण है।

तद्भवमरण देव तथा नरक गति में नहीं होता, क्योंकि देव मर कर देव तथा नैरयिक मर कर नैरयिक नहीं होता।

(८) बालमरण– व्रतरहित प्राणियों की मृत्यु बालमरण है।

(९) पण्डितमरण– सर्वविरति साधुओं की मृत्यु को पण्डित मरण कहते हैं।

(१०) बालपण्डितमरण– देशविरति श्रावकों की मृत्यु को बालपण्डितमरण कहते हैं।

(११) छद्मस्थमरण– केवलज्ञान बिना प्राप्त किए छद्मस्थावस्था में मृत्यु हो जाना छद्मस्थमरण है।

(१२) केवलिमरण– केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद मृत्यु होना केवलिमरण है।

(१३) वैहायसमरण– आकाश में होनेवाली मृत्यु को वैहायस मरण कहते है। वृक्ष की शाखा आदि मे बाँध देने पर या फाँसी आदि मे मृत्यु हो जाना भी वैहायसमरण है।

(१४) गिद्धपिट्ठमरण–गिद्ध, शृगाल आदि मांसाहारी प्राणियों द्वारा खाया जाने पर होने वाला मरण गिद्धपिट्ठमरण है। यह दो प्रकार से होता है– शरीर का मांस खाने के लिए आते हुए हिंसक प्राणियों को न रोकने मे या गिद्ध आदि के द्वारा खाए जाते हुए हाथी, ऊँट आदि के कलेवर में प्रवेश करने से। अथवा अपने शरीर पर लाल रंग या मांस की तरह मालूम पड़ने वाली किसी वस्तु को लगा कर अपनी पीठ गिद्ध आदि को खिला देना और उससे मृत्यु प्राप्त करना गिद्धपिट्ठ मरण है। इस प्रकार की मृत्यु महासत्त्व शाली मनुष्य प्राप्त करते है। वे अपने शरीर को मांसाहारी प्राणियो का भक्ष्य बना देते है।

यदि यह मरण विवशता या अज्ञानपूर्वक अथवा कषाय के आवेश म हो तो वह बालमरण है। इसका स्वरूप चौथे भाग बोल नं० ७९८ मे दिया जा चुका है।

(१५) भक्त प्रत्याख्यानमरण– यावज्जीवन तीन या चारो आहारो का त्याग करने के बाद जो मृत्यु होती है उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहा जाता है। इसी को भक्तपरिज्ञा भी कहते हैं।

(१६) इङ्गिनीमरण– यावज्जीवन चारों आहारों के त्याग के बाद निश्चित स्थान मे हिलने डुलने का आगार रख कर जो मृत्यु होती है उसे इङ्गिनीमरण कहते है। इङ्गिनी मरण वाला अपने स्थान को छोड़ कर कहीं नहीं जाता। एक ही स्थान पर रहते हुए हाथ पैर आदि हिलाने डुलाने का उसे आगार होता है। वह

दूसरों से सेवा नहीं कराता।

(१७) पादपोपगमन मरण--संथारा करके वृक्ष के समान जिस स्थान पर जिस रूप में एक बार लेट जाय फिर उसी जगह उसी रूप में लेटे रहना और इस प्रकार मृत्यु होजाना पादपोपगमन मरण है। इस मरण में हाथ पैर हिलाने का भी आगार नहीं होता।

(समवायांग १७) (प्रवचनसारोद्धार द्वार १५७ गा० १००६-१७)

८८०- माया के सतरह नाम

कपटाचार को माया कहते हैं। इसके सतरह नाम हैं-

(१) माया। (९) जिम्हे-जैह्म।
(२) उवही- उपधि। (१०) दंभे- दम्भ।
(३) नियडी- निकृति। (११) कूडे- कूट।
(४) वलए-वलय। (१२) किब्बिसे- किल्बिष।
(५) गहणे-गहन। (१३) अणायरणया-अनाचरणता।
(६) णूमे- न्यवम। (१४) गूहणया- गूहनता।
(७) कक्के-कल्क। (१५) वंचणया- वंचनता।
(८) कुरुए-कुरुक। (१६) परिकुंचणया-परिकुंचनता
(१७) सातिजोग- सातियोग।

(समवायांग ५२ वां, मोहनीय कर्म के ५२ नामों में से)

८८१- शरीर के सतरह द्वार

पन्नवणा सूत्र के इकीसवें पद का नाम शरीर पद है। इसमें शरीरों के नाम, अर्थ, आकार, परिमाण आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। उन्हीं के आधार से शरीर के सतरह द्वारों का कथन किया जायगा-

(१) नाम द्वार-औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर।

(२) अर्थद्वार–उदार अर्थात् प्रधान और स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। अथवा मांस,रुधिर और हड्डियों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है।

जिस शरीर से एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि रूप बनाने की विविध क्रियाएं होती हैं वह वैक्रियक शरीर कहलाता है।

प्राणिदया, तीर्थङ्कर भगवान् की ऋद्धि का दर्शन तथा संशय निवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज जो एक हाथ का पुतला निकालते हैं वह आहारक शरीर कहलाता है।

तैजस पुद्गलों से बना हुआ तथा आहार को पचाने की क्रिया करने वाला शरीर तैजस कहलाता है।

कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है।

(३) अवगाहना द्वार– औदारिक शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है। वैक्रियक शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ अधिक होती है। आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना एक हाथ से कुछ कम, उत्कृष्ट एक हाथ की होती है। तैजस और कार्मण शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट चौदह राजू परिमाण होती है।

(४) संयोग द्वार–जहाँ औदारिक शरीर होता है वहाँ तैजस और कार्मण शरीर की नियमा है अर्थात् निश्चित रूप से होते हैं। वैक्रियक, आहारक शरीर की भजना है अर्थात् जहाँ औदारिक शरीर होता है वहाँ ये दोनों शरीर पाये भी जा सकते हैं और नहीं भी। वैक्रियक शरीर में तैजस कार्मण की नियमा, औदारिक की भजना और आहारक का अभाव होता है। आहारक शरीर में वैक्रियक शरीर का अभाव होता है और शेष तीन शरीरों की

नियमा है। तैजस शरीर में कार्मण की और कार्मण में तैजस की नियमा है अर्थात् ये दोनों शरीर एक साथ रहते हैं। इन दोनों शरीरों में शेष तीन शरीरों की भजना है।

(५) द्रव्य द्वार–औदारिक और वैक्रियक शरीर के असंख्यात द्रव्य हैं। आहारक शरीर के संख्यात द्रव्य हैं। तैजस और कार्मण के अनन्त द्रव्य हैं। इन पाचों शरीरों के प्रदेश अनन्तानन्त हैं।

(६) द्रव्य की अपेक्षा अल्पबहुत्व द्वार– आहारक शरीर के द्रव्य सब से थोड़े हैं। वैक्रियक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। औदारिक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। तैजस और कार्मण शरीर के द्रव्य उनसे अनन्त गुणे अधिक हैं किन्तु परस्पर दोनों तुल्य हैं।

(७) प्रदेश की अपेक्षा अल्पबहुत्व द्वार– आहारक शरीर के प्रदेश सब से थोड़े हैं। वैक्रियक शरीर के प्रदेश उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। औदारिक शरीर के प्रदेश असंख्यात गुणे, तैजस के अनन्त गुणे और कार्मण शरीर के प्रदेश उनसे अनन्त गुणे हैं।

(८) द्रव्य प्रदेश की अपेक्षा अल्पबहुत्व द्वार– आहारक शरीर के द्रव्य सब से थोड़े हैं। वैक्रियक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। औदारिक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे हैं। आहारक शरीर के प्रदेश अनन्त गुणे हैं। वैक्रियक शरीर के प्रदेश उनसे असंख्यात गुणे हैं। औदारिक शरीर के प्रदेश उनसे असंख्यात गुणे हैं। तैजस और कार्मण शरीर के द्रव्य उनसे अनन्त गुणे हैं। तैजस शरीर के प्रदेश उनसे अनन्त गुणे हैं। कार्मण शरीर के प्रदेश उनसे अनन्त गुणे हैं।

(९) स्वामी द्वार– मनुष्य और तिर्यञ्चों के औदारिक शरीर होता है। तैजस और कार्मण शरीर चारों गति के जीवों के होते हैं। वैक्रियक शरीर नैरयिक और देवों के होता है तथा तिर्यञ्च और

मनुष्यों के भी हो सकता है। आहारक शरीर के स्वामी चौदह पूर्वधारी मुनिराज हैं।

(१०) संस्थान द्वार– औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों में छहों संस्थान पाये जाते हैं। वैक्रियक मे समचतुरस्र और हुण्डक दो संस्थान पाये जाते है। आहारक शरीर में एक समचतुरस्र संस्थान पाया जाता है।

(११) संहनन द्वार– औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर में छः संहनन पाये जाते हैं। आहारक में एक वज्रऋषभ नाराच संहनन पाया जाता है। वैक्रियक शरीर मे कोई संहनन नहीं होता।

(१२) सूक्ष्म बादर द्वार– कार्मण शरीर सब शरीरों से सूक्ष्म है। तैजस शरीर उससे बादर है। आहारक उससे बादर है। वैक्रियक शरीर उससे बादर है। औदारिक शरीर उससे बादर है। औदारिक शरीर सब शरीरों से बादर है। वैक्रियक, आहारक तैजस और कार्मण शरीर क्रमशःसूक्ष्म है।

(१३) प्रयोजन द्वार– आठ कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करना औदारिक शरीर का प्रयोजन है। नाना प्रकार के रूप बनाना वैक्रियक शरीर का प्रयोजन है। प्राणिदया, संशय-निवारण, तीर्थङ्करो की ऋद्धि का दर्शन आदि आहारक शरीर का प्रयोजन है। संसार मे परिभ्रमण करते रहना तैजस और कार्मण शरीर का प्रयोजन है।

(१४) विषय द्वार– औदारिक शरीर का विषय रुचक द्वीप तक है। वैक्रियक शरीर का विषय असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त है। आहारक शरीर का विषय अढ़ाई द्वीप पर्यन्त है। तैजस और कार्मण शरीर का विषय चौदह राजू परिमाण है।

(१५) स्थिति द्वार– औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति ...हूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम। वैक्रिय शरीर की जघन्य

स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम। आहारक शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त। तैजस और कार्मण शरीर की स्थिति अनादि अनन्त है और अनादि सान्त है।

(१६) अवगाहना का अल्पबहुत्व द्वार–औदारिक शरीर की जघन्य अवगाहना सब से थोड़ी है। उससे तैजस, कार्मण की जघन्य अवगाहना विशेषाधिक है। वैक्रियक शरीर की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है। आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है। आहारक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेषाधिक है। औदारिक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे संख्यात गुणी अधिक है। वैक्रियक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे संख्यात गुणी अधिक है। तैजस और कार्मण शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है।

(१७) अन्तर द्वार– औदारिक शरीर का यदि अन्तर पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम। वैक्रियक शरीर का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल। आहारक का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन। तैजस और कार्मण शरीर का अन्तर कभी नहीं पड़ता।

पाँच शरीरों का अन्तर दूसरे प्रकार से भी है। औदारिक वैक्रियक, तैजस और कार्मण ये चारों शरीर लोक में सदा पाये जाते हैं। इनका कभी अन्तर नहीं पड़ता। यदि आहारक शरीर का अन्तर पड़े तो उत्कृष्ट ६ महीने तक पड़ता है। (पन्न० प० २१,३६)

८८२–विहायोगति के सतरह भेद

आकाश में गमन करने को विहायोगति कहते हैं। इसके १७ भेद हैं –

(१) स्पृशद्गति– परमाणुपुद्गल, द्विप्रादेशिक स्कन्ध यावत् अनन्तप्रादेशिक स्कन्धों की एक दूसरे को स्पर्श करते हुए गति होना स्पृशद्गति है।

(२) अस्पृशद्गति– परमाणु या पुद्गलस्कन्धों की परस्पर स्पर्श के बिना गति होना अस्पृशद्गति है।

(३) उपसंपद्यमान गति– दूसरों का सहारा लेकर गमन करना। जैसे राजा, युवराज अथवा राज्य का भार संभालने वाला राजा का प्रतिनिधि या प्रधान मंत्री, ईश्वर (अणिमा आदि लब्धि वाला व्यक्ति), तलवर (तअजीमी सरदार जिसे राजा ने सन्तुष्ट होकर पट्टा दे रक्खा हो) माण्डविक (टूटे फूटे गाँव का मालिक) कौटुम्बिक (बहुत से कुटुम्बों का मुखिया), इभ्य (इतना बड़ा धनवान् जो अपने पास हाथियों को रक्खे अथवा हाथीप्रमाण धनराशि का स्वामी), श्रेष्ठी (सेठ जिसका मस्तक श्रीदेवी के स्वर्णपद से विभूषित रहता है), सेनापति और सार्थवाह क्रमशः एक दूसरे के सहारे पर चलते है। इसलिए वह उपसंपद्यमान गति है।

(४) अनुपसंपद्यमान गति– राजा, युवराज, ईश्वर आदि यदि एक दूसरे का अनुसरण करते हुए न चलें, बिना सहारे के चलें तो वह अनुपसंपद्यमान गति है।

(५) पुद्गलगति– परमाणु से लेकर अनन्तप्रादेशिक स्कन्धों तक के पुद्गल की गति को पुद्गलगति कहते हैं।

(६) मण्डूकगति– मेंढक के समान कूद कूद कर चलने को मण्डूक गति कहते है।

(७) नौका गति– जिस प्रकार नाव नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पानी में ही गमनागमन करती रहती है, इस प्रकार की गति को नौका गति कहते हैं।

(८) नयगति– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयों की प्रवृत्ति अथवा मान्यता को नय गति कहते हैं।

(९) छायागति– घोड़ा, हाथी, मनुष्य, किन्नर, महोरग, गंधर्व

वृषभ, रथ तथा छत्र आदि की छाया के अनुसार जो गति हो उसे छायागति कहते हैं अर्थात् छाया में रहते हुए गति करना।

(१०) छायानुपात गति– पुरुष के अनुसार छाया चलती है, छाया के अनुसार पुरुष नहीं चलता। पुरुष के अनुसरण से होने वाली छाया की गति को छायानुपात गति कहते हैं।

(११) लेश्या, गति– कृष्ण लेश्या नील लेश्या को प्राप्त करके उसी के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श रूप में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार नील लेश्या कापोत लेश्या को प्राप्त करके तद्रूप में परिणत हो जाती है। कापोतलेश्या तेजोलेश्या के रूप में, तेजो लेश्या पद्मलेश्या के रूप में और पद्मलेश्या शुक्ललेश्या के रूप में। लेश्याओं के इस प्रकार परिणत होने को लेश्या गति कहते हैं।

(१२) लेश्यानुपात गति– जिस लेश्या वाले पुद्गलों को ग्रहण करके जीव मरण प्राप्त करता है उसी लेश्या वाले पुद्गलों के साथ उत्पन्न होता है। जैसे मरते समय कृष्णलेश्या होने पर जन्म लेते समय भी वही रहेगी। इसी प्रकार सभी लेश्याओं के लिये जानना चाहिए। इसे लेश्यानुपात गति कहते हैं।

(१३) उद्दिश्यप्रविभक्तिक गति– यदि आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणी, गणधर या गणावच्छेदक आदि किसी को उद्देश करके गमन किया जाय तो उसे उद्दिश्यप्रविभक्तिक गति कहते हैं।

(१४) चतु पुरुष प्रविभक्तिक गति– इस में चार भांगे हैं– (क) चार पुरुष एक साथ तैयार हों और एक ही साथ प्रयाण करें। (ख) एक साथ तैयार हों किन्तु भिन्न भिन्न समय में प्रयाण करें। (ग) भिन्न भिन्न समय में तैयार हों और भिन्न भिन्न समय में ही प्रयाण करें।

(घ) भिन्न २ समय में तैयार हों किन्तु एक ही समय में गति करें।

इन चारों भांगों में होने वाली गति को चतुःपुरुषप्रविभक्तिक गति कहते हैं।

(१५) वक्र गति–जो गति टेढ़ी मेढ़ी या जीव को अनिष्ट हो उसे वक्र गति कहते हैं। इसके चार भेद हैः–

(क) घट्टनता– लंगड़ाते हुए चलना।

(ख) स्तम्भनता– ग्रीवा में धमनी अर्थात् रक्त का संचालन करने वाली नाड़ी का रहना या अपना कार्य करना स्तम्भनता है, अथवा आत्मा का शरीर के प्रदेशों में रहना स्तम्भनता है।

(ग) श्लेषणता–घुटने का जाँघ के साथ सम्बन्ध होना श्लेषणता है।

(घ) पतनता– खड़े होते समय या चलते समय गिर पड़ना।

(१६) पंक गति– कीचड़ या पानी में जिस प्रकार कोई पुरुष लकड़ी आदि का सहारा लेकर चलता है, उसी प्रकार की गति को पंक गति कहते है।

(१७) बन्धनविमोचन गति– पकने पर या बन्धन से छूटने पर आम, बिजोरा, बिल, दाड़िम, पारावत आदि की जो गति होती है उसे बन्धनविमोचन गति कहते है। (पन्नवणा पद १६ सू० २०५)

८८३– भाव श्रावक के सतरह लक्षण

शास्त्र श्रवण करने वाले देशविरति चारित्र के धारक गृहस्थ को श्रावक कहते है। उसमे नीचे लिखे सतरह गुण होते है।

(१) श्रावक स्त्रियों के अधीन नहीं होता।

(२) श्रावक इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकता है अर्थात् उन्हे वश में रखता है।

(३) श्रावक अनर्थों के कारण भूत धन में लोभ नहीं करता।

(४) श्रावक संसार में रति अर्थात् अनुराग नहीं करता।

(५) श्रावक विषयो में गृद्धि भाव नहीं रखता।

(६) श्रावक महारम्भ नहीं करता, यदि कभी विवश होकर

करना ही पड़े तो अनिच्छा पूर्वक करता है।

(७) श्रावक गृहस्थावास को जाल के समान मानता है।

(८) श्रावक सम्यक्त्व से विचलित नहीं होता।

(९) श्रावक भेड़ चाल को छोड़ता है।

(१०) श्रावक सारी क्रियाएं आगम के अनुसार करता है।

(११) अपनी शक्ति के अनुसार दान आदि में प्रवृत्ति करता है।

(१२) श्रावक निर्लेप तथा पापरहित कार्य को करते हुए नहीं हिचकता।

(१३) श्रावक सांसारिक वस्तुओं में राग द्वेष से रहित होकर रहता है।

(१४) श्रावक धर्म आदि के स्वरूप का विचार करते समय मध्यस्थ रहता है। अपने पक्ष का मिथ्या आग्रह नहीं करता।

(१५) श्रावक धन या कुटुम्बियों के साथ सम्बन्ध रखता हुआ भी सभी को क्षणभंगुर मान कर संबन्ध रहित की तरह रहता है।

(१६) श्रावक आसक्ति से सांसारिक भोगों में प्रवृत्त नहीं होता।

(१७) श्रावक हृदय से विमुख रहते हुए गृहस्थावास का सेवन करता है। (धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २ टीका पृ ४६)

८८४- संयम के सतरह भेद

मन, वचन और काया को सावद्य व्यापार से रोकना संयम है। इस के सतरह भेद हैं-

(१) पृथ्वीकाय संयम-तीन करण तीन योग से पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना न करना पृथ्वीकाय संयम है।

(२) अप्काय संयम- अप्काय के जीवों की हिंसा न करना।

(३) तेजस्काय संयम- तेजस्काय के जीवों की हिंसा न करना।

(४) वायुकाय संयम-वायुकाय के जीवों की हिंसा न करना।

(५) वनस्पतिकाय संयम-वनस्पतिकाय की हिंसा न करना।

(६) द्वीन्द्रिय संयम– बेइन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(७) त्रीन्द्रिय संयम–तेइन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(८) चतुरिन्द्रिय संयम–चौरिन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(९) पञ्चेन्द्रिय संयम–पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(१०) अजीव संयम– अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के ग्रहण से असंयम होता है उन्हें न लेना अजीव संयम है। जैसे– सोना, चाँदी आदि धातुओं अथवा शस्त्र को पास में न रखना। पुस्तक, पत्र तथा दूसरे संयम के उपकरणों को पडिलेहना करते हुए यतनापूर्वक विना ममत्वभाव के मर्यादा अनुसार रखना असंयम नहीं है।

(११) प्रेक्षा संयम– बीज, हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित स्थान में अच्छी तरह देख भाल कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाएं करना प्रेक्षा संयम है।

(१२) उपेक्षा संयम– गृहस्थ तथा पासत्था आदि जो पापकार्य में प्रवृत्त हो रहा हो उसे पाप कार्य के लिए प्रोत्साहित न करते हुए उपेक्षाभाव बनाए रखना उपेक्षासंयम है।

(१३) प्रमार्जना संयम– स्थान तथा वस्त्र पात्र आदि को पूँज कर काम मे लाना प्रमार्जना संयम है।

(१४) परिष्ठापना संयम– आहार या वस्त्र पात्र आदि को जीवों से रहित स्थान मे जयणा से शास्त्र में बताई गई विधि के अनुसार परठना परिष्ठापना संयम है। समवायांग सूत्र में इस को 'अपहृत्य संयम' लिखा है।

(१५) मनःसंयम– मन मे ईर्ष्या, द्रोह, अभिमान आदि न रख कर उसे धर्मध्यान मे लगाना मनःसंयम है।

(१६) वचन संयम– हिंसाकारी कठोर वचन को छोड़ कर शुभ वचन में प्रवृत्ति करना वचन संयम है।

(१७) काय संयम – गमनागमन तथा दूसरे आवश्यक कार्यों में काया की उपयोगपूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना कायसंयम है।
(समवा १७) (हरि आ अ ५५ ६५१) (प्रव द्वार ६६ गा० ५५६)

८८५– संयम के सतरह भेद

संयम के दूसरी प्रकार से भी सतरह भेद हैं–

(१–५) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पाँच आस्रवों से विरति।

(६–१०) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों को उन के विषयों की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हें वश में रखना।

(११–१४) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों को छोड़ना।

(१५–१७) मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों से विरति। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ६६ गाथा ५५५)

८८६– चरम शरीरी को प्राप्त सतरह बातें

जो जीव उसी भव में मोक्ष जाने वाला होता है उसे पुण्य के उदय से नीचे लिखी सतरह बातें प्राप्त होती हैं–

(१) चरम शरीरी को परिणाम में भी प्रायः रमणीय तथा उत्कृष्ट विषय सुख की प्राप्ति होती है।

(२) चरम शरीरी में अपनी जाति, कुल, सम्पत्ति, बल तथा दूसरे किसी प्रकार से हीनता का भाव नहीं रहता।

(३) दास दासी आदि द्विपद तथा हाथी, घोड़े, गाय, भैंस आदि चतुष्पद की उत्तम समृद्धि प्राप्त होती है।

(४) उनके द्वारा अपना और दूसरों का महान् उपकार होता है।

(५) उनका चित्त बहुत निर्मल होता है अर्थात् वे सदा

उत्तम विचार करते हैं ।

(६) वे सभी बातों में धर्म को प्रधान मानते हैं ।

(७) विवेक के द्वारा वस्तु का सच्चा स्वरूप जान लेने के कारण उनकी कोई क्रिया निष्फल नहीं होती ।

(८) उन्हें उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध होने वाले तथा अप्रतिपाती चारित्र की प्राप्ति होती है ।

(९) वे चारित्र के साथ एक हो जाते हैं अर्थात् उनके जीवन में शुद्ध चारित्र इस तरह परिणत हो जाता है कि उनसे बुरा काम होता ही नहीं। चारित्र का पालन करना उनका स्वभाव बन जाता है।

(१०) वे भव्य प्राणियों को सन्तोष देने वाले होते हैं।

(११) वे मन के व्यापार को रोकते हैं। इससे उन्हें शुभ ध्यान रूपी सुख की प्राप्ति होती है।

(१२) उन्हें आमर्षौषधि वगैरह उत्कृष्ट ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(१३) उन्हें अपूर्वकरण (आठवें गुणस्थान) की प्राप्ति होती है।

(१४) इसके बाद उन्हें क्षपक श्रेणी की प्राप्ति होती है। क्षपक श्रेणी और गुणस्थानों का स्वरूप इसी भाग के 'गुणस्थान चौदह' नामक ८४७ वें बोल में दिया जा चुका है।

(१५) वे मोहनीय कर्म रूपी महासागर से पार उतर जाते हैं।

(१६) ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों का सम्पूर्ण क्षय हो जाने पर उन्हें केवलज्ञान तथा केवलदर्शन की प्राप्ति होती है।

(१७) उन्हें परमसुख की प्राप्ति होती है।

(धर्मबिन्दु अध्याय ८ सूत्र ४८४-८६)

अठारहवां बोल संग्रह

८८७– अरिहन्त भगवान में नहीं पाये जाने वाले अठारह दोष

अरिहन्त भगवान् अठारह दोष रहित होते हैं। सत्तरिसय ठाणा वृत्ति में ये दोष दो प्रकार से गिनाये हैं। वे इस प्रकार हैं–

पंचेव अन्तराया, मिच्छत्तमन्नाणमविरइ कामो।
हास छग राग दोसा निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा॥

(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) वीर्यान्तराय (४) भोगान्तराय (५) उपभोगान्तराय (६) मिथ्यात्व (७) अज्ञान (८) अविरति (९) काम (भोगेच्छा) (१०) हास्य (११) रति (१२) अरति (१३) शोक (१४) भय (१५) जुगुप्सा (१६) राग (१७) द्वेष (१८) निद्रा–ये अठारह दोष हैं।

हिंसाइ तिग कीला, हासाइ पंचगं च चउ कसाया।
भय मच्छर अन्नाणा, निद्दा पिम्मं इय व दोसा॥

(१) हिंसा (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) क्रीड़ा (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) शोक (९) भय (१०) क्रोध (११) मान (१२) माया (१३) लोभ (१४) मद (१५) मत्सर (१६) अज्ञान (१७) निद्रा (१८) प्रेम (राग)–इस प्रकार ये अठारह दोष हैं। अरिहन्त भगवान् में ये अठारह दोष नहीं होते।

(सत्तरिसय ठाणावृत्ति द्वार ९६ गाथा १९२-९३)
(प्रव० सा० द्वार ४१ गा० ४५१-२)

८८८– गतागत के अठारह द्वार

एक गति से काल करके जीव किन किन गतियों में जा सकता है तथा किन किन गतियों से आकर एक गति में उत्पन्न होता है इस बात के खुलासे को गतागत कहते है। इसके अठारह द्वार है–

(१) पहली नरक में जीव ग्यारह स्थानों से आता है– जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प, इन पाँच सञ्ज्ञी तिर्यञ्चों के पर्याप्त, पाँच असंज्ञी तिर्यञ्चों के पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहली नरक से काल करके जीव छः स्थानों में जाता है–पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

(२) दूसरी नरक मे जीव छः स्थानो से आता है– पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त तथा संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य।

इन्हीं छः स्थानो में जाता है।

(३) तीसरी नरक में पाँच स्थानों से आता है – जलचर, स्थलचर, खेचर और उरःपरिसर्प के संज्ञी पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले की तरह छः स्थानों मे जाता है।

(४) चौथी नरक में चार स्थानों से आता है– जलचर, स्थलचर और उरःपरिसर्प के संज्ञी पर्याप्त और संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले के समान छः स्थानों में जाता है।

(५) पाँचवी नरक मे तीन स्थानो से आता है– जलचर और उरःपरिसर्प के संज्ञी पर्याप्त तथा संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले के समान छः स्थानों में जाता है।

(६) छठी नरक में दो स्थानों से आता है– संज्ञी जलचर

का पर्याप्त तथा संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले के समान छः स्थानों में जाता है।

(७) सातवीं नरक में दो स्थानों से आता है– संज्ञी जलचर और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य (स्त्री वेद को छोड़ कर)। पाँच स्थानों में जाता है– संज्ञी तिर्यञ्च का पर्याप्त।

(८) भवनपति और व्यन्तर देवों की आगति सोलह की– पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त, पाँच असंज्ञी तिर्यञ्च के अपर्याप्त, संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, असंख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि मनुष्य, अन्तर द्वीपिक मनुष्य, खेचर जुगलिया और स्थलचर जुगलिया।

गति नौ स्थानों की– पाँच संज्ञी तिर्यञ्च, संख्यात काल का कर्मभूमि, पृथ्वी, पानी और वनस्पति।

(९) ज्योतिषी तथा पहले दूसरे देवलोक में जीव नौ स्थानों से आता है– पाँच संज्ञी तिर्यञ्च, संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, असंख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि मनुष्य और स्थलचर जुगलिया।

नौ स्थानों में जाता है– पाँच संज्ञी तिर्यञ्च, संख्यात काल का कर्मभूमि, पृथ्वी, पानी और वनस्पति।

(१०) तीसरे देवलोक से आठवें देवलोक तक छः की आगति– पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

इन्हीं छः स्थानों में जाता है।

(११) नवें से बारहवें देवलोक तक चार की आगति– मिथ्यादृष्टि, अविरति सम्यग्दृष्टि, देशविरति सम्यग्दृष्टि और सर्वविरति सम्यग्दृष्टि मनुष्य।

गति एक की– संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

(१२) नवग्रैवेयक में दो की आगति– मिथ्यादृष्टि साधुलिङ्गी

तथा सम्यग्दृष्टि साधु ।

गति एक की- संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य ।

(१३) पाँच अनुत्तर विमान में दो की आगति- ऋद्धि प्राप्त अप्रमादी, अनृद्धिप्राप्त अप्रमादी ।

गति एक की- संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य ।

(१४) पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में चोहत्तर की आगति-छयालीस प्रकार के तिर्यञ्च (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पति काय में प्रत्येक के चार भेद- सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त । इस प्रकार एकेन्द्रिय के बीस भेद । विकलेन्द्रिय के छः- बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त । पञ्चेन्द्रिय के बीस- जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प में प्रत्येक के संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त) मनुष्य के तीन भेद (सञ्ज्ञी मनुष्य का पर्याप्त, अपर्याप्त और असञ्ज्ञी का अपर्याप्त) दस भवनपति, आठ वाण-व्यन्तर, पाँच ज्योतिषी, पहला देवलोक, दूसरा देवलोक । इस प्रकार कुल मिलाकर चोहत्तर हो जाते है ।

गति उनचास में- ४६ तिर्यञ्च और तीन मनुष्य ।

(१५) तेउकाय और वायुकाय में आगति ४९ की-४६ तिर्यञ्च और तीन मनुष्य ।

गति छयालीस की- तिर्यञ्च के छयालीस भेद ।

(१६) तीन विकलेन्द्रिय में आगति और गति दोनों उनचास की- ४६ तिर्यञ्च और ३ मनुष्य ।

(१७) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में आगति सतासी की-उनचास ऊपर लिखे अनुसार, इकतीस प्रकार के देवता (दस भवनपति, आठ वाणव्यन्तर, पाँच ज्योतिषी और पहले से लेकर आठवें तक आठ देवलोक) और सात नरक ।

गति बनाने की–संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य, असंख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि, आन्तरद्वीपिक, स्थलचर युगलिया और सतामी ऊपर लिखे अनुसार।

(१८) मनुष्य में आगति छयानवें की–३८ तिर्यञ्च (पूर्वोक्त छयालीस में से तेउकाय और वायुकाय के आठ भेद छोड़ कर) मनुष्य के तीन, देवता के उनचास (दस भवनपति, आठ वाणव्यन्तर, पाँच ज्योतिषी, बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान) पहली से लेकर छठी तक छह नरक। कुल मिला कर ९६।

गति एक सौ ग्यारह की– ४६ तिर्यञ्च, ३ मनुष्य, ४६ देवता, ७ नारकी, असंख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि, आन्तर द्वीपिक, स्थलचर युगलिया, खेचर युगलिया और मोक्ष। कुल मिला कर १११ हो जाते हैं। (पन्नवणा पद ६ व आचार स)

८८९– लिपियाँ अठारह

जिस के द्वारा अपने भाव लिख कर प्रकाशित किए जा सकें उसे लिपि कहते हैं। आर्यदेशों में अठारह प्रकार की ब्राह्मी लिपि काम में लाई जाती है। वे इस प्रकार हैं–

(१) ब्राह्मी	(१०) वैनयिकी
(२) यवनानी	(११) निह्नविकी
(३) दोसापुरिया	(१२) अंकलिपि
(४) खरोष्ट्री	(१३) गणितलिपि
(५) पुक्खरसरिया	(१४) गंधर्व लिपि
(६) भोगवती	(१५) आदर्शलिपि
(७) पहराइया	(१६) माहेश्वरी
(८) अंतक्खरिया	(१७) दोमिलिपि
(९) अक्खरपुट्ठिया	(१८) पौलिन्दी

(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३७) (समवायांग १८)

९१०– साधु के अठारह कल्प

दशवैकालिक सूत्र के महाचार नामक छठे अध्ययन में साधु के लिये अठारह स्थान (कल्प) बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं–

वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक निसज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं॥

अर्थात्— छः व्रत, छः काया के आरंभ का त्याग, अकल्पनीय वस्तु, गृहस्थ के पात्र, पर्यंक, निषद्या, स्नान और शरीर की शुश्रूषा। इनका त्याग करना ये अठारह स्थान हैं।

(१–६) प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन का त्याग करना ये छः व्रत हैं। प्रथम पाँच व्रतों का स्वरूप इस ग्रंथ के प्रथम भाग में ३१६ बोल में दिया गया है। रात्रि भोजन त्याग– रात्रि में सूक्ष्म त्रस और स्थावर प्राणी दिखाई नहीं देते हैं इसलिए उस समय आहार के गवेषण, ग्रहण और परिभोग सम्बन्धी शुद्ध एषणा नहीं हो सकती। हिंसादि महादोषों को देख कर भगवान् ने साधुओं के लिये रात्रि भोजन त्याग का विधान किया है। दशवैकालिक चौथे अध्ययन में भी इन छहों व्रतों का स्वरूप दिया गया है।

(७–१२) पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रस काय इन छहों का स्वरूप इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के बोल नं० ४६२ मे दिया गया है। साधु को तीन करण और तीन योग से इन छः कायों के आरंभ का त्याग करना चाहिये। एक काया की हिंसा में उसके आश्रित अनेक चाक्षुष एवं अचाक्षुष त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा होती है। अग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। यह छहों दिशा में रहे हुए जीवों का विनाशक है। छः काय का आरंभ दुर्गति को बढ़ाने वाला है, ऐसा जान कर साधुओं को यावज्जीवन के लिए इनका आरंभ छोड़ देना चाहिए।

(१३) अकल्प्य त्याग– मुनि अकल्पनीय पिंड, शय्या, वस्त्र और पात्र आदि को ग्रहण न करे। नित्य आमंत्रित आहार, क्रीत आहार, औद्देशिक आहार तथा आहृत आहार आदि को ग्रहण न करे अर्थात् कोई गृहस्थ साधु से ऐसा निवेदन करे कि 'भगवन्! आप भिक्षा के लिये कहाँ फिरते फिरेंगे, कृपया नित्यप्रति मेरे ही घर से आहार ले लिया करें' गृहस्थ के इस निवेदन को स्वीकार कर नित्य प्रति उसी के घर से आहार आदि लेना नित्य आमंत्रित पिण्ड कहलाता है। इसी प्रकार गृहस्थ के एक जगह से दूसरी जगह जाने से क्षेत्र भेद होने पर भी सदा उसी के यहाँ से भिन्न भिन्न परिवर्तित स्थानों पर जाकर आहार लेना नित्य पिण्ड ही है। साधु के निमित्त मोल लाया हुआ पदार्थ क्रीत कहलाता है। साधु के वास्ते तैयार किया हुआ पदार्थ औद्देशिक कहलाता है। साधु के लिये साधु के स्थान पर लाया हुआ पदार्थ आहृत कहलाता है। साधु के लिये उपरोक्त आहार आदि पदार्थ अकल्पनीय हैं क्योंकि उपरोक्त आहार आदि को लेने से साधु को छः काया के जीवों की हिंसा की अनुमोदना लगती है। अतः धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले निष्परिग्रह साधु को औद्देशिकादि आहार ग्रहण न करना चाहिये।

जिस प्रकार मुनि के लिये सदोष आहार अकल्पनीय है उसी प्रकार यदि शय्या, वस्त्र और पात्र आदि सदोष हों तो वे भी मुनि के लिये अकल्पनीय हैं।

(१४) भाजन–साधु को गृहस्थी के बर्तनों में अर्थात् कांसी, पीतल आदि की थाली या कटोरी आदि में भोजन न करना चाहिए। इसी प्रकार मिट्टी के बर्तनों में भी साधु को भोजन न करना चाहिए। गृहस्थी के बर्तनों को वापरने से साधु को पूर्वकर्म और पश्चात्कर्म आदि कई दोष लगते हैं अर्थात् जब साधु गृहस्थ के बर्तनों में

आहार आदि करने लग जायगा तो गृहस्थ उन बर्तनों को कच्चे जल आदि से धोकर साधु को भोजन करने के लिए देगा और साधु के भोजन कर लेने के बाद गृहस्थ उन बर्तनों को शुद्ध करने में कच्चे जल आदि का व्यवहार करेगा तथा बर्तनों को साफ करके उस पानी को अयतना पूर्वक इधर उधर फेंक देगा जिससे जीवों की विराधना होगी, इत्यादि अनेक दोषों से संयम की विराधना होने की सम्भावना रहती है इसलिए छःकाया के रक्षक निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के बर्तनों में आहार आदि न करना चाहिये।

(१५) आसन– निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के आसन, पलंग, खाट,कुर्सी आदि पर न बैठना चाहिये। इन पर बैठने से साधु को अनाचरित नाम का दोष लगता है। यदि कदाचित् किसी कारण विशेष से कुर्सी आदि पर बैठना पड़े तो बैठने से पहले उनकी अच्छी तरह पडिलेहणा कर लेनी चाहिये क्योंकि उपरोक्त आसनों में सूक्ष्म छिद्र होते है। अतः साधुओं द्वारा ये आसन सभी प्रकार से वर्जित हैं।

(१६) निषद्या– निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के घर में जाकर बैठना न चाहिये। गृहस्थों के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य का नाश होने की सम्भावना रहती है क्योंकि वहाँ बैठने से स्त्रियों का परिचय होता है और स्त्रियों का विशेष परिचय ब्रह्मचर्य का घातक होता है। प्राणियो का वध तथा संयम का घात आदि दोष भी उत्पन्न होते हैं। भिक्षा के लिये आये हुए दीन अनाथ गरीब प्राणियों के दान में अन्तराय पड़ता है। गृहस्थों के घर में बैठने से स्वयं घर के स्वामी को भी क्रोध उत्पन्न होता है। 'साधु का काम है आहार लिया और चल दिया। घर में बैठने से क्या प्रयोजन? प्रतीत होता है यह साधु चाल चलन का कच्चा है' इत्यादि प्रकार गृहस्थ के मन में साधु के प्रति अनेक प्रकार की शङ्का उत्पन्न

हो सकती है। इसलिये अत्यन्त वृद्ध, रोगी या उत्कृष्ट तपस्वी इन तीन के सिवाय अन्य किसी भी निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के घर में न बैठना चाहिये।

(१७) स्नान त्याग- निर्ग्रन्थ साधु को ठण्डे जल से या गर्म जल से स्नान करने का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। स्नान करने से जल के जीवों की विराधना होती है तथा बह कर जाते हुए जल से अन्य जीवों की भी विराधना होती है। इसलिए साधु को अस्नान नामक कठिन व्रत का यावज्जीवन पूर्णतया पालन करना चाहिए। कारण बिना कभी भी देश या सर्व स्नान न करना चाहिए। इसी प्रकार चन्दन केसर आदि सुगन्धित पदार्थ भी साधु को अपने शरीर पर न लगाने चाहिए। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से भी साधु को स्नान न करना चाहिए, स्नान काम का अङ्ग माना गया है। कहा भी है-

स्नानं मद दर्प करं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्।
तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः॥

अर्थात्-स्नान मद और दर्प उत्पन्न करता है। पहला कामाङ्ग माना गया है। यही कारण है कि इन्द्रियों को दमन करने वाले संयमी साधु काम का त्याग कर कभी स्नान नहीं करते। दशवैकालिक तीसरे अध्ययन में स्नान को साधु के लिए अनाचीर्ण बतलाया गया है।

(१८) शोभावर्जन- मलिन एवं परिमित वस्त्रों को धारण करने वाले द्रव्य और भाव से मुण्डित, मैथुन कर्म के विकार से उपशान्त मुनि को अपने शरीर की विभूषा, शोभा और शृङ्गार आदि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि शरीर की शोभा और शृङ्गार आदि करने से दुस्तर और रौद्र संसार समुद्र में भ्रमण कराने वाले चिकने कर्मों का बन्ध होता है। इसलिए छः काय जीवों के रक्षक ब्रह्मचारी मुनि को शरीर विभूषा का सर्वथा त्याग

कर देना चाहिए।

उपरोक्त अठारह कल्पों का यथावत् पालन करने वाले विशुद्ध तप क्रिया में रत रहने वाले मुनि अविचल मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं।

(दशवैकालिक अध्ययन ६ गाथा ६८) (समवायांग १८)

८६१- दीक्षा के अयोग्य अठारह पुरुष

सब प्रकार के सावद्य व्यापार को छोड़ कर मुनि व्रत अङ्गीकार करने को दीक्षा कहते हैं। नीचे लिखे अठारह व्यक्ति दीक्षा के लिए अयोग्य होते हैं।

(१) बाल- जन्म से लेकर आठ वर्ष तक बालक कहा जाता है। बाल स्वभाव के कारण वह देशविरति या सर्वविरति चारित्र को अङ्गीकार नहीं कर सकता। भगवान् वज्रस्वामी ने छः माह की अवस्था में भी भाव से संयम स्वीकार कर लिया था ऐसा कहा जाता है। आठ वर्ष की यह मर्यादा सामान्य साधुओं के लिए निश्चित की गई है। आगमविहारी होने के कारण उन पर यह मर्यादा लागू नहीं होती। कुछ आचार्य गर्भ से लेकर आठ वर्ष तक बाल्यावस्था मानते है।

(२) वृद्ध- सत्तर वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानी जाती है। शारीरिक अशक्ति के कारण वृद्ध भी दीक्षा के योग्य नहीं होते। कुछ आचार्य साठ वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानते हैं। यह बात १०० वर्ष की आयु को लक्ष्य करके कही गई है। कम आयु होने पर उसी अनुपात से वृद्धावस्था जल्दी मान ली जाती है।

(३) नपुंसक-जिसके स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा हो उसे नपुँसक कहते हैं। प्रायः अशुभ भावना वाला तथा लोक निन्दा का पात्र होने के कारण वह दीक्षा के अयोग्य होता है।

(४) क्लीव- पुरुष की आकृति वाला होकर भी स्त्री के समान हाव भाव और कटाक्ष करने वाला दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(५) जड़– जड़ तीन प्रकार का होता है– भाषाजड़, शरीर जड़ और करणजड़।

(क) भाषाजड के तीन भेद हैं– जलमूक, मन्मनमूक और एलक मूक। जो व्यक्ति पानी में डूबे हुए के समान बुड़ बुड़ करता है कुछ भी स्पष्ट नहीं कह सकता उसे जलमूक कहते हैं। बोलते समय जिसके मुँह से कोई शब्द स्पष्ट न निकले, केवल अधूरे और अस्पष्ट शब्द निकलते रहें। उसे मन्मनमूक कहते हैं। जो व्यक्ति भेड़ या बकरी के समान शब्द करता है। उसे एलकमूक कहते हैं। ज्ञान ग्रहण में असमर्थ होने के कारण भाषाजड़ दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(ख) शरीर जड़– जो व्यक्ति बहुत मोटा होने के कारण विहार गोचरी, वन्दना आदि करने में असमर्थ है उसे शरीरजड़ कहते हैं।

(ग) करणजड़– जो व्यक्ति समिति, गुप्ति, प्रतिक्रमण, प्रत्यु पेक्षण, पडिलेहना आदि साधु के लिए आवश्यक क्रियाओं को नहीं समझ सकता या कर सकता वह करणजड़ (क्रियाजड़) है।

तीनों प्रकार के जड दीक्षा के लिए योग्य नहीं होते।

(६) व्याधित– किसी बड़े रोग वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(७) स्तेन– खात खनना, मार्ग में चलते हुए को लूटना आदि किसी प्रकार से चोरी करने वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता। उसके कारण संघ की निन्दा तथा अपमान होता है।

(८) राजापकारी– राजा, राजपरिवार, राज्य के अधिकारी या राज्य की व्यवस्था का विरोध करने वाला दीक्षा के योग्य नहीं होता। उसे दीक्षा देने से राज्य की ओर से सभी साधुओं पर रोष होने का भय रहता है।

(९) उन्मत्त– यक्ष आदि के आवेश या मोह के प्रबल उदय

से जो कर्तव्याकर्तव्य को भूल कर परवश हो जाता है और अपनी विचार शक्ति को खो देता है वह उन्मत्त कहलाता है।

(१०) अदर्शन–दृष्टि अर्थात् बिना नेत्रों वाला अन्धा। अथवा दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्व से रहित स्त्यानगृद्धि निद्रा वाला। अन्धा आदमी जीवों की रक्षा नहीं कर सकता और स्त्यानगृद्धि वाले से निद्रा में कई प्रकार के उत्पात हो जाने का भय रहता है। इस लिए ये दोनों दीक्षा के योग्य नहीं होते।

(११) दास– घर की दासी से उत्पन्न हुआ, अथवा दुर्भिक्ष आदि में धन देकर खरीदा हुआ या जिस पर कर्ज का भार हो उसे दास कहते है। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से उसका मालिक वापिस छुड़ाने का प्रयत्न करता है। इस लिए वह भी दीक्षा का अधिकारी नहीं होता।

(१२) दुष्ट– दुष्ट दो तरह का होता है– कषायदुष्ट और विषयदुष्ट। जिस व्यक्ति के क्रोध आदि कषाय बहुत उग्र हों उसे कषाय दुष्ट कहते हैं और सांसारिक कामभोगों मे फँसे हुए व्यक्ति को विषयदुष्ट कहते है।

(१३) मूढ–जिस में हिताहित का विचार करने की शक्ति न हो।

(१४) ऋणार्त– जिस पर राज्य आदि का ऋण हो।

(१५) जुङ्गित– जुङ्गित का अर्थ है दूषित या हीन। जुङ्गित तीन प्रकार का होता है– जाति जुंगित, कर्म जुङ्गित और शरीर जुङ्गित।

(क) जाति जुङ्गित– चंडाल, कोलिक, डोम आदि अस्पृश्य जाति के लोग जाति जुङ्गित है।

(ख) कर्म जुङ्गित– कसाई, शिकारी, मच्छीमार, धोबी आदि निन्द्य कर्म करने वाले कर्म जुङ्गित हैं।

(ग) शरीर जुङ्गित– हाथ, पैर, कान, नाक, ओठ–इन अंगों से रहित, पंगु, कुबड़ा, बहरा, काणा, कोढ़ी वगैरह शरीर जुङ्गित है।

चमार,जुलाहा आदि निम्न कोटि के शिल्प से आजीविका करने वाले शिल्प जुङ्गित हैं। यह जुङ्गित का चौथा प्रकार भी है। ये सभी दीक्षा के अयोग्य हैं। इन्हें दीक्षा देने से लोक में अपयश होने की संभावना रहती है।

(१६) अवबद्ध– धन लेकर नियत काल के लिये जो व्यक्ति पराधीन बन गया है वह अवबद्ध कहलाता है। इसी प्रकार विद्या पढ़ने के निमित्त जिसने नियत काल तक पराधीन रहना स्वीकार कर लिया है वह भी अवबद्ध कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने में क्लेश आदि की शंका रहती है।

(१७) भृतक– नियत अवधि के लिये वेतन पर काम करने वाला व्यक्ति भृतक कहलाता है। उसे दीक्षा देने से मालिक अप्रसन्न हो सकता है।

(१८) शैक्ष निस्फेटिका– माता पितादि की रजामन्दी के बिना जो दीक्षार्थी भगा कर लाया गया हो या भाग कर आया हो वह भी दीक्षा के अयोग्य होता है। उसे दीक्षा देने से माता पिता के कर्म बन्ध का संभव है एवं साधु अदत्तादान दोष का भागी होता है। (प्रवचन सारोद्धार द्वार १०७ गा० ७९०-७९१)

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक ७८ टीका पृ० ३)

पुरुषों की तरह उक्त अठारह प्रकार की स्त्रियाँ भी उक्त कारणों से दीक्षा के अयोग्य बतलाई गई हैं। इनके सिवाय गर्भवती और स्तन पीने वाले छोटे बच्चों वाली स्त्रियाँ भी दीक्षा के अयोग्य हैं। इस प्रकार दीक्षा के अयोग्य स्त्रियाँ कुल बीस हैं।

(प्रव० सारोद्धार द्वार १०८ गा० ७९२) धर्मसंग्रह अधि० ३ श्लो० ७८ पृ० ३)

नोट—उपरोक्त अठारह बोल उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा से कहे गए हैं। अपवाद मार्ग में गुरु आदि इन दोषों की यतना देख कर सूत्र व्यवहार के अनुसार दीक्षा दे सकते हैं।

८९२–ब्रह्मचर्य के अठारह भेद

मन, वचन और काया को सांसारिक वासनाओं से हटा कर आत्मचिन्तन में लगाना ब्रह्मचर्य है। इसके अठारह भेद हैं–

दिव्वा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।
ओरालिया उ वि तहा तं बंभं अट्ठदसभेयं॥

अर्थात्–देवसम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काया से स्वयं सेवन करना, दूसरे से कराना तथा करते हुए को भला जानना, इस प्रकार नौ भेद हो जाते हैं। औदारिक अर्थात् मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी भोगों के लिए भी इसी प्रकार नौ भेद हैं। कुल मिलाकर अठारह भेद हो जाते हैं।

इन अठारह प्रकार के भोगों का सेवन न करना अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य है।

(समवायांग १८) (प्र० सा० द्वार १६८ गाथा १०६१)

८९३–अब्रह्मचर्य के अठारह भेद

ऊपर लिखे भोगों को सेवन करना अठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य है। (हरि. आवश्यक अ ४ पृ.६५०)

८९४–पौषध के अठारह दोष

जो व्रत धर्म की पुष्टि करता है उसे पौषधव्रत कहते हैं अथवा अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा रूप पर्व दिन धर्मवृद्धि के कारण होने से पौषध कहलाते है। इन पर्वों में उपवास करना पौषधोपवास व्रत है। यह व्रत चार प्रकार का है–(१) आहार पौषध (२) शरीर पौषध (३) ब्रह्मचर्य पौषध (४) अव्यापार पौषध।

आहार का त्याग करके धर्म का पोषण करना आहार पौषध है। स्नान, उबटन, वर्णक, विलेपन, पुष्प, गन्ध, ताम्बूल, वस्त्र, आभरण रूप शरीर सत्कार का त्याग करना शरीर पौषध है।

अब्रह्म (मैथुन) का त्याग कर कुशल अनुष्ठानों के सेवन द्वारा धर्मवृद्धि करना ब्रह्मचर्य पौषध है। कृषि, वाणिज्यादि सावद्य व्यापारों का त्याग कर धर्म का पोषण करना अव्यापार पौषध है।

आहार तनुसत्कारा ब्रह्म सावद्य कर्मणाम्।
त्यागं पर्व चतुष्टय्यां, तद्विदुः पौषधव्रतम्॥

भावार्थ- चारों पर्वों के दिन आहार, शरीर सत्कार, अब्रह्म और सावद्य व्यापारों का त्याग करना पौषधव्रत कहा गया है।

उक्त पौषध व्रत के शास्त्रकारों ने अठारह दोष बताए हैं। वे ये हैं-

(१) पौषध निमित्त ठूंस २ कर सरस आहार करना।
(२) पौषध की पहली रात्रि में मैथुन सेवन करना।
(३) पौषध के लिये नख, केश आदि का सत्कार करना।
(४) पौषध के ख्याल से वस्त्र धोना या धुलवाना।
(५) पौषध के लिये शरीर की शुश्रूषा करना।
(६) पौषध के निमित्त आभूषण पहिनना।

पौषधव्रत लेने के पहले दिन उक्त छः बातें करने से पौषध दूषित होता है। इस लिये इनका सेवन न करना चाहिए।

(७) अव्रती (व्रत न लिए हुए व्यक्ति) से वैयावृत्य कराना।
(८) शरीर का मैल उतारना।
(९) बिना पूँजे शरीर खुजलाना।
(१०) अकाल में निद्रा लेना, जैसे- दिन में नींद लेना, पहर रात जाने के पहले सो जाना और पिछली रात में उठकर धर्मजागरण न करना।
(११) बिना पूँजे परठना।
(१२) निंदा, विकथा और हँसी मजाक करना।
(१३) सांसारिक बातों की चर्चा करना।
(१४) स्वयं डरना या दूसरों को डराना।

८९२-ब्रह्मचर्य के अठारह भेद

मन, वचन और काया को सांसारिक वासनाओं से हटा कर आत्मचिन्तन में लगाना ब्रह्मचर्य है। इसके अठारह भेद है-

दिवा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।
ओरालिया उ वि तहा तं बंभं अट्ठदसभेयं ॥

अर्थात्-देवसम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काया से स्वयं सेवन करना, दूसरे से कराना तथा करते हुए को भला जानना, इस प्रकार नौ भेद हो जाते हैं। औदारिक अर्थात् मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी भोगों के लिए भी इसी प्रकार नौ भेद हैं। कुल मिलाकर अठारह भेद हो जाते हैं।

इन अठारह प्रकार के भोगों का सेवन न करना अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य है।

(समवायांग १८) (प्र० सा० द्वार १६८ गाथा १०६१)

८९३-अब्रह्मचर्य के अठारह भेद

ऊपर लिखे भोगों को सेवन करना अठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य है। (हरि. आवश्यक अ ४ पृ ६५०)

८९४-पौषध के अठारह दोष

जो व्रत धर्म की पुष्टि करता है उसे पौषधव्रत कहते हैं अथवा अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा रूप पर्व दिन धर्मवृद्धि के कारण होने से पौषध कहलाते है। इन पर्वों मे उपवास करना पौषधोपवास व्रत है। यह व्रत चार प्रकार का है-(१) आहार पौषध (२) शरीर पौषध (३) ब्रह्मचर्य पौषध (४) अव्यापार पौषध।

आहार का त्याग करके धर्म का पोषण करना आहार पौषध है। स्नान, उबटन, वर्णक, विलेपन, पुष्प, गन्ध, ताम्बूल, वस्त्र, आभरण रूप शरीर सत्कार का त्याग करना शरीर पौषध है।

अब्रह्म (मैथुन) का त्याग कर कुशल अनुष्ठानों के सेवन द्वारा धर्मवृद्धि करना ब्रह्मचर्य पौषध है। कृषि, वाणिज्यादि सावद्य व्यापारों का त्याग कर धर्म का पोषण करना अव्यापार पौषध है।

आहार तनुसत्कारा ब्रह्म सावद्य कर्मणाम्।
त्याग पर्व चतुष्टय्यां, तद्विदुः पौषधव्रतम्॥

भावार्थ- चारों पर्वों के दिन आहार शरीर सत्कार, अब्रह्म और सावद्य व्यापारों का त्याग करना पौषधव्रत कहा गया है।

उक्त पौषध व्रत के शास्त्रकारों ने अठारह दोष बताए हैं। वे ये हैं-

(१) पौषध निमित्त ठूंस २ कर सरस आहार करना।
(२) पौषध की पहली रात्रि में मैथुन सेवन करना।
(३) पौषध के लिये नख, केश आदि का सत्कार करना।
(४) पौषध के ख्याल से वस्त्र धोना या धुलवाना।
(५) पौषध के लिये शरीर की शुश्रूषा करना।
(६) पौषध के निमित्त आभूषण पहिनना।

पौषधव्रत लेने के पहले दिन उक्त छः बातें करने से पौषध दूषित होता है। इस लिये इनका सेवन न करना चाहिए।

(७) अव्रती (व्रत न लिए हुए व्यक्ति) से वैयावृत्य कराना।
(८) शरीर का मैल उतारना।
(९) बिना पूँजे शरीर खुजलाना।
(१०) अकाल में निद्रा लेना, जैसे- दिन में नींद लेना, पहर रात जाने के पहले सो जाना और पिछली रात में उठकर धर्मजागरण न करना।
(११) बिना पूँजे परठना।
(१२) निंदा, विकथा और हँसी मजाक करना।
(१३) सांसारिक बातों की चर्चा करना।
(१४) स्वयं डरना या दूसरों को डराना।

(१५) कलह करना।

(१६) खुले मुंह अयतना से बोलना।

(१७) स्त्री के अंग उपांग निहारना (निरखना)।

(१८) काका, मामा आदि सांसारिक सम्बन्ध के नाम से सम्बोधन करना।

सात से अठारह तक ये बारह बातें पौषध लेने के बाद की जायँ तो दोष रूप हैं। पौषध के इन अठारह दोषों का परिहार करके शुद्ध पौषध करना चाहिये। (श्रावक के चार शिक्षाव्रत)

८९५– अठारह पापस्थानक–

पाप के हेतु रूप हिंसादि स्थानक पापस्थानक है। पापस्थानक अठारह हैः–

(१) प्राणातिपात– प्रमाद पूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् आत्मा से उन्हे जुदा करना प्राणातिपात (हिंसा) है। हिंसा की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार कहते हैः–

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,
उच्छ्वास निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-
स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

अर्थात्–पाँच इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये भगवान् ने दश प्राण कहे हैं। इन का आत्मा से पृथक् करना हिंसा है।

प्राणातिपात द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। विनाश, परिताप और संक्लेश के भेद से यह तीन प्रकार का है। पर्याय का नाश करना विनाश है, दुःख उत्पन्न करना परिताप है और क्लेश पहुँचाना संक्लेश है। करण और योग के भेद से यह नव प्रकार का है। इन्हीं नौ भेदों को चार कषाय से गुणा करने

से प्राणातिपात के छत्तीस भेद हो जाते हैं।

(२) मृषावाद– मिथ्या वचनों का कहना मृषावाद है। मृषावाद द्रव्य, भाव के भेद से दो प्रकार का है। अभूतोद्भावन, भूतनिह्नव, वस्त्वन्तरन्यास और निन्दा के भेद से इसके चार प्रकार हैं। ये चारों प्रकार इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के २७०वें बोल में दिये हैं।

(३) अदत्तादान–स्वामी, जीव, तीर्थङ्कर और गुरु द्वारा न दी हुई सचित्त, अचित्त और मिश्र वस्तु को बिना आज्ञा प्राप्त किये लेना अदत्तादान अर्थात् चोरी है। महाव्रत की व्याख्या देते हुए इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग के ३१६वें बोल में इसका विशद वर्णन है।

(४) मैथुन– स्त्री पुरुष के सहवास को मैथुन कहते हैं। देव, मनुष्य और तिर्यञ्च के भेद से तथा करण और योग के भेद से इसके अनेक भेद हैं। अब्रह्मचर्य के अठारह भेद इस भाग में अन्यत्र दिये हैं।

(५) परिग्रह– मूर्च्छा ममता पूर्वक वस्तुओं का ग्रहण करना परिग्रह है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है। धर्मसाधन के सिवाय धन धान्यादि ग्रहण करना बाह्य है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

(६-९)–क्रोध, मान, माया, लोभ–कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले जीव के प्रज्वलन, अहङ्कार, वञ्चना एवं मूर्च्छा रूप परिणाम क्रमशः क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के बोल नं० १५८से १६६तथा २६१ में कषाय, प्रमाद आदि के वर्णन में इनका विशेष स्वरूप दिया गया है तथा अनन्तानुबन्धी आदि भेदों का निरूपण भी किया गया है।

(१०) राग– माया और लोभ जिसमें अप्रकट रूप से विद्यमान हों ऐसा आसक्तिरूप जीव का परिणाम राग है।

(११) द्वेष– क्रोध और मान जिसमें अव्यक्त भाव से मौजूद हों ऐसा अप्रीति रूप जीव का परिणाम द्वेष है।

(१२) कलह– झगड़ा, राड़ करना कलह है।

(१३) अभ्याख्यान– प्रकटरूप से अविद्यमान दोषों का आरोप लगाना– (झूठा आल) देना अभ्याख्यान है।

(१४) पैशुन्य– पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना, चाहे उस में हों या न हों, पैशुन्य है।

(१५) परपरिवाद– दूसरे की बुराई करना, निन्दा करना परपरिवाद है।

(१६) अरति रति– मोहनीय कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर जो उद्वेग होता है वह अरति है और इसी के उदय से अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर चित्त में जो आनन्द रूप परिणाम उत्पन्न होता है वह रति है। जीव को जब एक विषय में रति होती है तब दूसरे विषय में स्वतः अरति हो जाती है। यही कारण है कि एक वस्तु विषयक रति को ही दूसरे विषय की अपेक्षा से अरति कहते हैं। इसी लिये दोनों को एक पापस्थानक गिना है।

(१७) मायामृषा– मायापूर्वक झूठ बोलना मायामृषा है। दो दोषों के संयोग से यह पापस्थानक माना गया है। इसी प्रकार मान और मृषा इत्यादि के संयोग से होने वाले पापों का भी इसी में अन्तर्भाव समझना चाहिये। वेष बदल कर लोगों को ठगना मायामृषा है, ऐसा भी इसका अर्थ किया जाता है।

(१८) मिथ्यादर्शनशल्य– श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्या दर्शन है। जैसे शरीर में चुभा हुआ शल्य सदा कष्ट देता है इसी प्रकार मिथ्या दर्शन भी आत्मा को दुखी बनाये रखता है।

प्रवचनसारोद्धार में अठारह पापस्थानों में 'अरति रति' नहीं देकर छठा 'रात्रि भोजन' पापस्थानक दिया है।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ६ में बताया है कि इन अठारह पाप स्थानों से जीव कर्मों का संचय कर भारी बनता है और

इनका त्याग करने से जीव हलका होता है। बारहवें शतक के पाँचवें उद्देशे में अठारह पापस्थानों को चतु स्पर्शी बतलाया है।
(ठा० १ सू० ४८) (प्रव सा द्वा २३७ गा १३५१ ५३ (दशाश्रु दशा ६)
(भ श० १ उ० ६ सू० ६२) (भ० श० १२ उ० ५ सू ४५०)

८९६– चोर की प्रसूति अठारह–

नीचे लिखी अठारह बातें चोर की प्रसूति समझी जाती है अर्थात् स्वयं चोरी न करने पर भी इन बातों को करने वाला चोर का सहायक होने के कारण चोरी का अपराधि माना जाता है। वे इस प्रकार हैं–

भलन कुशलं तर्जा, राजभागोऽवलोकनम्।
अमार्गदर्शनं शय्या, पदभङ्गस्तथैव च॥
विश्राम पादपतनमासनं गोपन तथा।
खण्डस्य खादनं चैव तथाऽन्यन्माहराजिकम्।
पाद्याग्नुदक रज्जूनां, प्रदान ज्ञानपूर्वकम्।
एता प्रसूतयो ज्ञेया, अष्टादश मनीषिभि॥

(१) भलन– तुम डरो मत, मैं सब कुछ ठीक कर लूँगा, इस प्रकार चोर को प्रोत्साहन देना भलन नाम की प्रसूति है।

(२) कुशल– चोरों के मिलने पर उन से सुख दुःख आदि का कुशलप्रश्न पूछना।

(३) तर्जा– हाथ आदि से चोरी करने के लिए भेजने आदि का इशारा करना।

(४) राजभाग– राजा द्वारा नहीं जाने हुए धन को छिपा लेना और पूछने पर इन्कार कर देना।

(५) अवलोकन– किसी के घर में चोरी करते हुए चोरों को देख कर चुप्पी साध लेना।

(६) अमार्गदर्शन– पीछा करने वालों द्वारा चोरों का मार्ग

पूछने पर दूसरा मार्ग बता कर असली मार्ग को छिपा लेना।

(७) शय्या– चोर को ठहरने का स्थान देना।

(८) पदभङ्ग– जिस मार्ग से चोर गया है उस मार्ग पर पशु वगैरह ले जाकर चोर के पदचिह्नों को मिटा देना।

(९) विश्राम– अपने घर में विश्राम करने की अनुमति देना।

(१०) पादपतन– प्रणाम आदि के द्वारा चोर को सन्मान देना।

(११) आसन– चोर को आसन या बिस्तर देना।

(१२) गोपन– चोर को छिपा कर रखना।

(१३) खण्ड खादन–चोर को मीठा और स्वादिष्ट भोजन देना।

(१४) माहराजिक– चोर को जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे गुप्त रूप से उसके पास पहुँचाना।

(१५) पाद्यदान– कहीं बाहर से आए हुए चोर को थकावट उतारने के लिए पानी या तेल आदि देना।

(१६) चोर को रसोई बनाने के लिए आग देना।

(१७) पीने के लिए ठण्डा पानी देना।

(१८) चोर के द्वारा लाए हुए पशु आदि को बाँधने के लिए रस्सी देना। (प्रश्नव्याकरण अधर्मद्वार ३ सूत्र १० टीका)

८९७– क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय अध्ययन की अठारह गाथाएं।

संसार में जितने भी अविद्या प्रधान पुरुष हैं, अर्थात् मिथ्यात्व से जिनका ज्ञान कुत्सित है वे सभी दुःख के भागी हैं। अपने भले बुरे के विवेक से शून्य वे पुरुष इस अनन्त संसार में अनेक बार दरिद्रतादि दुःखों से दुखी होते हैं।

(२) स्त्री आदि के सम्बन्ध आत्मा को परवश बना देते हैं इस लिए ये पाश रूप हैं। ये तीव्र मोह को उत्पन्न कर आत्मा की ज्ञान

शक्ति को आवृत कर देते हैं और ये ही अज्ञानियों का दुःख के कारण हैं। यह विचार कर विवेकी पुरुष को स्वयं सत्य और सदागम की खोज करनी चाहिए एवं प्राणियों पर मैत्रीभाव रखना चाहिए।

(३) सत्यान्वेषी विवेकी पुरुष को यह सोचना चाहिए कि स्वकृत कर्मों से दुखी हुए जीव को माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू आदि घनिष्ठ सम्बन्धी भी दुःखों से नहीं छुड़ा सकते। वास्तव में धर्म ही सत्य है एवं उसके बिना संसार में कोई भी शरण रूप नहीं है।

(४) अपनी बुद्धि से उपरोक्त बात सोच कर एवं सम्यग्दृष्टि होकर जीव को विषयों में रहे हुए आसक्ति भाव को मिटा देना चाहिये, स्वजनों में राग न रखना चाहिए एवं पूर्व परिचय की इच्छा भी न करनी चाहिए।

(५) उपरोक्त बात को ही शास्त्रकार दूसरे शब्दों में दोहरा कर उसका फल बताते हैं। गाय, घोड़े, मणि, कुण्डल एवं सेवक वर्ग इन सभी का त्याग करने एवं संयम का पालन करने से यह आत्मा इसी भव में वैक्रियलब्धि द्वारा एवं परलोक में देव बन कर इच्छानुसार रूप बनाने वाला हो जाता है।

(६) सत्य के स्वरूप का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–स्थावर एवं जंगम सम्पत्ति, धान्य एवं गृह सामग्री ये सभी, कर्मों का फल भोगते हुए जीव को दुःख से नहीं बचा सकते।

(७) सत्य स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रकार आश्रव निरोध का उपदेश देते हैं–

इष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग से होने वाला सुख सभी जीवों को इष्ट है, उन्हें अपनी आत्मा प्रिय है तथा वे उसकी रक्षा करना चाहते हैं। यह सोच कर भय एवं वैर से निवृत्त होकर आत्मा को किसी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए।

(८) प्राणातिपात रूप आश्रव निरोध का उपदेश देकर शास्त्रकार परिग्रह रूप आश्रव निरोध के लिये कहते हैं– प्रथम एवं अन्तिम आश्रवनिरोध के कथन से बीच के आश्रवों का निरोध भी समझ लेना चाहिये।

धन धान्यादि परिग्रह को साक्षात् नरक समझ कर तृणमात्र का भी परिग्रह न करना चाहिए। क्षुधाविकल होने पर उसे अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा दिया गया भोजन करना चाहिये।

(९) आश्रव निरोध रूप संयम क्रिया अनावश्यक है। इस मान्यता के विषय में शास्त्रकार कहते हैं–

मुक्ति मार्ग का विचार करते हुए कई लोग कहते है कि प्राणातिपातादि रूप पाप का त्याग किये विना ही तत्त्वज्ञान मात्र से जीव सभी दुःखों से छूट जाता है।

(१०) औषध के ज्ञान मात्र से ही रोगी स्वस्थ नहीं होता किन्तु उसके सेवन से। इसी प्रकार क्रिया शून्य तत्त्वज्ञान भी भव दुःखों से नही छुड़ा सकता, यह सत्य है। बन्ध और मोक्ष को मानने वाले जो लोग ज्ञान को मुक्ति का अंग कहते है परन्तु मुक्ति के लिये कोई उपाय नही करते, वे लोग सत्य से परे हैं। केवल वाक्शक्ति से अपनी आत्मा को आश्वासन ही देते है।

(११) उक्त मान्यता के विषय में शास्त्रकार और भी कहते है–

'तत्त्व ज्ञान से ही मुक्ति हो जाती है' ये वचन एवं संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाएं आत्मा को पापो से बचाने में समर्थ नहीं हैं। न मन्त्र रूप विद्या की शिक्षा ही पाप से आत्मा की रक्षा कर सकती है। अपने को पंडित समझने वाले एवं हिंसादि पापों मे फँसे हुए ये लोग वास्तव में बाल (अज्ञानी) है।

(१२) अब सामान्यतः मुक्ति मार्ग के विरोधियो को दोष दिखाते हुए कहते हैं।

जो लोग शरीर, स्निग्ध, गौर, रूप, वर्ण एवं सुन्दर आकार में सब प्रकार मन, वचन और काया से आसक्त हैं। हम कैसे सुन्दर वर्ण और आकृति वाले बनें? इसके लिए जो निरन्तर सोचा करते हैं, रसायन आदि की चर्चा करते हैं एवं उसका उपयोग करते हैं। ये सभी लोग वास्तव में दु:ख के भागी हैं।

(१३) इन्हें कैसे दु:ख होता है यह बताते हुए शास्त्रकार उपदेश करते हैं–

इस अनन्त संसार में ये लोग जन्म मरण रूप दु:खमय दीर्घ मार्ग में पहुँचे हुए हैं। इसीलिये सभी द्रव्य और भाव दिशाओं की ओर देखते हुए निद्रादि प्रमाद का त्याग कर इस प्रकार विचरना चाहिए कि आत्मा इन्हीं में न भटक कर अपने गन्तव्य स्थान (मुक्ति) में पहुँच जाय।

(१४) संसार के दु:खों से छुटकारा चाहने वाले को चाहिए कि वह केवल मोक्ष को ही अपना उद्देश्य बना ले और किसी वस्तु की इच्छा न करे। यह शरीर भी उस पूर्व कृत कर्मों को क्षय करने के लिए ही अनासक्ति भाव से धारण करना चाहिए।

(१५) उसे कर्म के हेतु मिथ्यात्व, अविरति आदि को हटा कर क्रिया पालन के अवसर की इच्छा रखते हुए विचरना चाहिए। गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाए हुए भोजन में से संयम निर्वाह योग्य परिमित आहार पानी लेकर उसे खाना चाहिए।

(१६) मुमुक्षु को उस आहार का कतई लेपमात्र भी संचय न करना चाहिए। जैसे पक्षी केवल अपने पंखों के साथ उड़ जाता है उसी प्रकार उसे भी पात्रादि धर्मोपकरण लेकर स्थानादि की आसक्ति न रखते हुए निरपेक्ष होकर विचरना चाहिए।

(१७) संयमी को ग्राम नगरादि में एषणा समिति का पालन करते हुए अनियत वृत्ति वाला होकर विचरना चाहिए। उसे

प्रमाद रहित होकर गृहस्थ के यहाँ आहार की खोज करनी चाहिए।

(१८) उक्त उपदेश के प्रति आदर भाव हो इसलिए शास्त्रकार उपदेष्टा का वर्णन करते हैं–

सर्व श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन के धारक, इन्द्रादि से पूजित, विशाल तीर्थ के नायक ज्ञात पुत्र भगवान् महावीर ने यह उपदेश फरमाया है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ६)

८९८– दशवैकालिक प्रथम चूलिका की अठारह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र की दो चूलिकाएं हैं। प्रथम चूलिका में १८ गाथाएं हैं। संयम से गिरते हुए साधु को स्थिर करने के लिए उन गाथाओं में अठारह बातों का निर्देश किया गया है। किसी आपत्ति के आजाने पर साधु का चित्त चञ्चल हो जाय और संयम के प्रति उसे अरुचि हो जाय तो संयम को छोड़ने से पहले उसे इन अठारह बातों पर विचार करना चाहिए। जिस प्रकार चञ्चल घोड़ा लगाम से और मदोन्मत्त हाथी अकुंश से वश में आ जाते है उसी प्रकार इन अठारह बातों का विचार करने से चञ्चल बना हुआ साधु का मन पुनः संयम में स्थिर हो जाता है। वे अठारह ये है–

(१) इस दुःखम काल मे जीवन दुःख पूर्वक व्यतीत होता है।

(२) गृहस्थ लोगों के कामभोग तुच्छ और क्षणस्थायी है।

(३) इस काल के बहुत से मनुष्य कपटी एवं मायावी है।

(४) मुझे जो दुःख हुआ है वह बहुत काल तक नहीं रहेगा।

(५) संयम छोड़ देने पर मुझे गृहस्थों की सेवा करनी पड़ेगी।

(६) वमन किए हुए भोगों का पुनः पान करना होगा।

(७) आरम्भ और परिग्रह का सेवन करने से नीच गतियो में ले जाने वाले कर्म बंधेंगे।

(८) पुत्र पौत्रादि के बन्धनों में फँसे हुए गृहस्थों को पूर्ण रूप से धर्म की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

(९) विषूचिकादि रोग हो जाने पर बहुत दुःख होता है।

(१०) गृहस्थ का चित्त सदा संकल्प विकल्पों से घिरा रहता है।

(११) गृहस्थावास क्लेश सहित है और संयम क्लेश रहित है।

(१२) गृहस्थावास बन्धन रूप है और संयम मोक्ष रूप है।

(१३) गृहस्थावास पाप रूप है और चारित्र पाप से रहित है।

(१४) गृहस्थों के कामभोग तुच्छ एवं सर्व साधारण हैं।

(१५) प्रत्येक के पुण्य और पाप अलग अलग हैं।

(१६) मनुष्य का जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चञ्चल है।

(१७) मेरे बहुत ही प्रबल पाप कर्मों का उदय है इसीलिये संयम छोड़ देने के निन्दनीय विचार मेरे हृदय में उत्पन्न हो रहे हैं।

(१८) पूर्वकृत कर्मों को भोगने के पश्चात् ही मोक्ष होता है, बिना भोगे नहीं। अथवा तप द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है।

ये अठारह बातें हैं। इन्हीं का निर्देश अठारह गाथाओं में किया गया है। उनका भावार्थ क्रमशः इस प्रकार है:—

(१) कामभोगों में आसक्त, गृद्ध एवं मूर्च्छित बना हुआ अज्ञानी साधु आगामी काल के विषय में कुछ भी विचार नहीं करता।

(२) जिस प्रकार स्वर्ग से चव कर मनुष्य लोक में उत्पन्न होने वाला इन्द्र अपनी पूर्व की ऋद्धि को याद कर पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार चारित्र धर्म से भ्रष्ट साधु भी पश्चात्ताप करता है।

(३) जब साधु संयम का पालन करता है तब तो सब लोगों का वन्दनीय होता है किन्तु संयम से पतित हो जाने के बाद वह अवन्दनीय हो जाता है। जिस प्रकार इन्द्र द्वारा परित्यक्ता देवी

पश्चात्ताप करती है उसी प्रकार संयम से भ्रष्ट हुआ साधु भी पश्चात्ताप करता है।

(४) संयम में स्थिर साधु सब लोगों का पूजनीय होता है, किन्तु संयम से भ्रष्ट हो जाने के बाद वह अपूजनीय हो जाता है। संयम भ्रष्ट साधु राज्यभ्रष्ट राजा के समान सदा पश्चात्ताप करता है।

(५) संयम का पालन करता हुआ साधु सर्वमान्य होता है। किन्तु संयम छोड़ देने के बाद वह जगह जगह अपमानित होता है। जैसे किसी छोटे से गांव में कैद किया हुआ नगर सेठ पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार संयम से पतित साधु भी पश्चात्ताप करता है।

(६) जिस प्रकार लोह के कांटे पर लगे हुए मांस को खाने के लिये मछली उस पर झपटती है किन्तु गले में कांटा फंस जाने के कारण पश्चात्ताप करती हुई मृत्यु को प्राप्त करती है, इसी प्रकार यौवन अवस्था के बीत जाने पर वृद्धावस्था के समय संयम से पतित होने वाला साधु भी पश्चात्ताप करता है। जिस प्रकार मछली न तो उस लोह के कांटे को गले से नीचे उतार सकती है और न गले से बाहर निकाल सकती है, उसी प्रकार वह वृद्ध साधु न तो भोगों को भोग सकता है और न उन्हें छोड़ सकता है। यों ही कष्टमय जीवन समाप्त कर मृत्यु के मुँह में पहुँच जाता है।

(७) विषय भोगों के झूठे लालच मे फंस कर संयम से गिरने वाले साधु को जब इष्ट संयोगों की प्राप्ति नहीं होती तब बन्धन में पड़े हुए हाथी के समान बारबार पश्चात्ताप करता है।

(८) स्त्री, पुत्र आदि से घिरा हुआ और मोह में फंसा हुआ वह संयमभ्रष्ट साधु कीचड़ में फंसे हुए हाथी के समान पश्चात्ताप करता है।

(९) संयम से पतित हुआ कोई कोई साधु इस प्रकार विचार करता है कि यदि मैं साधुपना न छोड़ता और वीतराग प्ररूपित

संयम धर्म का पालन करता हुआ शास्त्रों का अभ्यास करता रहता तो आज मैं आचार्य पद पर सुशोभित होता।

(१०) जो महर्षि संयमक्रिया में रत हैं वे संयम को स्वर्गीय सुखों से भी बढ़ कर मानते हैं किन्तु जो संयम स्वीकार करके भी उस में रुचि नहीं रखते उन्हें संयम नरक के समान दुखदायी प्रतीत होता है।

(११) संयम में रत रहने वाले देवों के समान सुख भोगते हैं और संयम से विरक्त रहने वाले नरक के समान दुःख भोगते हैं, ऐसा जान कर साधु को सदा संयम मार्ग में ही रमण करना चाहिये।

(१२) संयम और तप से भ्रष्ट साधु बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और जिसकी विषैली दाढ़ें निकाल दी गई हैं ऐसे विषधारी साप के समान सब जगह तिरस्कृत होता है।

(१३) ग्रहण किये हुए व्रतों को खण्डित करने वाला और अधर्म मार्ग का सेवन करने वाला संयम भ्रष्ट साधु इस लोक में अपयश और अकीर्ति का भागी होता है और परलोक में नरक आदि नीच गतियों में भ्रमण करता हुआ चिर काल तक असह्य दुख भोगता है।

(१४) संयम से भ्रष्ट जो साधु कामभोगों में गृद्ध बन कर उनका सेवन करता है वह मर कर नरक आदि नीच गतियों में जाता है। फिर जिनधर्म प्राप्ति रूप बोधि उसके लिए दुर्लभ हो जाती है।

(१५) संकट आ पड़ने पर संयम से डिगने वाले साधु को विचार करना चाहिए कि नरकों में उत्पन्न होकर मेरे इस जीव ने अनेक कष्ट सहन किये हैं और वहाँ की पल्योपम और सागरोपम जैसी दुखपूर्ण लम्बी आयु को भी समाप्त करके वहाँ से निकल आया है तो यह चारित्रविषयक कष्ट तो है ही क्या चीज ! यह तो अभी थोड़े ही समय में नष्ट हो जायगा।

(१६) साधु को संयम के प्रति जब अरुचि उत्पन्न हो उस समय उसे ऐसा विचार करना चाहिए कि मेरा यह अरति जन्य दुःख अधिक दिनों तक नहीं रहेगा, क्योंकि जीव की विषयवासना अशाश्वत है। यदि शरीर में शक्ति के रहते हुए यह नष्ट न होगी तो वृद्धावस्था आने पर अथवा मरने पर तो अवश्य नष्ट हो जायगी।

(१७) जिस मुनि की आत्मा धर्म में दृढ़ होती है, अवसर पड़ने पर वह अपने प्राणों को धर्म पर न्योछावर कर देता है किन्तु संयम मार्ग से विचलित नहीं होता। जिस प्रकार प्रलय काल की प्रचण्ड वायु भी सुमेरु पर्वत को कम्पित नहीं कर सकती, उसी प्रकार चञ्चल इन्द्रियाँ भी उक्त मुनि को धर्म से विचलित नहीं कर सकतीं।

(१८) बुद्धिमान् साधु को पूर्वोक्त रीति से विचार करके ज्ञान और विनय आदि लाभ के उपायों को जानना चाहिये और मन, वचन, काया रूप तीन गुप्तियों से गुप्त होकर जिन वचनों का यथावत् पालन करना चाहिए। (दशवैकालिक १ चूलिका)

उन्नीसवां बोल संग्रह

८९०— कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष

घोडगलया य खम्भे कुड्डे माल य सवरि वहु नियल।
लम्बुत्तर थण उद्धी संजय खलिणे य वायस कविट्ठे॥
सीसो कंपिय मूई अंगुलि भमुहा य वारुणी पेहा।
एए काउसग्ग हवन्ति दोसा इगुणवीसं॥

अर्थात्- घोटक लता, स्तम्भकुड्य माल, शबरी, वधू, निगड लम्बोत्तर, स्तन उद्धिका, संयती, खलीन, वायस, कपित्थ शीर्षकम्पित मूक अंगुलिकाभ्रू वारुणी, प्रेक्षा ये कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष हैं।

(१) घोटक दोष- घोड़े की तरह एक पैर को आकुंचित कर (मोड़ कर) खड़े रहना।

(२) लतादोष—तेज हवा से प्रकम्पित लता की तरह कांपना।

(३) स्तम्भकुड्य दोष— खम्भे या दीवाल का सहारा लेना।

(४) मालदोष- माल यानि ऊपरी भाग में सिर टेक कर कायोत्सर्ग करना।

(५) शबरी दोष- वस्त्र रहित शबरी (भिल्लनी) जैसे गुह्य स्थान को हाथों से ढक कर खड़ी रहती है उसी तरह दोनों हाथ गुह्यस्थान पर रख कर खड़े रहना।

(६) वधू दोष-कुलवधू की तरह मस्तक झुका कर खड़े रहना।

(७) निगड़ दोष- बेड़ी पहन हुए पुरुष की तरह दोनों पैर फैला कर अथवा मिला कर खड़े रहना।

(८) लम्बोत्तर दोष- अविधि से चोलपट्टे को नाभि के ऊपर

और नीचे घुटने तक रख कर खड़े रहना।

(९) स्तन दोष– डांस, मच्छर के भय से अथवा अज्ञान से चोलपट्टे द्वारा छाती ढक कर कायोत्सर्ग करना

(१०) ऊर्द्धिका दोष– एड़ी मिला कर और पंजों को फैला कर खड़े रहना अथवा अंगूठे मिला कर और एड़ी फैला कर खड़े रहना ऊर्द्धिका दोष है।

(११) संयती दोष– साध्वी की तरह कपड़े से शरीर ढक कर कायोत्सर्ग करना।

(१२) खलीन दोष– लगाम की तरह रजोहरण को आगे रख कर खड़े रहना। लगाम से पीड़ित अश्व की तरह मस्तक को ऊपर नीचे हिलाना खलीन दोष है, कई आचार्य खलीन दोष की ऐसी व्याख्या भी करते हैं।

(१३) वायस दोष– कौवे की तरह चञ्चल चित्त होकर इधर उधर आखें घुमाना अथवा दिशाओं की ओर देखना।

(१४) कपित्थ दोष– षट्पदिका (जूँ) के भय से चोलपट्टे को कपित्थ की तरह गोलाकार करके जंघादि के बीच रख कर खड़े रहना। मुट्ठी बाँध कर खड़े रहना कपित्थ दोष है ऐसा भी अर्थ किया जाता है।

(१५) शीर्षोत्कम्पित दोष– भूत लगे हुए व्यक्ति की तरह सिर धुनते हुए खड़े रहना।

(१६) मूक दोष– मूक व्यक्ति की तरह हुँ हुँ इस तरह अव्यक्त शब्द करते हुए कायोत्सर्ग करना।

(१७) अंगुलिकाभ्रू दोष– आलापकों (पाठ की आवृत्तियो) को गिनने के लिए अंगुली हिलाना एवं दूसरे व्यापार के लिए भौंह चला कर संकेत करना।

(१८) वारुणी दोष–तैयार की जाती हुई शराब से, जैसे 'बुड-

घुड' शब्द निकलता है उसी प्रकार अव्यक्त शब्द करते हुए खड़े रहना अथवा शराबी की तरह झूमते हुए खड़े रहना।

(१६) प्रेक्षा दोष–नमस्कार आदि का चिन्तन करते हुए वानर की तरह ओठों को चलाना।

योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष बतलाये हैं। उनके मतानुसार स्तम्भ दोष, कुड्य दोष, अंगुली दोष और भ्रू दोष चार हैं, जिनका ऊपर स्तम्भकुड्य दोष, अंगुलि काभ्रू दोष इन दो दोषों में समावेश किया गया है।

(हरिभद्रीयावश्यक अ ५ गा० १५४६-४७)
(प्रवचन सारोद्धार द्वार ५ गाथा २४७-२६२)
(योगशास्त्र तृतीय प्रकाश पृष्ठ २५०)

९००– ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र की १९ कथाएं

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के गौतम स्वामी आदि ग्यारह गणधर हुए हैं। "उप्पण्णेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर गणधरों ने द्वादशाङ्गी की रचना की, जिसमें ज्ञान दर्शन चारित्र ये तीन मोक्ष के उपाय बतलाए गए हैं। सब शास्त्रों के मुख्य रूप से चार विभाग हैं– द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग। छठा अङ्ग 'ज्ञाताधर्मकथाङ्ग' सूत्र में कथानुयोग का वर्णन है।

भगवान् महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों में से पाँचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी की ही पाट परम्परा चली है। वर्तमान द्वादशांगी के रचयिता श्री सुधर्मा स्वामी ही माने जाते हैं। उनके प्रधान शिष्य श्री जम्बू स्वामी ने प्रश्न किये हैं और उन्होंने उत्तर दिये हैं। उत्तर देते समय सुधर्मा स्वामी ने प्रत्येक स्थल में ये शब्द कहे हैं–हे आयुष्मन् जम्बू! जैसा मैंने भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही तुझे कहता हूँ।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इस द्वादशांगी का कथन सर्वज्ञ देव श्री महावीर स्वामी ने भव्य प्राणियों के हितार्थ किया है। इसमें श्री गौतम स्वामी और श्री सुधर्मा स्वामी की स्वतन्त्र प्ररूपणा कुछ भी नहीं है। 'जैसा भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है वैसा ही मैं तुझे कहता हूँ' इस वाक्य से श्री सुधर्मा स्वामी ने "आणाए धम्मो" अर्थात् वीतराग भगवान की आज्ञा में ही धर्म है और उनके वचन को विनय पूर्वक स्वीकार करना धर्म का मुख्य अंग है, इस तत्त्व का भली भांति प्रतिपादन किया है। श्री जम्बू स्वामी ने वारवार प्रश्न किये हैं। इससे यह बतलाया गया है कि शिष्य को विनयपूर्वक जिज्ञासा बुद्धि से प्रश्न करके गुरु से ज्ञान ग्रहण करना चाहिए क्योंकि विनयपूर्वक ग्रहण किया हुआ ज्ञान ही आत्मकल्याण में सहायक होता है।

जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे श्री सुधर्मा स्वामी कहते है कि छठे अंग श्री ज्ञाताधर्मकथा के दो श्रुतस्कन्ध कहे गए है- ज्ञाता और धर्म कथा। ज्ञाता नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययन है। प्रत्येक अध्ययन मे एक दृष्टान्त (उदाहरण) दिया गया है और अन्त मे दार्ष्टान्तिक के साथ सुन्दर समन्वय करके धर्म के किसी एक तत्त्व को दृढ़ किया गया है। यह सम्पूर्ण सूत्र गद्यमय है। कहीं-कहीं पर कुछ गाथाएं दी गई है। इस शास्त्र में नगर, उद्यान, महल, शय्या, समुद्र, स्वप्न, स्वप्नों के फल आदि का तथा हाथी, घोड़े, राजा, रानी, सेठ, सेनापति आदि जंगम पदार्थों का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक दिया गया है। कथा भाग की अपेक्षा वर्णन का भाग अधिक है। जहाँ पर पूर्व पाठ का वर्णन फिर से आया है वहाँ "जाव (यावत्)" शब्द देकर पूर्व पाठ की भलामण दी गई है।

सामान्य ग्रन्थ की अपेक्षा शास्त्र में गम्भीरता और गुरुगमता

विशेष होती है। इस लिए शास्त्र अध्ययन के अभिलाषी मुमुक्षु आत्माओं को शास्त्र का अध्ययन श्रद्धा पूर्वक गुरु के पास ही करना चाहिए। इस तरह से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही आत्म कल्याण में विशेष सहायक होता है।

(१) मेघकुमार की कथा

पहला अध्ययन– विनय का स्वरूप बतलाने के लिए पहला अध्ययन कहा गया है। इसका नाम 'उत्क्षिप्त' है। यदि कोई शिष्य अविनीत हो जाय तो उसे मीठे वचनों से उपालम्भ देकर गुरु को चाहिए कि वह उसे विनय मार्ग में प्रवृत्ति करावे। इस प्रकार उपदेश देने के लिए पहले अध्ययन में मेघकुमार का दृष्टान्त दिया गया है।

राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम नन्दा देवी था। उसकी कुक्षि से उत्पन्न हुआ अभयकुमार नाम का पुत्र था। वह राजनीति में बहुत चतुर था। औत्पातिकी, वैनयिकी आदि चारों बुद्धियों का निधान था। वह राजा का मंत्री था।

श्रेणिक राजा की छोटी रानी का नाम धारिणी था। एक समय रात्रि के पिछले पहर में उसने हाथी का शुभ स्वप्न देखा। राजा के पास जाकर उसने अपना स्वप्न सुनाया। राजा ने कहा–देवि! इस शुभस्वप्न के प्रभाव से तुम्हारी कुक्षि से किसी पुण्यशाली प्रतापी बालक का जन्म होगा। यह सुन कर रानी बहुत प्रसन्न हुई।

दूसरे दिन प्रातःकाल स्वप्नपाठकों को बुला कर राजा ने स्वप्न का अर्थ पूछा। उन्होंने बतलाया कि यह स्वप्न बहुत शुभ है। रानी की कुक्षि से किसी पुण्यशाली प्रतापी बालक का जन्म होगा।

यत्नापूर्वक अपने गर्भ का पालन करती हुई धारिणी रानी समय बिताने लगी। तीसरे महीने में रानी को अकाल मेघ का दोहद (दोहला) उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगी–बिजली सहित

गर्जता हुआ मेघ हो, छोटी छोटी बूंदें पड़ रही हों, सर्वत्र हरियाली हो, मोर नाच रहे हों आदि सारी बातें वर्षाऋतु की हों। ऐसे समय में वनक्रीड़ा करने वाली माताएं धन्य हैं। यदि मुझे भी ऐसा योग मिले तो वैभार पर्वत के समीप क्रीड़ा करती हुई मैं अपना दोहद पूर्ण करूँ।

धारिणी रानी की इच्छा पूरी न होने से वह प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। दासियों ने जाकर राजा को इस बात की सूचना दी। राजा ने रानी से पूछा–प्रिये! तुम्हारे दुर्बल होने का क्या कारण है और तुम इस प्रकार आर्तध्यान क्यों कर रही हो? तब रानी ने अपने दोहद की बात कही। राजा ने कहा–मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे तुम्हारी इच्छा शीघ्र ही पूर्ण होगी। इस प्रकार रानी को आश्वासन देकर राजा वापिस अपने महल में चला आया। रानी के दोहद को पूर्ण करने का वह उपाय सोचने लगा किन्तु उसे कोई उपाय न मिला। इससे राजा आर्तध्यान करने लगा। इसी समय अभयकुमार अपने पिता के पादवन्दन करने के लिए वहाँ आया। अभयकुमार के पूछने पर राजा ने उसे अपनी चिन्ता का कारण बता दिया। अभयकुमार ने कहा–पिताजी! आप चिन्ता मत कीजिये। मैं शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे मेरी लघु माता का दोहद शीघ्र ही पूरा होगा।

अपने स्थान पर आकर अभयकुमार ने विचार किया कि अकाल मेघ का दोहला देवता की सहायता के बिना पूरा नहीं हो सकता। ऐसा विचार कर अभयकुमार पौषधशाला में आया। अट्ठम तप (तीन उपवास) स्वीकार करके अपने पूर्वभव के मित्र देव का स्मरण करता हुआ वह समय बिताने लगा। तीसरे दिन अभयकुमार का पूर्व मित्र सौधर्म कल्पवासी एक देव उसके सामने प्रकट हुआ। अभयकुमार ने उसके सामने अपनी इच्छा प्रकट की।

देव ने कहा– हे आर्य ! मैं अकाल में वर्षाऋतु की विक्रिया (रचना) करूँगा जिससे तुम्हारी लघुमाता का दोहद पूर्ण होगा। ऐसा कह कर वह देव वापिस अपने स्थान पर चला गया ।

दूसरे दिन देव ने वर्षाऋतु की विक्रिया की । आकाश में सर्वत्र मेघ छा गये और छोटी छोटी बूंदें गिरने लगीं । हाथी पर बैठ कर रानी धारिणी राजा के साथ वन में गई । वैभार पर्वत के पास वनक्रीड़ा करती हुई रानी अपने दोहले को पूर्ण करने लगी । दोहला पूर्ण होने पर रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई ।

नौ मास पूर्ण होने पर रानी की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ । दासियों द्वारा पुत्रजन्म की सूचना पाकर राजा को बहुत हर्ष हुआ । गर्भावस्था में रानी को मेघ का दोहला उत्पन्न हुआ था इसलिए पुत्र का नाम मेघकुमार रखा गया ।

योग्य वय होने पर मेघकुमार को पुरुष की ७२ कलाओं की शिक्षा दी गई । युवावस्था को प्राप्त होने पर मेघकुमार का विवाह सुन्दर, सुशील और स्त्री की ६४ कलाओं में प्रवीण आठ राजकन्याओं के साथ किया गया ।

एक समय भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के बाहर गुणशील नामक उद्यान में पधारे । भगवान् का आगमन सुनकर प्रजाजन, राजा और मेघकुमार भगवान् को वन्दना करने के लिए गये । भगवान् ने धर्मोपदेश फरमाया । उपदेश सुन कर मेघकुमार को संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया ।

घर आकर माता पिता से दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी । बड़ी कठिनाई के साथ माता पिता से दीक्षा की आज्ञा प्राप्त की । राजा श्रेणिक ने बड़े समारोह और धूमधाम के साथ दीक्षा महोत्सव किया । मेघकुमार दीक्षा लेकर ज्ञानाभ्यास करने लगे । रात्रि के समय जब सोने का वक्त आया तब मेघकुमार का बिछौना सब साधुओं

के अन्त में किया गया क्योंकि दीक्षा में वे सब से छोटे थे। रात्रि में इधर उधर आने जाने वाले साधुओं के पादसंघट्टन से मेघकुमार को नींद नहीं आई। नींद न आने से मेघकुमार अतिखेदित हुए और विचार करने लगे कि प्रातःकाल ही भगवान् की आज्ञा लेकर ली हुई इस प्रव्रज्या को छोड़ कर वापिस अपने घर चला जाऊँगा। ऐसा विचार कर प्रातःकाल होते ही मेघकुमार भगवान् के पास आज्ञा लेने को आये। मेघकुमार के विचारों एवं उनके मनोगत भावों को केवलज्ञान से जान कर भगवान् फरमाने लगे कि हे मेघ! तुम इस जरा से कष्ट से घबरा गये। तुम अपने पूर्वभव को तो याद करो। पहले हाथी के भव में वन में लगी हुई दावानल को देख कर तुम भयभ्रान्त होकर वहाँ से भागने लगे किन्तु आगे जाकर तालाब के कीचड़ में बहुत बुरी तरह से फंस गये और बहुत कोशिश करने पर भी निकल न सके। इतने में एक दूसरा हाथी आगया और उसके दंत प्रहार से मर कर फिर दूसरे जन्म में भी हाथी हुए। एक वक्त जंगल में लगी हुई दावानल को देख कर तुम्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। ऐसे दावानल से बचने के लिए गंगा नदी के दक्षिण किनारे पर एक योजन का लम्बा चौड़ा एक मण्डल बनाया। एक वक्त जंगल में फिर आग लगी उससे बचने के लिए फिर तुम अपने मण्डल (घेरा) में आये। वहाँ पहले से ही बहुत से पशु, पक्षी आकर ठहरे हुए थे। मण्डल जीवों से खचाखच भरा हुआ था। बड़ी मुश्किल से तुम को थोड़ी सी जगह मिली। कुछ समय बाद अपने शरीर को खुजलाने के लिए तुमने अपना पैर उठाया। इतने में दूसरे बलवान् प्राणियों द्वारा धकेला हुआ एक शशक (खरगोश) उस जगह आ पहुँचा। शरीर को खुजला कर जब तुम वापिस अपना पैर नीचे रखने लगे तो एक शशक को बैठा हुआ देखा। तब–

पाणाणुकंपाए, भूयाणुकंपाए, जीवाणुकंपाए, सत्ताणुकंपाए

अर्थात्– प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की अनुकम्पा से तुमने अपना पैर ऊपर अधर ही रखा किन्तु नीचे नहीं रखा। उन प्राण (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), भूत (वनस्पतिकाय), जीव (पञ्चेन्द्रिय जीव) और सत्त्वों (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय) की अनुकम्पा करके तुमने संसार परित्त किया और मनुष्य आयु का बंध किया। अढ़ाई दिन में वह दावानल शान्त हुआ। सब पशु वहाँ से निकल कर चले गये। तुमने चलने के लिए अपना पैर लम्बा किया किन्तु तुम्हारा पैर अकड़ गया जिससे तुम एकदम पृथ्वी पर गिर पड़े और शरीर में अत्यन्त वेदना उत्पन्न हुई। तीन दिन तक वेदना को सहन कर सौ वर्ष की आयुष्य पूर्ण करके तुम धारिणी रानी के गर्भ में आये।

हे मेघ ! तिर्यञ्च के भव में प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों पर अनुकम्पा कर तुमने पहले कभी नहीं प्राप्त हुए सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति की। हे मेघ ! अब तुम विशाल कुल में उत्पन्न होकर गृहस्थाश्रम को छोड़ साधु बने हो तो क्या साधुओं के पादस्पर्श से होने वाले जरा से कष्ट से घबरा गये।

भगवान् के उपरोक्त वचनों को सुन कर मेघकुमार को जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न होगया। फिर मेघकुमार ने संयम में दृढ़ होकर भगवान् की आज्ञा से भिक्षु की बारह पडिमा अङ्गीकार की और गुणरत्नसंवत्सर वगैरह तप किये। अन्त में संलेखना संथारा कर के विजय नामक अनुत्तर विमान में ३३ सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में पैदा होकर संयम लेगा और मोक्ष जायगा।

जिस प्रकार संयम से विचलित होते हुए मेघकुमार को भगवान् ने मधुर शब्दों से उपालम्भ देकर संयम में स्थिर कर दिया

उसी प्रकार गुरु को चाहिए कि संयम में विचलित होते हुए शिष्य को मधुर शब्दों से समझा कर पुनः संयम में स्थिर कर दे।

(२) धन्ना सार्थवाह और विजय चोर की कथा

दूसरा संघट्ट ज्ञात अध्ययन– अनुचित प्रवृत्ति करने वाले को अनर्थ की प्राप्ति होती है और सम्यग् अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तथा उचित प्रवृत्ति करने वाले को सम्यग् अर्थ की प्राप्ति होती है। यह बतलाने के लिए धन्ना सार्थवाह और विजय नामक चोर का दृष्टान्त दूसरे अध्ययन में दिया गया है।

राजगृह नगर में धन्ना नामक एक सार्थवाह रहता था। उसी नगर में विजय नाम का एक चोर रहता था। वह बहुत ही पाप कर्म करने वाला और क्रूर था। एक समय धन्ना सार्थवाह की स्त्री भद्रा ने अपने पुत्र देवदत्त को स्नान मज्जन करा कर तथा आभूषणों से अलंकृत कर अपने दास पंथक के हाथ में देकर बाहर खिलाने के लिए भेजा। पंथक दास देवदत्त को एक जगह बिठा कर दूसरे बालकों के साथ खेलने लग गया। इतने में विजय नामक चोर वहाँ आ पहुँचा और देवदत्त बालक को उठा ले गया। एकान्त में ले जा कर उसे मार डाला और उसके सारे आभूषण उतार लिए। उसके मृतक शरीर को एक कुए में डाल कर मालुककच्छ में छिप गया। धन्ना सार्थवाह ने पुलिस को खबर दी। पुलिस ने विजय चोर को ढूंढ कर उसे कैदखाने में डाल दिया।

एक बार राज्य के कर (महसूल) की चोरी करने के कारण धन्ना सार्थवाह राज्य का अपराधी साबित हुआ। इसलिए उसे भी कैद-खाने में डाल दिया और संयोगवश उसी खोड़े में डाला जिसमें आगे विजय चोर था। खोड़ा एक होने के कारण दोनों का आना जाना, उठना बैठना एक ही साथ होता था। जब धन्ना सार्थ-

वाह टट्टी, पेशाब आदि करने के लिए जाने की इच्छा करता तो वह चोर साथ चलने में इन्कार हो जाता। तब दूसरा कोई उपाय न होने के कारण धन्ना सार्थवाह अपने भोजन में से थोड़ा भोजन उस चोर को भी देता और उसे अपने अनुकूल रखता। जब धन्ना सार्थवाह कैद से छूट कर घर आया तो अपने पुत्र की हत्या करने वाले चोर को भोजन देने के कारण उसकी पत्नी ने उसका तिरस्कार किया और उपालम्भ दिया। तब धन्ना ने उस चोर को भोजन देने का कारण समझाया और अपनी पत्नी के क्रोध को शान्त किया।

उपरोक्त दृष्टान्त देकर शास्त्रकार ने इसका निगमन (उपनय) इस प्रकार घटाया है—राजगृह नगर के समान मनुष्य क्षेत्र है। धन्ना सार्थवाह के समान साधु है। विजय चोर के समान शरीर है। पुत्र के समान निरुपम आनन्द को देने वाला संयम है। अयोग्य आचरण करने से इसका विनाश हो जाता है। आभूषणों के समान शब्दादि विषय हैं। इनका सेवन करने से संयम का विनाश हो जाता है। हडिबन्धन (खोड़े) के समान जीव और शरीर का सम्बन्ध है। राजा के समान कर्म परिणाम और राजपुरुषों के समान कर्मों के भेद हैं। छोटे से अपराध के समान मनुष्यायु बन्ध के कारण हैं। मलमूत्रादि की निवृत्ति के समान प्रत्युपेक्षण (पडिलेहना) आदि कार्य हैं अर्थात् जिस प्रकार अपने भोजन में से कुछ हिस्सा विजय चोर को न देने से वह मलमूत्रादि की निवृत्ति के लिए धन्ना सार्थवाह के साथ नहीं जाता था इसी प्रकार इस शरीर को भोजन आदि न देने से पडिलेहणा आदि संयम क्रियाओं में सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हो सकती। पन्थक दास के समान मुग्ध (शब्दादि विषयों में आसक्त होने वाला) साधु है। सार्थवाही के समान आचार्य हैं। दूसरे साधुओं से सुन कर वे भोजनादि से पुष्ट शरीर वाले साधु को

उपालम्भ देने लगते हैं किन्तु उस साधु के द्वारा वेदना की शान्ति, वैयावच्च आदि कारण बतला देने पर वे आचार्य सन्तुष्ट हो जाते हैं।

जिस तरह धन्ना सार्थवाह ने दूसरा उपाय न होने के कारण अपने पुत्र को मारने वाले चोर को भोजन दिया इसी तरह साधु को चाहिए कि सिर्फ संयम के निर्वाह के लिए चोर समान इस शरीर को भोजन दे, शरीर की पुष्टि आदि किसी दूसरे उद्देश्य के लिए नहीं। जिस तरह सराय में ठहरने के लिए मकान का भाड़ा देना पड़ता है उसी तरह संयम निर्वाह के लिए शरीर को भोजन रूपी भाड़ा देना चाहिए।

(३) जिनदत्त और सागरदत्त की कथा

तीसरा अण्डक ज्ञात अध्ययन—समकित की शुद्धि के लिए शंका दोष का त्याग करना चाहिए। शंका दोष का त्याग करने वाले पुरुष को शुद्ध समकित रत्न की प्राप्ति होती है और शंका आदि करने वाले को समकित रत्न की प्राप्ति नहीं होती। इस बात को बताने के लिए तीसरे अध्ययन में अण्डे का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी के अन्दर जिनदत्त और सागरदत्त नाम के दो सार्थवाह पुत्र रहते थे। वे दोनों बालमित्र थे। क्रीड़ा के लिए उद्यान में गए हुए दोनों मित्रों ने एक जगह मयूरी के अण्डे देखे। उन अण्डों को उठा कर वे दोनों मित्र अपने अपने घर ले आये और कूकड़ी के अण्डों के साथ रख दिये।

सागरदत्त को यह शंका हुई कि इन अण्डों में से मयूरी के बच्चे पैदा होंगे या नहीं? इसलिए वह उनको बारबार हिला कर देखने लगा। हिलाने से वे अण्डे निर्जीव हो गये। जिससे उसको अति खेद और चिन्ता हुई।

जिनदत्त ने उन अण्डों के विषय में कोई शंका न की, इसलिए

उनको हिलाया डुलाया भी नहीं, जिसम समय पर उन अण्डों म मयूरी क बच्चे पैदा हुए। फिर वह उन बच्चों को मयूरी पोपक स शिक्षित करा कर नृत्य और क्रीड़ाएं करवाता हुआ आनन्द का अनुभव करने लगा।

उपरोक्त दृष्टान्त देकर शास्त्रकार ने साधु साध्वी श्रावक श्राविका को यह उपदेश दिया है कि वीतराग जिनेश्वर देव क कहे हुए तत्त्वों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि सन्देह ही अनर्थ का कारण है। जिन वचनों में निःशंक रहना चाहिए। यदि कदाचित् शास्त्र का कोई गहन तत्त्व बराबर समझ में न आवे तो अपनी बुद्धि की मन्दता और ज्ञानावरणीय का उदय समझ कर कभी विद्वान आचार्य का संयोग मिलने पर उस तत्त्व का निर्णय करने की बुद्धि रखनी चाहिए किन्तु शङ्कित न होना चाहिए।

तहमेव सच्च निस्सक ज जिणेहिं पवेइय।

अर्थात्-जो केवली भगवान् ने फरमाया है वही सत्य है। ऐसी दृढ श्रद्धा रखनी चाहिए क्योंकि तीर्थङ्कर देवों ने सकल ससार क प्राणियों क परोपकार क लिए ही इन तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। व राग द्वेष और मोह स रहित होते हैं इसलिए उनको झूठ बोलने का कोई कारण ही नहीं है। अत वीतराग जिनेश्वर क वचनों में निःशङ्कित और निष्कांक्षित होना चाहिए।

(४) कछुए और शृगाल की कथा

चौथा 'कूर्मज्ञात' अध्ययन-अपनी पाँच इन्द्रियों को वश में रखने स गुण की प्राप्ति होती है और वश में न रखने स अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। इसके लिए दो कछुओं और शृगालों का दृष्टान्त इस अध्ययन में दिया गया है।

वाराणसी नगरी के बाहर गंगा नदी क किनारे एक द्रह था।

उसमें दो कछुए रहते थे। उस द्रह के पास ही एक मालुकाकच्छ था। वहाँ दो पापी शृगाल (सियालिए) रहते थे। एक दिन उन दोनों ने उन कछुओं को देखा। शृगालों को देखते ही दोनों कछुओं ने अपने शरीर के सब अङ्गों को संकोच लिया जिससे वे शृगाल उनका कुछ भी नुकसान नहीं कर सके किन्तु थोड़े समय बाद ही उनमें से एक कछुए ने उन शृगालों को दूर गए हुए समझ कर धीरे धीरे अपनी गर्दन और पैर बाहर निकाले। उसके पैरों को बाहर निकाले हुए देख कर वे पापी शृगाल शीघ्रतापूर्वक वहाँ आए और उस कछुए के शरीर के अङ्गों को छेद डाला और उसे जीवन रहित कर डाला। दूसरा कछुआ, जिसने अपने अङ्ग गुप्त रखे और बाहर नहीं निकाले, पापी शृगाल उसका कुछ भी नही बिगाड़ सके और वह कछुआ उस द्रह में आनन्दपूर्वक रहने लगा।

इस दृष्टान्त का उपनय घटाते हुए शास्त्रकार ने बतलाया कि दो कछुओं के समान दो साधु समझने चाहिएं। चार पैर और ग्रीवा के समान पाँच इन्द्रियाँ है। बाहर निकालने के समान शब्दादि विषय हैं। उनमें प्रवृत्ति करना राग, द्वेष रूपी दो शृगाल हैं। इन दोनो के वश मे होने से संयम का घात हो जाता है। जो साधु इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त नही होता वह दूसरे कछुए की तरह द्रह सुख के समान मोक्ष सुख को प्राप्त करता है और इन्द्रिय सुख में लोलुप साधु संसार सागर में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त दुःखों को भोगता है। इस लिए साधु को इन्द्रियों के सुखों में तथा शब्दादि विषयों में लोलुप नहीं होना चाहिए।

(५) शैलक राजर्षि की कथा

पाँचवाँ शैलक ज्ञात अध्ययन—यदि किसी कारण से कोई साधु इन्द्रियों के वश में पड़ कर संयम में शिथिल पड़ जाय परन्तु फिर

अपनी भूल को समझ कर संयम मार्ग में दृढ़ हो जाय तो वह भी अपने अर्थ की सिद्धि कर सकता है इसके लिए शैलक राजर्षि का दृष्टान्त दिया गया है।

द्वारिका नगरी में कृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। उनके राज्य में थावच्चापुत्र नामक एक सार्थवाहपुत्र रहता था। एक समय भगवान् नेमिनाथ स्वामी वहाँ पधारे। उनका धर्मोपदेश सुन कर थावच्चापुत्र को वैराग्य उत्पन्न हो गया और एक हजार पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। भगवान् की आज्ञा लेकर थावच्चापुत्र अनगार एक हजार साधुओं के साथ अलग विहार करने लगे। एक बार विहार करते हुए शैलकपुर पधारे। वहाँ का राजा शैलक अपने पन्थक आदि पाँच सौ मन्त्रियों सहित उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए आया। प्रतिबोध प्राप्त कर उसने श्रावक धर्म अगीकार किया।

उस समय शुक परिव्राजक एक हजार परिव्राजकों सहित अपने मत का उपदेश देता हुआ विचरता था। विचरता हुआ वह सौगन्धिका नगरी में आया। उसका उपदेश सुन कर सुदर्शन सेठ ने शौचधर्म अङ्गीकार किया।

एक समय ग्रामानुग्राम विहार करते हुए थावच्चापुत्र भी सौगंधिका नगरी में पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए नगर जनों के साथ सुदर्शन सेठ भी गया। उनका उपदेश सुन कर सुदर्शन सेठ ने शौचधर्म का त्याग कर दिया और विनय धर्म स्वीकार कर श्रावक व्रत अङ्गीकार कर लिये। इस बात को जान कर शुक परिव्राजक वहाँ आया किन्तु सुदर्शन ने उसका आदर सत्कार नहीं किया। इसके पश्चात् वह सुदर्शन सेठ को साथ लेकर थावच्चापुत्र अनगार के पास गया और बहुत से प्रश्न किये। उनका युक्तियुक्त उत्तर सुन कर शुक परिव्राजक को सम्यग् तत्त्व का बोध हो गया और अपने हजार शिष्यों सहित थावच्चापुत्र अनगार के

पास प्रव्रज्या अङ्गीकार कर ली। अपने धर्माचार्य्य श्रीथावच्चापुत्र अनगार की आज्ञा लेकर शुक निर्ग्रन्थ अपने एक हजार शिष्यों सहित अलग विहार करने लगे। कुछ समय पश्चात् थावच्चापुत्र अनगार को केवलज्ञान उत्पन्न होगया और वे मोक्ष में पधार गये।

एक समय विहार करते हुए शुक निर्ग्रन्थ शैलकपुर पधारे। शैलक राजा ने अपने पुत्र मण्डूक को राज सिंहासन पर बिठा कर शुक निर्ग्रन्थ के पास पंथक आदि ५०० मन्त्रियों सहित दीक्षा अङ्गीकार कर ली और विचरने लगे। शुक निर्ग्रन्थ की आज्ञा अनुसार शैलक राजर्षि पंथक आदि ५०० शिष्यों सहित अलग विहार करने लगे। कुछ काल बाद शुक निर्ग्रन्थ को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और वे मोक्ष पधार गये।

ग्रामानुग्राम विहार कर धर्म का उपदेश करते हुए शैलक राजर्षि के शरीर में पित्त ज्वर की बीमारी हो गई। शैलकपुर के राजा मण्डूक की आज्ञा लेकर वे उसकी दानशाला में ठहर गये। राजा ने चतुर वैद्यों द्वारा उनकी चिकित्सा करवाई जिससे थोड़े ही समय में स्वस्थ हो गये। स्वस्थ हो जाने के बाद भी मनोज्ञ अशन, पान खादिम स्वादिम आदि में मूर्च्छित हो जाने के कारण शैलक राजर्षि ने वहाँ से विहार नहीं किया। शैलक राजर्षि की यह दशा देख कर दूसरे सब साधुओं ने वहाँ से विहार कर दिया सिर्फ एक पंथक साधु उनकी सेवा में रहा। एक दिन कार्तिक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके पंथक निर्ग्रन्थ ने शैलक राजर्षि को खमाने के लिए उनके चरणों का स्पर्श किया। उस समय शैलक राजर्षि अशन पान आदि का खूब आहार करके सुख पूर्वक सोते हुए थे। पैरों का स्पर्श करने के कारण उनकी निद्रा भङ्ग हो गई जिससे वे कुपित हो गये। पंथक निर्ग्रन्थ ने विनय पूर्वक अर्ज की कि– पूज्य ! आज चौमासी पर्व है। चौमासी प्रतिक्रमण करके

मैं आपको खमाने के लिए आया हूँ। मेरी तरफ से आपको जो कष्ट हुआ है उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। पंथक मुनि के उपरोक्त वचनों को सुन कर शैलक राजर्षि को प्रतिबोध हुआ और विचार करने लगे कि राज्य का त्याग करके मैंने दीक्षा ली है अब मुझे अशनादि में मूर्च्छाभाव रख कर संयम में शिथिल न बनना चाहिए। ऐसा विचार कर शैलक राजर्षि दूसरे दिन प्रातःकाल ही मण्डुक राजा को उनके पीठ फलक आदि सम्भला कर संयम में दृढ़ हो कर विहार करने लगे। इस वृत्तान्त को सुन कर उनके दूसरे शिष्य भी उनकी सेवा में आगये और गुरु की सेवा शुश्रूषा करते हुए विचरने लगे। बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन कर शैलक राजर्षि और पंथक आदि पाँच सौ ही निर्ग्रन्थों ने सिद्ध पद प्राप्त किया।

इस अध्ययन के अन्त में भगवान् ने मुनियों को उपदेश करते हुए फरमाया है कि जो साधु साध्वी प्रमाद रहित होकर संयम मार्ग में प्रवृत्ति करेंगे वे इस लोक में पूज्य होंगे और अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे।

(६) तुम्बे का दृष्टान्त

छठा 'तुम्बक ज्ञात' अध्ययन—प्रमादी को अनर्थ की प्राप्ति और अप्रमादी को अर्थ की प्राप्ति होती है अर्थात् प्रमाद से जीव भारी-कर्मा और अप्रमाद से लघुकर्मा होता है। इस बात को बतलाने के लिए छठे अध्ययन में तुम्बे का दृष्टान्त दिया गया है।

जैसे किसी तुम्बे पर डाभ और कुश लपेट कर मिट्टी का लेप कर दिया जाय और फिर उसे धूप में सुखा दिया जाय। इसके बाद क्रमशः डाभ और कुश लपेटते हुए आठ बार उसके ऊपर मिट्टी का लेप कर दिया जाय। इसके पश्चात् उस तुम्बे को पानी

कुपित हुए और अपनी अपनी सेना सजा कर राजा कुम्भ के ऊपर चढ़ाई कर दी। इस वृत्तान्त को सुन कर राजा कुम्भ घबराया। मल्लिकुँवरी ने अपने पिता को आश्वासन दिया और कहा कि आप घबराइये नहीं। मैं सब को समझा दूँगी। आप सब राजाओं के पास पृथक् पृथक् दूत भेज दीजिए कि शाम को तुम मोहन घर में चले आओ। मैं तुम्हें मल्लिकुँवरी दूँगा। राजा कुम्भ ने ऐसा ही किया। पृथक् पृथक् द्वार से वे छहों राजा शाम को मोहन घर में आगये। मल्लिकुँवरी ने पहले से मोहन घर में अपने आकारवाली सोने की पुतली बना रखी थी जिसमें ऊपर के छिद्र से प्रतिदिन भोजन का एक एक ग्रास डाला था। उस सुवर्ण की पुतली को देख कर वे छहों राजा उसे साक्षात् मल्लिकुंवरी समझ कर उस पर मोहित होगये। इसी समय मल्लिकुंवरी ने उस पुतली के ढक्कन को उघाड़ दिया जिससे उसमें डाले हुए अन्न की अत्यन्त दुर्गन्ध बाहर निकली। उस दुर्गन्ध को न सह सकने के कारण वे छहो राजा पराङ्मुख होकर बैठ गये। इस अवसर को उपयुक्त समझ कर मल्लिकुँवरी ने उनको शरीर की अशुचिता बतलाते हुए धर्मोपदेश दिया और अपने पूर्वभव का वृत्तान्त कहा जिसे सुन कर उन छहो राजाओ को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होगया। छहों राजाओ ने अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक कर भगवान् मल्लिनाथ के साथ प्रव्रज्या अङ्गीकार कर ली। वर्षीदान देने के पश्चात् भगवान् मल्लिनाथ ने पौष शुक्ला एकादशी को प्रातःकाल दीक्षा ली और दूसरे पहर में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

भगवान् मल्लिनाथ के २८ गण थे और २८ ही गणधर थे। चालीस हजार साधु, पचपन हजार साध्वियाँ, एक लाख चौरासी हजार श्रावक, तीन लाख पैंसठ हजार श्राविकाएं थीं। छःसौ चौदह पूर्वधारी साधु, दो हजार अवधिज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ३५००

वैक्रियक लब्धिधारी, ८०० मन पर्ययज्ञानी, १४०० वादी, २००० अनुत्तर विमानगामी हुए।

भगवान् मल्लिनाथ को केवलज्ञान होने के दो वर्ष बाद उनके शासन में से जीव मोक्ष जाने लगे और उनके निर्वाण के पश्चात् बीस पाट तक जीव मोक्ष में जाते रहे। भगवान् मल्लिनाथ का शरीर पच्चीस धनुष ऊंचा था, शरीर का वर्ण प्रियंगु समान नीला था।

केवलज्ञान होने पर वे धर्मोपदेश करते हुए और अनेक भव्य प्राणियों का उद्धार करते हुए विचरते रहे। भगवान् मल्लिनाथ सौ वर्ष तक गृहस्थवास (छद्मस्थावस्था) में रहे। सौ वर्ष कम पचपन हजार वर्ष श्रमण पर्याय और केवल पर्याय का पालन कर ग्रीष्म ऋतु में समेदशिखर पर्वत पर पधारे और पादपोपगमन संथारा किया। उनके साथ पाँच सौ साधुओं और पाँच सौ साध्वियों ने भी संथारा किया। चैत्र शुक्ला चौथ के दिन अर्ध रात्रि के समय भरणी नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग होने पर वेदनीय, आयुष्य नाम, गोत्र इन चार अघाती कर्मों का नाश कर भगवान् मल्लिनाथ मोक्ष पधार गये।

(९) जिनपाल और जिनरक्ष की कथा

नवां 'माकन्दी ज्ञात' अध्ययन—काम भोगों में लिप्त रहने वाले पुरुष को दुःख की प्राप्ति होती है और काम भोगों से विरक्त पुरुष को सुख की प्राप्ति होती है। इस विषय की पुष्टि के लिए इस अध्ययन में जिनपाल और जिनरक्ष का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी में माकन्दी नाम का सार्थवाह रहता था। उसके जिनपाल और जिनरक्ष नाम के दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह बार लवण समुद्र में यात्रा कर व्यापार द्वारा बहुत सा द्रव्य उपार्जन किया था। माता पिता के मना करने पर भी वे दोनों

लवण समुद्र में बारहवीं बार यात्रा करने के लिए रवाना हुए। जब जहाज समुद्र के बीच में पहुँचा तो तूफान से नष्ट हो गया। जहाज का टूटा हुआ एक पाटिया उन दोनों भाइयों के हाथ लग गया। जिस पर बैठ कर तैरते हुए वे दोनों रत्नद्वीप में जा पहुँचे। उस द्वीप की स्वामिनी रयणा देवी ने उन्हें देखा। वह उनसे कहने लगी कि तुम दोनों मेरे साथ कामभोग भोगते हुए यहीं रहो अन्यथा मैं तुम्हें मार दूँगी। इस प्रकार उस देवी के भयप्रद वचनों को सुन कर उन्होंने उसकी बात स्वीकार कर ली और उसके साथ कामभोग भोगते हुए रहने लगे।

एक समय लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित देव ने रयणा देवी को लवण समुद्र की इक्कीस बार परिक्रमा करके तृण, पर्ण, काष्ठ, कचरा, अशुचि आदि को साफ करने की आज्ञा दी। तब उस देवी ने उन दोनों भाइयों को कहा—देवानुप्रियो! मैं वापिस लौट कर आऊँ तब तक तुम यहीं पर आनन्द पूर्वक रहो। यदि इच्छा हो तो पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा के वनखण्ड में जाना किन्तु दक्षिण दिशा के वन खण्ड (बगीचे) में मत जाना। वहाँ पर एक भयंकर विषधारी सर्प रहता है वह तुम्हारा विनाश कर डालेगा। ऐसा कह कर देवी चली गई। वे दोनों भाई पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा के वनखण्ड में जाने के बाद दक्षिण दिशा के वनखण्ड में भी गये। उसमें अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही थी। उसके अन्दर जाकर देखा कि सैकड़ों मनुष्यों की हड्डियों का ढेर लगा हुआ है और एक पुरुष शूली पर लटक रहा है। यह हाल देख कर वे दोनों भाई बहुत घबराये और शूली पर लटकते हुए उस पुरुष से उसका वृत्तान्त पूछा। उसने कहा कि मैं भी तुम्हारी तरह जहाज के टूट जाने से यहाँ आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी का रहने वाला घोड़ों का व्यापारी हूँ। पहले यह देवी मेरे साथ कामभोग भोगती रही।

एक समय एक छोटे से अपराध के हो जाने पर कुपित होकर इस ने मुझे यह दण्ड दिया है। न मालूम यह देवी तुम्हें किस समय और किस ढंग से मार देगी। पहले भी कई मनुष्यों को मार कर यह हड्डियों का ढेर कर रखा है।

शूली पर लटकते हुए पुरुष के उपरोक्त वचनों को सुन कर दोनों भाई बहुत भयभीत हुए और वहाँ से भाग निकलने का उपाय पूछने लगे। तब वह पुरुष कहने लगा कि पूर्व दिशा के वन खण्ड में शैलक नाम का एक यक्ष रहता है। उसकी पूजा करने से प्रसन्न होकर वह तुम्हें इस देवी के फन्दे से छुड़ा देगा। यह सुन कर वे दोनों भाई यक्ष के पास जाकर उसकी स्तुति करने लगे और उस देवी के फन्दे से छुड़ाने की प्रार्थना करने लगे। उन पर प्रसन्न होकर यक्ष कहने लगा कि मैं तुम्हें तुम्हारे इच्छित स्थान पर पहुँचा दूँगा। किन्तु मार्ग में वह देवी आकर अनेक प्रकार के हावभाव करके अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई परिषह उपसर्ग देगी। यदि तुम उसके कहने में आकर उसमें आसक्त हो जाओगे तो मैं तुम्हें मार्ग में ही अपनी पीठ पर से फेंक दूँगा। यक्ष की इस शर्त को उन दोनों भाइयों ने स्वीकार किया। यक्ष ने अश्व का रूप बनाया और दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर बैठा कर आकाश मार्ग से चला। इतने में वह देवी आ पहुँची। उनको वहाँ न देख कर अवधिज्ञान से शैलक यक्ष की पीठ पर जाते हुए देखा। वह शीघ्र वहाँ आई और अनेक प्रकार से हावभाव पूर्वक अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई करुण विलाप करने लगी। जिनपाल ने उसके वचनों पर कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु जिनरक्ष उसके वचनों में फँस गया। वह उस पर मोहित होकर प्रेम के साथ रयणा देवी को देखने लगा। जिससे उस यक्ष ने अपनी पीठ पर से फेंक दिया। नीचे गिरते हुए जिनरक्ष को उस देवी ने शूली में पिरो दिया

और बहुत कष्ट देकर उसे प्राण रहित करके समुद्र में डाल दिया। जिनपाल देवी के वचनों में नहीं फंसा इसलिए यक्ष ने उसको आनन्द पूर्वक चम्पा नगरी में पहुँचा दिया। वहाँ पहुँच कर जिनपाल अपने माता पिता से मिला। कई वर्षों तक सांसारिक सुख भोग कर प्रव्रज्या अङ्गीकार की। कई वर्षों तक संयम का पालन कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ का आयुष्य पूरा कर महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त होगा।

अन्त में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने मुनियों को सम्बोधित कर फरमाया कि– श्रमणो ! जो प्राणी छोड़े हुए काम भोगों की फिर से इच्छा नहीं करते वे जिनपाल की तरह शीघ्र ही संसार रूपी समुद्र को पार कर सिद्ध पद को प्राप्त करते है और जो प्राणी रयणा देवी सरीखी अविरति मे फंस कर काम भोगों मे आसक्त हो जाते है वे जिनरक्ष की तरह संसार रूपी समुद्र मे पड़ कर अनन्त काल तक जन्म मरण के दुःखों का अनुभव करते हुए परिभ्रमण करते है। ऐसा समझ कर मुमुक्ष आत्माओं को काम भोगों से निवृत्ति करनी चाहिए।

(१०) चन्द्रमा का दृष्टान्त

दसवां 'चन्द्र ज्ञात' अध्ययन–प्रमादी जीवों के गुणों की हानि और अप्रमादी जीवो के गुणों की वृद्धि होती है। यह बताने के लिए गौतम स्वामी द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया। यथा–

पूर्णिमा के चन्द्रमा की अपेक्षा कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा हीन होता है। उसकी अपेक्षा द्वितीया का चन्द्रमा और हीन होता है। इस प्रकार क्रमशः हीनता को प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा अमावस्या को सब प्रकार से हीन होजाता है अर्थात् अमावस्या का चन्द्रमा

सर्वथा प्रकाश शून्य हो जाता है।

इसी प्रकार जो साधु क्षमा मार्दव आदि तथा ब्रह्मचर्य के गुणों में शिथिलता को प्राप्त होता जाता है वह अन्त में ब्रह्मचर्य आदि के गुणों से सर्वथा भ्रष्ट होजाता है।

जिस प्रकार अमावस्या के चन्द्रमा की अपेक्षा शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा प्रकाश में कुछ अधिक होता है। प्रतिपदा की अपेक्षा द्वितीया का चन्द्रमा और विशेष प्रकाशमान होता है। इस तरह क्रमश बढ़ते बढ़ते पूर्णिमा को अखण्ड और पूर्ण प्रकाशमान बन जाता है।

इसी प्रकार जो साधु अप्रमादी बन कर अपने क्षमा आदि यावत् ब्रह्मचर्य के गुणों को बढ़ाता है वह अन्त में जाकर सम्पूर्ण आत्मिक गुणों से युक्त हो जाता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(११) दावद्रव वृक्ष का दृष्टान्त

ग्यारहवां 'दावद्रव ज्ञात' अध्ययन– धर्म सम्बन्धी मार्ग की आराधना करने वाले को सुख की प्राप्ति और विराधना करने वाले को दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिए इस अध्ययन में दावद्रव वृक्ष का दृष्टान्त दिया गया है।

समुद्र के किनारे 'दावद्रव' नाम के एक तरह के वृक्ष होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो समुद्र की हवा लगने से मुरझा जाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो द्वीप की हवा लगने से मुरझा कर सूख जाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो द्वीप और समुद्र दोनों की हवा से नहीं सूखते और कुछ ऐसे होते हैं जो दोनों की हवा न सह सकने के कारण सूख जाते हैं। इस दृष्टान्त के अनुसार साधुओं की चतुर्भङ्गी बतलाई गई है। यथा–

कुछ साधु ऐसे होते हैं जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका

रूप स्वतीर्थिकों के कठोर वचनों को सहन कर लेते हैं परन्तु अन्य तीर्थिकों के वचनों को सहन नहीं करते। ऐसे साधु देशविराधक कहलाते है। जो साधु अन्य तीर्थिकों के तथा गृहस्थों के कहे हुए कठोर वचनो को सहन करते हैं किन्तु स्वतीर्थिकों के कठोर वचनो को सहन नही करते वे देश आराधक कहलाते है। जो साधु स्वतीर्थिक और अन्य तीर्थिक किसी के भी कठोर वचनों को सहन नहीं करते वे सर्वविराधक कहे जाते हैं। जो साधु स्वतीर्थिक और अन्य तीर्थिक दोनों के कठोर वचनों को समभाव से सहन करते है वे सर्व आराधक कहे जाते है।

उपरोक्त दृष्टान्त देकर यह बतलाया गया है कि जीवों को आराधक बनना चाहिए, विराधक नही। आराधक बनने से ही जीव का कल्याण होता है।

(१२) पुद्गलों के शुभाशुभ परिणाम

बारहवाँ 'उदक ज्ञात' अध्ययन–स्वभाव से मलिन चित्त वाले भी भव्य प्राणी सद्गुरु की सेवा से चारित्र के आराधक बन जाते है। पुद्गल किस प्रकार शुभाशुभ रूप में परिवर्तित हो जाते है इस बात को बतलाने के लिए इस अध्ययन मे जल का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके सुबुद्धि नामक मन्त्री था। वह जीवाजीवादि नव तत्त्वो का जानकार श्रावक था। एक समय भोजन करने के पश्चात् राजा ने उस भोजन के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि की बहुत तारीफ की। राज परिवार ने भी राजा के कथन का अनुमोदन किया किन्तु सुबुद्धि मन्त्री उस समय मौन रहा। तब राजा ने उससे इसका कारण पूछा तो न्त्री ने जवाब दिया कि इसमें तारीफ की क्या बात है? प्रयोग

विशेष से शुभ पुद्गल अशुभ और अशुभ पुद्गल शुभ रूप में परिणत हो सकते हैं। राजा ने मन्त्री के इन वचनों को सत्य नहीं माना।

एक समय सुबुद्धि मन्त्री के साथ राजा बाहर घूमने गया। नगर के बाहर एक खाई के अति दुर्गन्धित जल को देख कर राजा ने उस जल की निन्दा की। दूसरे लोगों ने भी राजा के कथन का समर्थन किया। मन्त्री को मौन देख कर राजा ने इसका कारण पूछा। मन्त्री ने वही पूर्वोक्त जवाब दिया। राजा ने मन्त्री के कथन को सत्य नहीं माना। अपने वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए और राजा को तत्त्व का ज्ञान कराने के लिए मन्त्री ने उसी खाई से जल मंगाया और एक अच्छे बर्तन में डाला। फिर अनेक प्रयोग करके उस जल को शुद्ध और अति सुगन्धित बनाया। जलरक्षक के साथ उस जल को राजा के पास भेजा। उस जल को पीकर राजा बहुत खुश हुआ और जलरक्षक से पूछा कि यह जल कहाँ से आया? उसने उत्तर दिया कि सुबुद्धि मन्त्री ने मुझे यह जल दिया है। तब राजा ने मन्त्री से पूछा। मन्त्री ने जवाब दिया कि यह जल उसी खाई का है। प्रयोग करके मैंने इसको इतना अच्छा और सुगन्धित बनाया है। राजा को मन्त्री के वचनों पर विश्वास आगया। उसने मन्त्री से धर्म का तत्त्व पूछा। मन्त्री ने राजा को धर्म का तत्त्व बड़ी खूबी से समझाया। कुछ समय पश्चात् राजा और मन्त्री दोनों को संसार से विरक्ति हो गई और दोनों ने प्रव्रज्या अङ्गीकार कर ली। ग्यारह अङ्ग का ज्ञान पढ़ा और बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन कर सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त हुए।

जल के दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि खाई के पानी की तरह पापी जीव भी सद्गुरु की संगति करने से अपना आत्म कल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं।

(१३) नन्द मणियार की कथा

तेरहवाँ "दर्दुर ज्ञात" अध्य.–सद्गुरु के अभाव से तप, नियम, व्रत, पच्चक्खाण आदि गुणों की हानि होती है। इस बात को बतलाने के लिए दर्दुर (मेंढक) का दृष्टान्त दिया गया है।

एक समय ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर राजगृह नगर में पधारे। उस समय दर्दुर नाम का देव सूर्याभ देव के समान नाट्यविधि दिखला कर और भगवान् को वन्दना नमस्कार करके वापिस अपने स्थान को चला गया। उसकी ऋद्धि के बारे में गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछा। तब भगवान् ने उसका पूर्वभव फरमाया–

राजगृह नगर में नन्द नाम का मणियार रहता था। उपदेश सुन कर वह श्रावक बन गया। श्रावक बनने के बाद बहुत समय तक साधुओं का समागम नहीं होने से तथा मिथ्यात्वियों का परिचय होते रहने से वह मिथ्यात्वी बन गया। एक समय ग्रीष्म ऋतु में तेला करके वह पौषधव्रत कर रहा था। उस समय तृषा का परिषह उत्पन्न हुआ जिससे उसकी यह भावना होगई कि जो लोग कुआ, बावड़ी आदि खुदवाते है और जहाँ अनेक प्यासे आदमी पानी पीकर अपनी प्यास बुझाते है वे लोग धन्य है। अतः मुझे भी ऐसा ही करना श्रेष्ठ है। प्रातःकाल पारणा करने के बाद राजा की आज्ञा लेकर नगर के बाहर एक विशाल बावड़ी खुदवाई और बाग, बगीचे, चित्रशाला, भोजनशाला, वैद्यकशाला अलङ्कार सभा आदि बनवाई। उनका उपयोग नगर के सब लोग करने लगे और नन्द मणियार की प्रशंसा करने लगे। अपनी प्रशंसा सुन कर वह अत्यन्त प्रसन्न होने लगा। उसका मन दिन रात बावड़ी मे रहने लगा। वह उसी मे आसक्त होगया। एक समय नन्द मणियार के शरीर में श्वास, खांसी, कोढ़ आदि सोलह

रोग उत्पन्न हुए। चिकित्सा शास्त्र में प्रवीण वैद्यों ने अनेक तरह से चिकित्सा की किन्तु उनमें से एक भी रोग शान्त नहीं हुआ। अन्त में आर्त्तध्यान ध्याते हुए उसने तिर्यञ्च गति का आयुष्य बाँधा तथा मर कर मूर्च्छा के कारण उसी बावड़ी में मेंढक रूप से उत्पन्न हुआ। उस बावड़ी के जल का उपयोग करने वाले लोगों के मुख से नन्द मणियार की प्रशंसा सुन कर उस मेंढक को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने अपने पूर्वभव के कार्यों का स्मरण किया। मिथ्यात्व का पश्चात्ताप करके मेंढक के भव में भी उसने श्रावक व्रत अङ्गीकार किये और धर्म ध्यान की भावना भाते हुए रहने लगा। एक समय मेरा (भगवान् महावीर स्वामी का) आगमन राजगृह में हुआ, उस समय पानी भरने के लिए बावड़ी पर गई हुई स्त्रियों के मुख से इस बात को सुन कर वह मेंढक मुझे वन्दना करने के लिए बाहर निकला। रास्ते में मुझे वन्दना करने के लिए आते हुए श्रेणिक राजा के घोड़े के पैर नीचे दब कर वह मेंढक घायल हो गया। उसी समय रास्ते के एक तरफ जाकर उसने वहीं से मुझे वन्दना नमस्कार कर संलेखना संथारा किया। शुभ ध्यान धरता हुआ वहाँ से मर कर सौधर्म देवलोक में दर्दुरावतंसक विमान में दर्दुर नाम का देव हुआ है। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और प्रव्रज्या अङ्गीकार कर मोक्ष में जायगा।

इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि समकित आदि गुणों को प्राप्त कर लेने पर भी यदि प्राणियों को श्रेष्ठ साधुओं की संगति न मिले तो नन्द मणियार की तरह गुणों की हानि हो जाती है। अतः भव्य प्राणियों को साधु समागम का लाभ सदा लेते रहना चाहिए।

(१४) तेतली पुत्र की कथा

चौदहवां 'तेतली ज्ञात' अध्ययन–धर्म की अनुकूल सामग्री मिलने से ही धर्म की प्राप्ति होती है। इस बात को बतलाने के लिए इस अध्ययन में तेतली पुत्र नाम के मन्त्री का दृष्टान्त दिया गया है।

तेतलीपुर नगर में कनकरथ राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। तेतली पुत्र नाम का मन्त्री था। वह राजनीति में अति निपुण था। उसकी स्त्री का नाम पोट्टिला था। कनकरथ राजा राज्य में अत्यन्त आसक्त एवं गृद्ध होने के कारण अपने उत्पन्न होने वाले सब पुत्रों के अङ्गों को विकृत करके उनको राज्य पद के अयोग्य बना देता था। इस बात से रानी अति दुःखित थी। एक समय उसने अपने मन्त्री से सलाह की और उत्पन्न हुए एक पुत्र को गुप्त रूप से तत्काल मन्त्री के घर पहुँचा दिया। मन्त्री के घर वह आनन्द पूर्वक बढ़ने लगा। उसका नाम कनकध्वज रखा गया। वह कलाओं में निपुण होकर यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ।

तेतली पुत्र मन्त्री अपनी पोट्टिला भार्या के साथ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता था किन्तु किसी कारण से कुछ समय के पश्चात् वह पोट्टिला तेतलीपुत्र को अप्रिय और अनिष्टकारी होगई। वह उसका नाम सुनने से भी घृणा करने लगा। यह देख पोट्टिला अति दुःखित होकर आर्त्तध्यान करने लगी। तब तेतलीपुत्र ने उस से कहा कि तू आर्त्तध्यान मत कर। मेरी दानशाला में चली जा। वहाँ श्रमण माहणों को विपुल अशन पान आदि देती हुई आनन्द से रह। पोट्टिला वैसा ही करने लगी।

एक समय सुव्रता नाम की आर्या अपनी शिष्य मण्डली सहित वहाँ आई। भिक्षा के लिए आती हुई दो आर्याओं को देख पोट्टिला ने अपने आसन से उठ कर उन्हें वन्दना नमस्कार किया और

आदर पूर्वक आहार पानी बहराया। फिर पोट्टिला उनसे पूछने लगी कि कृपा कर मुझे कोई ऐसी दवा, चूर्णयोग या मन्त्र वगैरह बताओ जिससे मैं फिर तेतलीपुत्र को प्रिय एवं इष्ट बन जाऊँ? पोट्टिला के इन वचनों को सुन कर उन आर्याओं ने दोनों हाथों से अपने दोनों कान बन्द कर लिए और कहने लगीं कि ऐसी दवा या मन्त्र तन्त्र बताना तो दूर रहा हमें ऐसे वचनों को सुनना भी योग्य नहीं, क्योंकि हम तो पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालने वाली आर्याएं हैं। हम तुझे केवली प्ररूपित धर्म कह सकती हैं।

उन आर्याओं के पास से केवली प्ररूपित धर्म को सुन कर पोट्टिला ने श्राविका के व्रत अङ्गीकार किये और धर्मकार्य में प्रवृत्त हुई। कुछ समय पश्चात् पोट्टिला ने सुव्रता आर्या के पास दीक्षा लेने के लिए तेतलीपुत्र से आज्ञा मांगी। तेतलीपुत्र ने कहा-"चारित्र पालन करके जब तुम स्वर्ग में जाओ तब वहाँ से आकर मुझे केवली प्ररूपित धर्म का उपदेश देकर धर्म मार्ग में प्रवृत्त करो तो मैं तुम्हें आज्ञा दे सकता हूँ।" पोट्टिला ने इस बात को स्वीकार किया और तेतलीपुत्र की आज्ञा लेकर सुव्रता आर्या के पास दीक्षा ले ली। बहुत वर्षों तक दीक्षा पाल कर काल करके देवलोक में उत्पन्न हुई।

इधर राजा कनकरथ की मृत्यु होगई तब गुप्त रखे हुए कनकध्वज कुमार को राजगद्दी पर बिठाया। राजा कनकध्वज अपनी माता पद्मावती रानी के कहने से तेतलीपुत्र मन्त्री का बहुत आदर सत्कार करने लगा तथा वेतन आदि में वृद्धि कर दी। इससे तेतली पुत्र मन्त्री कामभोगों में अधिक गृद्ध एवं आसक्त होगया। पोट्टिल देव ने तेतलीपुत्र को धर्म का बोध दिया किन्तु उसे धर्म की ओर रुचि न हुई। तब पोट्टिल देव ने देवशक्ति से राजा कनकध्वज का मन फेर दिया जिससे वह तेतलीपुत्र का किसी प्रकार आदर सत्कार नहीं करने लगा और उससे विमुख होगया। तेतलीपुत्र बहुत भय

भीत हुआ और आत्मघात करने की इच्छा करने लगा। तब पोट्टिल देव ने उसे प्रतिबोध दिया। शुभ अध्यवसाय से तेतलीपुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होगया और अपने पूर्वभव में ली हुई दीक्षा आदि के वृत्तान्त को जान कर उसने प्रव्रज्या ग्रहण की। कुछ समय पश्चात् उनको केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होगए। देवों ने दुन्दुभि बजा कर केवलज्ञान महोत्सव किया। कनकध्वज राजा भी वन्दना नमस्कार करने गया। तेतलीपुत्र केवली ने धर्म कथा कही। धर्मकथा सुन कर राजा कनकध्वज ने श्रावक व्रत अङ्गीकार किये। बहुत वर्षों तक केवली पर्याय का पालन कर तेतलीपुत्र मोक्ष में पधार गये।

(१५) नन्दीफल का दृष्टान्त

पन्द्रहवां 'नंदीफल ज्ञात' अध्ययन–वीतराग देव के उपदेश से विषय का त्याग और सत्य अर्थ की प्राप्ति होती है। उसके बिना नहीं हो सकती। यह बतलाने के लिए इस अध्ययन में नन्दीफल का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी में धन्ना सार्थवाह रहता था। एक समय वह अहिच्छत्रा नाम की नगरी में व्यापार करने के लिए जाने लगा। उसने शहर में घोषणा करवाई कि जो कोई व्यापार के लिए मेरे साथ चलना चाहे वे चलें जिनके पास वस्त्र, पात्र, भाड़ा आदि नहीं है उनको ये सब चीजे मैं दूंगा और अन्य सारी सुविधायें मैं दूंगा। इस घोषणा को सुन कर बहुत से लोग धन्ना सार्थवाह के साथ जाने को तय्यार हुए। कुछ दूर जाने पर एक अटवी ड़ी। धन्ना सार्थवाह सब लोगों को सम्बोधित कर कहने लगा इस अटवी मे फल फूल और पत्रो से युक्त बहुत से नन्दीवृक्ष । उनके फल देखने में बड़े सुन्दर और मनोहर है, खाने में तत्काल

स्वादिष्ट भी लगते हैं किन्तु उनका परिणाम दुःखदायी होता है और अकाल में जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इसलिए तुम सब लोग नन्दी वृक्ष के फलों को न खाना और यहाँ तक कि उनकी छाया में भी मत बैठना। दूसरे वृक्षों के फल दिखने में तो सुन्दर नहीं हैं किन्तु उनका परिणाम सुन्दर है। उनका इच्छानुसार उपभोग कर सकते हो। ऐसा कह कर उन सब लोगों के साथ धन्ना सार्थवाह ने उस अटवी में प्रवेश किया। कितनेक लोगों ने धन्ना सार्थवाह के कथनानुसार नन्दी वृक्षों के फलों को नहीं खाया और उनकी छाया से भी दूर रहे। इसलिए तत्काल तो वे सुखी नहीं हुए किन्तु अन्त में बहुत सुखी हुए। कितनेक लोगों ने धन्ना सार्थवाह के वचनों पर विश्वास न करके नन्दी वृक्षों के सुन्दर फलों को खाया और उनकी छाया में बैठ कर आनन्द उठाया। इससे तत्काल तो उन्हें सुख प्राप्त हुआ किन्तु पीछे उनका शरीर भयंकर विष से व्याप्त होगया और अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हुए। इसी तरह जो पुरुष नन्दी फलों के समान पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग करेंगे उनको मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी। जो लोग नन्दी वृक्षों के समान इन्द्रियों के विषयसुख में आसक्त होवेंगे। वे अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करेंगे।

इसके पश्चात् वह धन्ना सार्थवाह अहिच्छत्रा नगरी में गया। अपना माल बेच कर बहुत लाभ उठाया और वहाँ से वापिस माल भर कर चम्पा नगरी में आगया। बहुत वर्षों तक संसार के सुख भोगने के पश्चात् धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ग्रहण की। प्रव्रज्या का पालन कर देवलोक में गया और वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष पद प्राप्त करेगा।

(१६) श्रीकृष्ण का अपरकंका गमन

सोलहवां 'अपरकङ्काज्ञात' अध्ययन–विषय सुख कितने दुःख-दायी होते है, इसका वर्णन इस अध्ययन में किया गया है। विषय सुख को न भोगते हुए केवल उनकी इच्छा रखने मात्र से अनर्थ की प्राप्ति होती है। इसके लिए अपरकंका के राजा पद्मोत्तर का दृष्टान्त दिया गया है। इसमे द्रौपदी की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है।

द्रौपदी का जीव पूर्वभव मे चम्पा नगरी में नागश्री ब्राह्मणी के रूप में था। एक बार उसने धर्मरुचि मुनिको मासखमण के पारणे के दिन कड़वे तुम्बे का शाक बहराया। उस शाक को लेकर धर्मरुचि अनगार अपने गुरु धर्मघोष मुनि के पास आये और आहार दिखलाया। उस शाक को चख कर गुरु ने कहा कि यह तो कड़वे तुम्बे का शाक है। एकान्त में जाकर इसको परठ दो गुरु की आज्ञा लेकर धर्मरुचि एकान्त स्थान में आये। वहाँ आकर जमीन पर एक बूंद डाली। शाक में घृतादि पदार्थ अच्छे डाले हुए थे इसलिए उस की सुगन्ध से बहुत सी कीड़ियाँ उस बूंद पर आई और उसके जहर से मर गई। मुनि ने सोचा एक बूंद से इतनी कीड़ियाँ मर गई तो न जाने इस सारे शाक से कितने जीवो का नाश होगा? इस प्रकार कीड़ियो पर अनुकम्पा करके उस सारे शाक को धर्मरुचि अनगार स्वयं पी गये। इससे शरीर में प्रबल पीड़ा उत्पन्न हुई। उसी समय मुनि ने संथारा कर लिया। समाधि पूर्वक मरण प्राप्त कर वे सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होंगे और प्रव्रज्या ग्रहण कर मोक्षपद प्राप्त करेंगे।

धर्मरुचि मुनि को कड़वा तुम्बा बहराने आदि का सारा वृत्तान्त

नागश्री के पति को मालूम हुआ। इससे वह अतिकुपित हुआ। तर्जना और ताड़ना पूर्वक उसने नागश्री को घर से बाहर निकाल दिया, जिससे लोगों में भी उसकी बहुत हीलना और निन्दा हुई। दर दर भटकती हुई नागश्री के शरीर में सोलह रोग उत्पन्न हुए। मर कर छठी नरक में उत्पन्न हुई। वहाँ से निकल कर मत्स्य (मच्छ), सातवीं नरक, मत्स्य, सातवीं नरक, मत्स्य, छठी नरक, उरगादि के भव बीच में करती हुई पाचवीं नरक से पहली नरक तक, बादर पृथ्वीकाय आदि सब एकेन्द्रियों में लाखों भव करने के पश्चात् चम्पानगरी में सागरदत्त सार्थवाह के सुकुमालिका नाम की पुत्री रूप से उत्पन्न हुई। यौवन वय को प्राप्त होने पर जिनदत्त सार्थवाह के पुत्र सागर के साथ विवाह किया गया किन्तु उसके शरीर का स्पर्श तलवार जैसा उग्र और अग्नि सरीखा उष्ण लगने के कारण सागर ने तत्काल उसका त्याग कर दिया और अपने घर चला गया। इससे सुकुमालिका अति चिन्तित हुई। तब पिता ने उसको आश्वासन दिया और अपनी दानशाला में उसे दान देने के लिए रख दिया।

एक समय गोपालिका आर्या से धर्मोपदेश सुन कर उसे संसार से विरक्ति हो गई। उसने गोपालिका आर्या के पास प्रव्रज्या अङ्गी कार कर ली। वह बेला, तेला आदि तप करती हुई विचरने लगी। एक समय अपनी गुरुआनी की आज्ञा के बिना ही शहर के बाहर उद्यान में जाकर सूर्य की आतापना लेने लगी। वहाँ उसने देवदत्ता गणिका के साथ क्रीड़ा करते हुए पाच पुरुषों को देखा। यह देख कर सुकुमालिका आर्या ने नियाणा कर लिया कि यदि मेरी तपस्या का फल हो तो आगामी भव में मैं भी पांच पुरुषों की वल्लभा (प्रिया) बनूँ। इस प्रकार का नियाणा करके चारित्र (संयम) में भी वह शिथिल होगई। अन्त में अर्धमास की संलेखना संथारा करके ईशान देवलोक में देवी रूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से चव

कर कांपिल्य नगर में द्रुपद राजा के यहाँ पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। उसका नाम द्रौपदी रक्खा गया। यौवन वय को प्राप्त होने पर राजा द्रुपद ने द्रौपदी का स्वयंवर करवाया जिसमें द्रौपदी ने युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवों को वर लिया अर्थात् पति रूप से स्वीकार कर लिया।

एक समय नारद ऋषि पाण्डवों के महल में आये। सबने खड़े होकर ऋषि का आदर सत्कार किया किन्तु द्रौपदी ने उनका आदर सत्कार नहीं किया। इससे नारदजी को बुरा मालूम हुआ। उन्होंने धातकी खण्ड में अपरकङ्का नगरी के राजा पद्मोत्तर के पास जाकर उसके सामने द्रौपदी के रूप लावण्य की प्रशंसा की। पद्मोत्तर राजा ने देवता की सहायता से द्रौपदी का हरण करवा कर अपने अन्तःपुर में मंगवा लिया। महासती होने के कारण वह उसको वश में नहीं कर सका। कृष्ण वासुदेव के साथ पाँचों पाण्डव अपरकङ्का नगरी मे गये और युद्ध मे पद्मोत्तर को पराजित करके द्रौपदी को वापिस ले आये। कई वर्षों तक गृहस्थावास में रह कर पाँचों पाण्डवों ने दीक्षा ली और चारित्र पालन कर सिद्धपद को प्राप्त किया। द्रौपदी ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की, अनेक प्रकार की तपस्या करके वह ब्रह्मदेवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर सिद्धिपद को प्राप्त करेगी।

इस अध्ययन से यह शिक्षा मिलती है कि नागश्री ने मुनि को कड़वे तुम्बे का शाक बहराया जो महा अनर्थ का कारण हुआ और नारकी, तिर्यञ्च आदि के भवों मे उसे अनेक प्रकार के दुःख उठाने पड़े। सुकुमालिका के भव मे नियाणा किया जिससे द्रौपदी के भव में उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिए साधु साध्वी को किसी प्रकार का नियाणा नहीं करना चाहिये।

(१७) अश्वों का दृष्टान्त

सतरहवाँ 'अश्वज्ञात' अध्ययन–इन्द्रियों को वश में न करने से अनर्थ की प्राप्ति होती है। यह बतलाने के लिए इस अध्ययन में अश्वों का दृष्टान्त दिया गया है।

हस्तिशीर्ष नाम के नगर में कनककेतु नाम का राजा राज्य करता था। उस नगर में बहुत से व्यापारी रहते थे। एक समय जहाज में माल भर कर वे समुद्र में यात्रा कर रहे थे। दिशा की भूल हो जाने से वे कालिक नाम के द्वीप में पहुँच गए। वहाँ सुवर्ण और रत्नों की खानें थीं और उत्तम जाति के अनेक प्रकार के विचित्र घोड़े थे। वे मनुष्यों की गन्ध सहन नहीं कर सकते थे इसलिए उन व्यापारियों को देखते ही वे बहुत दूर भाग गए। सोने और रत्नों से जहाज को भर कर वे व्यापारी वापिस अपने नगर में आगए।

वहाँ के राजा कनककेतु के पूछने पर उन व्यापारियों ने आश्चर्य कारक उन घोड़ों की हकीकत कही। राजा ने उन घोड़ों को अपने यहाँ मंगाने की इच्छा से उन व्यापारियों के साथ अपने नौकरों को भेजा। वे नौकर अपने साथ बहुत से उत्तम उत्तम पदार्थ लेते गए और घोड़ों के रहने के स्थान पर उन सुगन्धित चीजों को बिखेर दिया और स्वयं छिप कर एकान्त में बैठ गए। इसके बाद घूमते फिरते वे घोड़े वहाँ आए। उनमें से कितनेक घोड़े उन सुगन्धित पदार्थों में आसक्त हो गए और कितनेक घोड़े उनमें आसक्त न होते हुए दूर चले गए। जो घोड़े उन सुगन्धित पदार्थों में आसक्त होगए उनको उन नौकरों ने पकड़ लिया और हस्तिशीर्ष नगर में राजा के पास ले आए। राजा ने अश्वशिक्षकों के पास रख कर उन घोड़ों को नाचना, कूदना आदि सिखा कर विनीत बनाया।

यह दृष्टान्त देकर साधु साध्वियों को उपदेश दिया गया है कि

जो इन्द्रियों के विषय में आसक्त होकर रस लोलुप बन जायेंगे वे उन आसक्त घोड़ों की तरह दुखी होंगे और पराधीनपने में दुःख भोगेंगे। जो घोड़े उन पदार्थों में आसक्त नहीं हुए वे स्वतंत्रता पूर्वक जंगल में आनन्द से रहे। इसी प्रकार जो साधु साध्वी इन्द्रियों के विषय में आसक्त नहीं होते वे इस लोक में सुखी होते हैं और अन्त में मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं। इसलिये इन्द्रियों के विषय में आसक्त नहीं होना चाहिए।

(१८) सुंसुमा और चिलातीपुत्र की कथा

अठारहवाँ 'सुंसुमा ज्ञात' अध्ययन–लोभ से अनर्थ की प्राप्ति होती है। इसके लिए इस अध्ययन में सुंसुमा का दृष्टान्त दिया है।

राजगृह नगर में धन्ना नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसके भद्रा नाम की भार्या थी जिससे पाँच पुत्र और सुंसुमा नामक एक पुत्री उत्पन्न हुई। चिलात नाम का दासपुत्र उस लड़की को खिलाया करता था। किन्तु साथ खेलने वाले दूसरे बच्चों को वह अनेक प्रकार से दुःख देता था। वे अपने माता पिता से इसकी शिकायत करते थे। इन बातों को जान कर धन्ना सार्थवाह ने उसे अपने घर से निकाल दिया। स्वच्छन्द बन कर वह चिलात सातों व्यसनों में आसक्त होगया। नगरजनों से तिरस्कृत होकर वह सिंह गुफा नाम की चोर पल्ली में चोर सेनापति विजय की शरण में चला गया। उसके पास में सारी चोर विद्याएं सीख लीं और पाप कार्य में अति निपुण हो गया। कुछ समय पश्चात् विजय चोर की मृत्यु हो गई। उसके स्थान में चिलात को चोर सेनापति नियुक्त किया।

एक समय उस चिलात चोर सेनापति ने अपने पाँच सौ चोरों से कहा कि चलो–राजगृह नगर में चल कर धन्ना सार्थवाह के घर को लूटें। लूट में जो धन आवे वह सब तुम रख लेना और सेठ

की पुत्री सुसुमा बालिका को मैं रक्खूँगा। ऐसा विचार कर उन्होंने धन्ना सार्थवाह के घर डाका डाला। बहुत सा धन और सुसुमा बालिका को लेकर वे चोर भाग गये। अपने पाँच पुत्रों को तथा कोतवाल और राजसेवकों को साथ लेकर धन्ना सार्थवाह ने चोरों का पीछा किया। चोरों से धन लेकर राजसेवक तो वापिस लौट गये किन्तु धन्ना और उसके पाँचों पुत्र ने सुसुमा को लेने के लिए चिलात का पीछा किया। उनको पीछे आता देख कर चिलात थक गया और सुसुमा को लेकर भागने में असमर्थ होगया। इस लिए तलवार से सुसुमा का सिर काट कर धड़ को वहीं छोड़ दिया और सिर हाथ में लेकर भाग गया। जंगल में दौड़ते दौड़ते उसे बड़े जोर से प्यास लगी। पानी न मिलने से उसकी मृत्यु होगई।

धन्ना सार्थवाह और उसके पाँचों पुत्र चिलात चोर के पीछे दौड़ते २ थक गए और भूख प्यास से व्याकुल होकर वापिस लौटे। रास्ते में पड़े हुए सुसुमा के मृत शरीर को देख कर वे अत्यन्त शोक करने लगे। वे सब लोग भूख और प्यास से घबराने लगे तब धन्ना सार्थवाह ने अपने पाँचों पुत्रों से कहा कि मुझे मार डालो और मेरे मांस से भूख को और खून से तृषा को शान्त कर राजगृह नगर में पहुँच जाओ। यह बात उन पुत्रों ने स्वीकार नहीं की। वे कहने लगे– आप हमारे पिता हैं। हम आपको कैसे मार सकते हैं? तब कोई दूसरा उपाय न देख कर पिता ने कहा कि सुसुमा तो मर चुकी है। अपने को इसके मांस और रुधिर से भूख और प्यास बुझा कर राजगृह नगर में पहुँच जाना चाहिए। इस बात को सब ने स्वीकार किया और ऐसा ही करके वे राजगृह नगर में पहुँच गए। *

---

* इस कथन से यह प्रकट होता है कि धन्ना सार्थवाह जैन नहीं था। भगवान् महावीर के धर्मोपदेश से जैन साधु बन कर सुगति को प्राप्त हुआ।

एक समय श्रमण भगवान् महावीरस्वामी राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में पधारे। धर्मोपदेश सुन कर उसे वैराग्य उत्पन्न होगया। भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। कई वर्षों तक संयम का पालन कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धिपद को प्राप्त करेगा।

जिस प्रकार धन्ना सार्थवाह ने वर्ण, गन्ध, रस, रूप आदि के लिए नहीं किन्तु केवल अपने शरीर निर्वाह के लिए और राजगृह नगरी में पहुँचने के लिए ही सुंसुमा बालिका के मांस और रुधिर का सेवन किया था। इसी प्रकार साधु साध्वियों को भी इस अशुचिरूप औदारिक शरीर की पुष्टि एवं रूप आदि के लिए नहीं किन्तु केवल सिद्धगति को प्राप्त करने के लिए ही आहार आदि करना चाहिए। ऐसे आत्मार्थी साधु साध्वी एवं श्रावक श्राविका इस लोक में भी पूज्य होते हैं और क्रमशः मोक्ष सुख को प्राप्त करते है।

(१९) पुण्डरीक और कुण्डरीक की कथा

उन्नीसवां 'पुण्डरीक ज्ञात' अध्ययन—जो बहुत समय तक संयम का पालन कर पीछे संयम को छोड़ दे और सांसारिक पदार्थों में विशेष आसक्त हो जाय तो उसे अनर्थ की प्राप्ति होती है। यदि उत्कृष्ट भाव से शुद्ध संयम का पालन थोड़े समय तक भी किया जाय तो आत्मा का कल्याण हो सकता है। इस बात को बताने के लिए इस अध्य० में पुंडरीक और कुंडरीक का दृष्टांत दिया गया है।

पूर्व महाविदेह के पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नाम की नगरी थी। उसमें महापद्म नाम का राजा राज्य करता था। [उ]सके पुंडरीक और कुंडरीक दो पुत्र थे। कुछ समय पश्चात् राजा [म]हापद्म ने अपने ज्येष्ठपुत्र पुंडरीक को राजगद्दी पर बिठा कर तथा

कुण्डरीक को युवराज बना कर धर्मघोष स्थविर के पास दीक्षा ले ली। बहुत वर्षों तक संयम का पालन कर सिद्धिपद को प्राप्त किया।

एक समय फिर वे ही स्थविर मुनि पुण्डरीकिणी नगरी के नलिनीवन उद्यान में पधारे। धर्मोपदेश सुन कर राजा पुण्डरीक ने तो श्रावक व्रत अङ्गीकार किये और कुण्डरीक ने दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद वे जनपद में विहार करने लगे। अन्तप्रान्त आहार करने से उनके शरीर में दाहज्वर की बिमारी उत्पन्न होगई। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक समय वे पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे। स्थविर मुनि को पूछ कर कुण्डरीक मुनि पुण्डरीक राजा की यानशाला में ठहरे। राजा ने मुनि के योग्य चिकित्सा करवाई। जिससे वे थोड़े ही समय में स्वस्थ होगए। उनके साथ वाले मुनि विहार कर गये किन्तु कुण्डरीक मुनि ने विहार नहीं किया और साधु के आचार में भी शिथिलता करने लगे। तब पुण्डरीक राजा ने उन्हें समझाया। पुण्डरीक के समझाने पर कुण्डरीक मुनि विहार कर गये। कुछ समय तक स्थविर मुनि के साथ उग्र विहार करते रहे किन्तु फिर शिथिलाचारी बन कर वे अकेले ही पुण्डरीकिणी नगरी में आगये। कुण्डरीक मुनि को इस प्रकार शिथिलाचारी देख कर पुण्डरीक राजा ने उन्हें बहुत समझाया किन्तु वे समझे नहीं, प्रत्युत राजगद्दी लेकर भोग भोगने की इच्छा करने लगे।

पुण्डरीक राजा ने उनके भावों को जान कर उन्हें राजगद्दी पर स्थापित किया और स्वयमेव पचमुष्टि लोच करके प्रव्रज्या अङ्गीकार की। 'स्थविर भगवान् को वन्दना करने के पश्चात् मुझे आहार करना योग्य है' ऐसा अभिग्रह करके उन्होंने पुण्डरीकिणी नगरी से विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे स्थविर भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। गुरु के मुख से महाव्रत अङ्गीकार किये। तत्पश्चात् स्वाध्यायादि करके गुरु की आज्ञा लेकर भिक्षा

के लिये गये। भिक्षा में आये हुए अन्तप्रान्त एवं रूक्ष अशनादि का आहार करने से उनके शरीर में दाहज्वर की बीमारी होगई। अर्ध रात्रि के समय शरीर में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई। आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके संलेखना संथारा किया। शुभ ध्यान पूर्वक मरण प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध पद को प्राप्त करेंगे।

उधर राजगद्दी पर बैठ कर कुण्डरीक काम भोगों में आसक्त होकर बहुत पुष्टिकारक और कामोत्तेजक पदार्थों का अतिमात्रा में सेवन करने लगा। वह आहार उसे पचा नहीं, जिससे अर्ध रात्रि के समय उसके शरीर में अत्यन्त तीव्र वेदना उत्पन्न हुई। आर्त्त, रौद्रध्यान ध्याता हुआ कुण्डरीक मर कर सातवीं नरक में गया।

इस दृष्टान्त से शास्त्रकारों ने यह उपदेश दिया कि जो साधु, साध्वी चारित्र ग्रहण करके शुद्ध आचरण करते हैं वे थोड़े समय में ही आत्मा का कल्याण कर जाते हैं। जैसा कि पुण्डरीक मुनि स्वल्प काल में ही शुद्ध आचरण द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेगे। जो साधु, साध्वी संयम लेकर पड़िवाई होजाते है अर्थात् संयम से पतित होजाते है और कामभोगो में आसक्त हो जाते है। वे कुण्डरीक की तरह दुःख पाते है और मर कर दुर्गति में जाते है। अतः लिये हुए व्रत, प्रत्याख्यानों का भली प्रकार पालन करना चाहिए।

८५२ (ख) वैनयिकी (विणीया) बुद्धि के १५ दृष्टान्त—

निमित्ते अत्थसत्थे अ, लेहे गणिए अ कूव अस्से य।
गद्दभ (ह) लक्खण गंठी, अगए रहिए य गणिया॥
सीया साड़ी दीहं च तणं, अवसव्वयं च कुंचस्स।
निव्वोदये य गोणे, घोडग पडणं च रूक्खाओ॥

गाथार्थ –निमित्त १, अर्थ शास्त्र २, लेख ३, गणित ४, कूप ५, अश्व ६, गर्दभ ७, लक्षण ८, ग्रन्थि ९, अगद १०, रथिक और गणिका ११ १२, गली साड़ी को ठडी कहने और तृण को लम्बा कहने, एव क्रौंच का वाम भाग में घूमन मे आचार्य का बोध १३, विषमय पानी से जार मरण १४, व वैल का चोरी जाना, घोड़े का मरण और वृक्ष से पतन १५,–

इन सब उदाहरणों का कथारूप मे स्पष्टी करण इस प्रकार है —

१ निमित्ते —निमित्त का दृष्टान्त–जैसे–किसी नगर में एक सिद्ध पुत्र अपने दो शिष्यों को निमित्त शास्त्र पढ़ा रहा था। शिष्यों में एक जो विनय सम्पन्न था वह गुरु के उपदेश को यथावत् बहुमान पूर्वक स्वीकार करता और बाद में अपने चित्त में विचार करते हुए जहाँ भी सन्देह हुआ, तत्काल गुरु के पास जाकर विनय पूर्वक पूछलेता। इस प्रकार निरन्तर विनय और विवेक के साथ शास्त्र पढ़ते हुए उसने तीव्र बुद्धि प्राप्त कर ली। दूसरा इन गुणों से रहित होने के कारण केवल शब्द ज्ञान ही प्राप्त कर सका। एक दिन दोनों गुरु के आदेश से किसी पास के गाँव में जा रहे थे। मार्ग में किसी बड़े जन्तु के चरण चिन्ह दिखाई देते थे, विनयी शिष्य न दूसरे से पूछा कि बन्धु! ये किस के पाँव हैं? उसने कहा इसमें क्या पूछना? ये साफ हाथी के पाँव के चिन्ह दीखते हैं। विनयी ने कहा–नहीं ऐसा नहीं हो सकता, ये हथिनी के चरण चिन्ह हैं और वह हथिनी बाई आँख से कानी है तथा उस पर किसी बड़े घर की सधवा स्त्री बैठकर जा रही है और एक दो दिन में ही उसको बालक पैदा होगा क्योंकि उसके मास अब पूरे हो गये हैं। विनयी के ऐसा कहने पर दूसरे ने पूछा–

अजी ! यह किस पर से समझते हो ? विनयी बोला—ज्ञान का सार ही विश्वास होना है, चलो आगे इसका निर्णय हो जायगा। ऐसा कहकर दोनों उस गाँव में पहुँचे। जाते ही देखते हैं कि गाँव के बाहर तालाब के किनारे किसी रानी का डेरा है और हथिनी भी बाँई आँख से काँणी है, इसी बीच में आकर एक दासी ने मन्त्री से कहा कि स्वामिन् ! राजा को पुत्र लाभ हुआ है, बधाई दीजिये। विनयी ने ऐसा सुनकर दूसरे से कहा कि क्यों बन्धु ? दासी का वचन सुना ? उसने कहा—हाँ, तेरी सब बात सच्ची है। फिर तालाब में हाथ पाँव धोकर दोनों विश्राम के लिए एक वट वृक्ष के नीचे बैठे। उधर से मस्तक पर पानी का घड़ा रक्खे हुए एक बुढ़िया जा रही थी उसने इन दोनों की आकृति व प्रकृति देख-कर सोचा कि ये दोनों विद्वान् हैं। अतः इनसे पूछना चाहिए कि मेरा देशान्तर में गया हुआ पुत्र कब लौटेगा ? ऐसा सोच कर पास गई और नम्रता पूर्वक पूछने लगी। उसी समय मस्तक से गिरकर घड़ा टुकड़े २ हो गया तुरन्त दूसरा यह देखकर बोल उठा—माँ ! तेरा पुत्र घड़े की तरह मर गया है। इस पर विनयी ने कहा—मित्र ! ऐसा मत कहो। इसका पुत्र अभी घर पर आया हुआ है और बुढ़िया से भी बोला कि माँ ! घर जाओ और अपने बिछुड़े हुए पुत्र का मुँह देखो।

विनयी की बात से प्रसन्न हुई बुढ़िया उसको आशीर्वाद देती हुई घर गई और उसी समय घर पर आये हुए पुत्र को । पुत्र के प्रणाम करने पर आशीर्वाद देकर बुढ़िया नैमित्तिक का कहा हुआ सब वृत्तान्त पुत्र से कह सुनाया। फिर पुत्र को पूछकर कुछ रुपैये व वस्त्र युगल

बुढ़िया ने विनयी को अर्पण किये। तब दूसरा सोचने लगा कि-अहो ! गुरु ने मुझे अच्छा नहीं पढ़ाया है, अन्यथा जैसा यह जानता है, वैसा मैं भी क्यों नहीं जानता ! कार्य हो जाने पर दोनों गुरु के पास आए। गुरु के दर्शन करते ही विनयी ने अञ्जलि जोड़े हुए सिर को नमा कर आनन्दाश्रु पूर्वक गुरु के चरणों में प्रणाम किया। दूसरा शैलस्तम्भ की तरह थोड़ा भी बिना नमे, मात्सर्य धरता हुआ गुरु के सामने खड़ा रहा तब उससे गुरु बोले-अरे ! क्यों आज प्रणाम भी नहीं करता ? वह बोला-जिस को आपने अच्छी तरह पढ़ाया है वह ही प्रणाम करेगा, हम ऐसे पक्षपाती गुरु को प्रणाम नहीं करते। गुरु बोले- क्या तुम को अच्छा नहीं पढ़ाया ? इस पर उसने पहले का सब हाल कह सुनाया। तब गुरु ने विनयी से पूछा-वत्स ! तुमने यह सब कैसे जाना ? कहो ! वह बोला गुरुदेव ! मैंने आपकी कृपा से विचार करना शुरु किया कि हाथी के तो पाँव दिखते ही हैं किन्तु विशेषता क्या है ? फिर उसकी लघुशंका को देखकर निश्चय किया कि ये हथिनी के पाँव हैं। दक्षिण बाजू के सब वृक्ष खाए हुए थे किन्तु बाँई बाजू के नहीं, इससे यह समझा कि बाँईं आँख से वह कानी है। साधारण मनुष्य हाथी की सवारी नहीं कर सकता। इससे निश्चय किया कि इस पर राजकीय मनुष्य है। वृक्ष पर लगे हुए रंगीन वस्त्र के भाग से सधवा रानी और भूमि पर लघुशंका करने के बाद हाथ टेककर उठने से गर्भवती है तथा दक्षिण चरण और हाथ पर अधिक भार पड़ने से थोड़े समय में ही पुत्रोत्पत्ति होगी ऐसा समझा। उस वृद्धा के प्रश्न करते वक्त घड़ा गिरकर टूट गया तब मैंने सोचा कि जैसे यह

मिट्टी भाग मिट्टी में और पानी का पानी में मिल गया है ऐसे ही वृद्धा को भी इसका पुत्र मिलना चाहिए। विनयी के इस प्रकार विवेक ज्ञान को सुन कर आचार्य्य ने प्रेम प्रकट किया और उसकी समझ की तारीफ की, फिर दूसरे से बोले-वत्स! इसमें हमारा दोष नहीं, यह तेरा ही दोष है कि तूं विचार नहीं करता, हम तो शास्त्र समझाने के अधिकारी हैं विमर्श करना तो तुम्हारा ही कार्य्य है। विनयी शिष्य की यह निमित्त विषय में वैनयिकी बुद्धि हुई।

२–अत्थसत्थे– अर्थ शास्त्र के विषय में कल्पक मन्त्री का दृष्टान्त है।

३–४– लेहे– लिपिज्ञान और गणिए-गणित ज्ञान में कुशलता भी विनयजा बुद्धि है।

५– कूव– कूप-भूमि विज्ञान में कुशल ऐसे पुरुष का उदाहरण, जैसे– किसी खोद कार्य में कुशल पुरुष ने एक किसान को कहा कि यहाँ इतनी दूर में पानी है। जब उतनी जमीन खोद लेने पर भी पानी नहीं निकला। तब किसान ने उससे कहा, पानी तो नहीं निकला। तब उसने कहा–बाजू की भूमि पर जरा (थोड़ा) एड़ी से प्रहार करो। किसान के ऐसा करते ही पानी निकल आया। यह उसकी वैनयिकी बुद्धि है।

६– अस्से– अश्व के ग्रहण में वासुदेव की बुद्धि का उदाहरण, जैसे-किसी समय बहुत से घोड़ों के व्यापारी घोड़े बेचने को द्वारिका गये। उस समय यदुवंशी राजकुमारों ने सब आकार प्रकार से बड़े घोड़े खरीदे, वासुदेव ने लक्षण सम्पन्न एक दुर्बल घोड़ा खरीदा। कुछ ही दिनों में वह घोड़ा सब हृष्ट-पुष्ट घोड़ों को पीछे चलाने वाला और कार्यक्षम सिद्ध हुआ।

यह वासुदेव की विनयजा बुद्धि थी।

७– गद्दभ– गर्दभ का दृष्टान्त-जैसे किसी राजपुत्र को युवावस्था के प्रारम्भ में ही राज्यपद मिला था। इसस वह सभी कार्यों में युवावस्था को ही समर्थ मानता था, इसीलिए उसने अपने सैन्य में भी सब युवकों को ही भर्ती किया तथा वृद्धों को निकाल दिया एक दिन सैन्य लेकर राजा कहीं युद्ध को गया हुआ था, जब कि अकस्मात् मार्ग भूल जाने से किसी अटवी में पड़ गया और पानी नहीं होने से साथ के सभी लोग प्यास के मारे व्याकुल हो गये। तब राजा भी किंकर्तव्य विमूढ़ बन गया। उस समय एक सेवक ने कहा– देव ! वृद्ध पुरुष की बुद्धि रूप नौका के सिवाय यह दुःख सागर पार नहीं किया जा सकता। अत आप किसी वृद्ध पुरुष की तलाश करें। इस पर राजा ने सब कटक में वृद्ध की तलाश की व घोषणा करवाई। वहाँ एक पितृभक्त सैनिक ने छिपाकर अपने पिता को रक्खा था। वह बोला– देव ! मेरा पिता वृद्ध है, सुनकर राजा ने उसे बुलाया और आदर से पूछा– महाभाग ! मेरे सैन्य को इस अटवी में पानी कैसे मिलेगा ? वृद्ध ने कहा– स्वामिन् ! कुछ गदहों को स्वतन्त्र छोड़ दीजिये और जहाँ वे भूमि को सूँघे वहीं आस पास में पानी है यह समझ लेवें। वैसा ही किया गया जिससे कटक को पानी मिल गया और सभी लोग स्वस्थ हो गये। यह स्थविर की विनयजा बुद्धि थी।

८– लक्खण– लक्षण का दृष्टान्त– जैसे-पारसदेशीय एक गृहस्थ बहुत से घोड़ों का मालिक था। उसने किसी योग्य आदमी को घोड़ों के रक्षण के लिए रक्खा और उससे कहा कि

इतने वर्ष तक तुम काम करोगे तो दो घोड़े तुम को परिश्रम के बदले दिये जायेंगे। उसने भी यह स्वीकार कर लिया। रहते २ स्वामी की लड़की के साथ उसका बड़ा स्नेह हो गया। एक दिन उसने कन्या से पूछा- इन सब घोड़ों में कौन से दो घोड़े सब से अच्छे हैं ? स्वामिकन्या ने कहा- कि यों तो सभी घोड़े विश्वास पात्र हैं, किन्तु दो घोड़े जो वृक्षों से गिराए हुए बड़े पत्थरों के शब्दों को सुन कर भी नहीं डरते वे उत्तम हैं। उसने उसी प्रकार परीक्षा की और उन घोड़ों को पहचान लिया। फिर वेतन लेने के समय में स्वामी से बोला कि मुझे अमुक २ घोड़े दीजिये। स्वामी बोला- अरे ! दूसरे अच्छे २ घोड़े हैं। उनको ले, इन दो को लेकर क्या करेगा ? ये अच्छे भी नहीं है। लेकिन उसने यह बात नहीं मानी। तब सेठ ने सोचा- इसको घर जमाई बना लेना चाहिए, नहीं तो इन उत्तम घोड़ों को लेके यह चला जायगा। लक्षण सम्पन्न घोड़े से कुटुम्ब व अश्वसम्पत्ति की भी वृद्धि होगी। ऐसा सोच कर कन्या की अनुमति से उन दोनों का विवाह कर दिया। उसको घर जमाई बनाने से लक्षण सम्पन्न घोड़े बचा लिए गये। यह अश्वस्वामी की विनयजा बुद्धि थी।

६- गंठी- ग्रन्थि के द्वारा समझने में पादलिप्ताचार्य की बुद्धि का दृष्टान्त इस प्रकार है- किसी समय पाटलिपुर में मुरंड नाम का राजा राज्य करता था। परराष्ट्र के राजा ने एक दिन कौतुक के लिए उसके पास तीन चीजें भेजी। १ गूढ़-सूत्र- (छिपि गाँठ वाला सूत), २ समयष्टि- समयभाग वाली लकड़ी, व ३- लाख से चिपकाया हुआ छिपे द्वार का डिब्बा। राजा ने अपने सभी दरबारियों को ये चीजे दिखाई किन्तु कोई भी नहीं समझ सका। तब राजा ने पादलिप्त नाम के

आचार्य को बुलाकर पूछा– भगवन् ! आप इनके ग्रन्थि द्वार जानते हो ? आचार्य ने कहा– हाँ जानता हूँ। ऐसा कह कर उसी समय सूत को गरम पानी में डाला, तो उष्ण पानी के संयोग से सूत का मैल हट गया और अन्त– ग्रन्थि का भाग दिख पड़ा। लकड़ी को भी पानी में गिराया जिससे मालूम हुआ कि मूल भारी है, और भारी भाग पर ही ग्रन्थि होती है। फिर डिब्बे को भी गरम करवाया जिससे लाख का सब भाग गल जाने पर द्वार प्रकट हो गया। राजा आदि सभी दर्शक इस कौतुक को देख कर खुश हुए फिर राजा ने आचार्य से कहा– महाराज ! आप भी कोई, ऐसा दुर्भेद कौतुक करिये जिस को मैं यहाँ भेज सकूँ। तब आचार्य ने किसी तुम्बी के एक प्रदेश में एक खण्ड हटाकर वहाँ रत्न भर दिए तथा उस खण्ड को इस प्रकार सी दिया कि किसी को लक्षित ही नहीं हो। फिर परराष्ट्र के राजपुरुषों को सूचना कर दी कि इसको बिना तोड़े ही इस में रत्न ले लेवें। किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी उनको रत्नों का पता नहीं चला। यह आचार्य की विनयजा बुद्धि थी।

१०– अगए– अगद, वैद्य की विषोपशमन बुद्धि का दृष्टान्त जैसे– किसी राजा के राज्य को शत्रुपक्ष के राजाओं ने चारों ओर से घेर लिया छोटे सैन्य से उनका मुकाबला करना कठिन है। ऐसा सोचकर राजा ने पानी में विषप्रयोग करवाना शुरू किया। सभी लोग अपने अपने पास का विष लाने लगे। एक वैद्य यवमात्र विष लाकर राजा को भेट किया। बहुत थोड़ा विष देख कर राजा वैद्य पर बहुत क्रुद्ध हुआ। तब वैद्य बोला महाराज ! यह विष सहस्रवेधी है। थोड़ा देख कर आप नाराज

न होवें। इस पर राजा ने पूछा- कि इसके सहस्रवेधी होने में क्या सबूत है? वैद्य बोला - देव किसी पुराने हाथी को मँगवाईये। मैं प्रयोग करके दिखाता हूँ। उसी समय एक बूढ़ा हाथी लाया गया और वैद्य ने उसकी पुच्छ का एक वाल उखाड़ कर उस वाल से हाथी के भिन्न भिन्न अंगों में विष प्रयोग किया। जिस जिस अंग में विष फैलता गया उन २ अंगों को नष्टसा कर दिया। तब वैद्य बोला- देव! हाथी विषमय हो गया है अब जो भी इसको खायगा वह भी विष-मय हो जायगा। इस प्रकार यह विष क्रमशः हजार तक पहुँ-चता है। हाथी की मृत्यु से राजा कुछ उदास होकर बोला- क्या अब हाथी को जिलाने का उपाय भी है? वैद्य बोला- जरूर। उसी वाल के रन्ध्र- (खड्डे) में एक औषध दिया गया जिससे कुछ ही समय में वह विषविकार शान्त हो गया। हाथी अच्छा बन गया और राजा भी वैद्य पर सन्तुष्ट हुआ। यह वैद्य की विनयजा बुद्धि हुई।

११-१२-उदाहरण 'रथिक और गणिका'-पाटलीपुत्र में कोशा नाम की एक वैश्या रहती थी। उसके यहाँ स्थूलभद्र मुनि ने वर्षावास किया और हावभाव से विचलित न होकर उसको उपदेश से श्राविका बनादी, जिससे राज नियोग के सिवाय उसने भी मैथुन के त्याग कर दिए। किसी समय एक रथिक ने राजा को प्रसन्न कर कोशा की माँगणी की। राजा ने भी उसके माँगने पर कोशा को हुकुम दे दिया, किन्तु जब रथिक उसके पास पहुँचा तो वह बारम्बार स्थूलभद्र मुनि की स्तुति करती, परन्तु उसको नहीं चाहती। रथिक अपने विज्ञान से उसको प्रसन्न करने के लिए अशोक वनिका में ले गया और जमीन पर खड़ा २ आम्रवृक्ष से आम्र की तुम्बी को

तोड़कर अर्धचन्द्र के आकार से काटली। फिर भी कोशा सन्तुष्ट नहीं हुई और बोली कि शिक्षित को क्या दुष्कर है, देखो मैं सर्षप की राशिपर सूई में पोये हुए कनेर के फूलों पर नाचती हूँ, ऐसा कह कर उसने सर्षप राशि पर नृत्य कर दिखाया। रथिक कुशल उसकी बहुत प्रशंसा करने लगा, तब वैश्या ने कहा–"आम्र की तुम्बी को तोड़ना और सर्षप की ढगी पर नाचना दुष्कर नहीं, किन्तु प्रमदा–समूह में रहकर मुनि बना रहना यह दुष्कर है"। इस पर स्थूलभद्र मुनि का वृत्तान्त कह सुनाया, जिससे रथिक को भी वैराग्य आगया। यह रथिक और गणिका की विनयजा बुद्धि हुई।

१३–माटी आदि का दृष्टान्त–जैसे– कुछ राजकुमारों को एक कलाचार्य शिक्षण दे रहा था। राजकुमारों ने भी उपकार के बदले में बहुमूल्य द्रव्यों से समय समय पर आचार्य का सम्मान किया। इस प्रकार अपने पुत्रों के बहुमूल्य द्रव्य देने पर क्रुद्ध होकर राजा ने आचार्य को मरवाना चाहा। किसी तरह राज पुत्रों को यह बात मालूम होगई। उन्होंने सोचा कि विद्या दाता होने से आचार्य भी हमारे पिता हैं, अतः इनको विपत्ति से बचा लेना हमारा कर्त्तव्य है। थोड़ी देर के बाद आचार्य भोजन के लिए आए और धोती माँगने लगे। इस पर कुमारों ने सूखी होते हुए भी कहा धोती गीली है तथा द्वार के सामने एक छोटा तृण खड़ा करके बोले-तृण बहुत दीर्घ लम्बा है। ऐसे ही क्रौंच शिष्य पहले सदा आचार्य की दक्षिण ओर से प्रदक्षिणा करता किन्तु अभी वह वामभाग से घूमने लगा। इस प्रकार कुमारों के विपरीत कथन और क्रौंच के वाम भ्रमण से आचार्य समझ गये कि सभी मेरे से विरुद्ध (उलटे) हैं, केवल ये कुमार ही भक्ति बता रहे हैं। ऐसा सोचकर राजा की शंकित

न हो इस प्रकार से आचार्य चले गए। यह आचार्य और कुमारों की विनयजा बुद्धि हुई।

१४–निव्वोदए–नीओदक–कोतवाल की मृतक परीक्षा का दृष्टान्त–जैसे–बहुत दिनों से किसी वणिक् स्त्री का पति विदेश में गया हुआ था। एक दिन उस वणिक् वधूने कामातुर होकर अपनी दासी से किसी पुरुष को लाने के लिए कहा–दासी भी एक युवावस्था सम्पन्न पुरुष को ले आई। फिर नाई से उसके नख केश आदि का संस्कार करवाया गया। रात में उस पुरुष के साथ सेठानी दूसरे मंजिल पर गई। कुछ समय के बाद उस पुरुष को प्यास लगी। उसने तत्काल बरसा हुआ मेघ का पानी पीलिया। पानी त्वचा में विष वाले सर्प से छुआ गया था। अतः पानी पीने के दूसरे ही क्षण वह पुरुष मर गया। इस आकस्मिक घटना से भयभीत हो, उस वणिक् वधूने रात के पिछले भाग में किसी शून्य देवल में वह शव लेजाकर रखवा दिया। प्रातः काल होते ही लोगों की दृष्टि पड़ी तो तुरन्त कोतवाल को सूचना दी गई। उसने आकर देखा तो मालूम हुआ कि इस मृत पुरुष के नख केशादि थोड़े ही समय पहले बनाये गये हैं। इस पर नाइयों से पूछा गया, उन मे से एक ने कहा कि स्वामिन्! अमुक सेठ की दासी के कहने से इसके नख आदि मैंने बनाए हैं। दासी से भी इस बात की जाँच करके भेद खुलवा लिया। यह नगर रक्षक की विनयजा बुद्धि हुई।

१५–गोणे–घोडग (मरणं), पड़णं च रुक्खाओ, बैल की चोरी होना, प्रहार से घोड़े का मरण और पुराने वस्त्र के टूटने के कारण वृक्ष से गिरना, इनका अभिप्राय निम्न दृष्टान्त से

समझें—जैसे-किसी गाँव में एक पुण्यहीन पुरुष रहता था। एक दिन वह अपने मित्र से बैल माँगकर हल चलाने गया। कार्य हो जाने पर सन्ध्या के समय बैल को बाड़े में लाकर छोड़ दिया। मित्र भोजन कर रहा था। अतः वह उसके पास नहीं गया, केवल मित्र ने बैल को देख लिया है, इस लिये मित्र को बिना कहे ही वह अपने घर चला गया। बैल असावधानी के कारण बाड़े से निकल कर कहीं चला गया और चोरों ने मौका पाकर उसको चुरा लिया। मित्र बाड़े में बैल को न देखकर उससे मागने लगा, किन्तु वह कहाँ से देता? क्यों कि वह तो चोरी हो गया था। तब न्याय कराने के लिए वह मित्र पुण्यहीन को राजकुल में ले चला मार्ग में घोड़े पर चढ़ा हुआ एक आदमी सामने से आ रहा था। अकस्मात् घोड़े के चौंकने से वह उस पर से गिर गया और घोड़ा भागने लगा। ये लोग सामने आ रहे थे। इस वास्ते उसने कहा कि घोड़े को जरा मार के यहीं रोक रखना। पुण्यहीन ने उसकी बात सुनते ही घोड़े के मर्मस्थल पर एक प्रहार कर दिया। घोड़ा कोमल प्रकृति का होने से प्रहार लगते ही मर गया। अब तो घोड़े वाला भी पुण्यहीन पर अभियोग चलाने को साथ हो गया। जब तक ये लोग नगर के पास आये तब तक सूर्य अस्त हो गया। इसलिए रात में तीनों ही नगर के बाहर ठहर गये। वहाँ बहुत से नट सोए हुए थे। उसी समय वह पुण्यहीन सोचने लगा कि इस प्रकार के दुःख से तो गले में पाश डाल के मर जाना ही अच्छा है, जिससे कि सदा के लिए विपत्ति का पिण्ड ही छूट जाय। ऐसा सोचकर अपने वस्त्र का वृक्ष में पाश बाँध कर गले में डाल लिया। अत्यन्त जीर्ण होने से वह वस्त्र भार पड़ते ही

टूट गया। इससे वह बेचारा नीचे सोए हुए एक नट के मुखिया पर जा गिरा, जिससे वह नट मर गया।

नटों ने भी उस पुण्यहीन को पकड़ा और सुबह होते ही तीनों पुण्यहीन को लिये हुए राज कुल में पहुँचे। राजकुमार ने उन सबों की बातें सुनकर पुण्यहीन से पूछा। उसने दीनता के साथ कहा कि महाराज! इन सब का कहना सच्चा है। तब राजकुमार उस पर दया करके उसके मित्र से बोले कि यह तुमको बैल देगा, किन्तु, तुम्हारी आँखें उखाड़ देगा, क्योंकि जिस समय तुमने अपने सामने बैल देख लिया उसी समय यह ऋण मुक्त हो गया। अगर तुम नहीं देखे होते तो यह भी अपने घर नहीं जाता। क्योंकि जो जिस को कुछ देने के लिए आता है वह बिना उसको समझाये अपने घर नहीं जा सकता। इसने तुम्हारे सामने लाकर बैल छोड़ा था। अतः यह निर्दोष है। फिर घोड़े वाले को बुलाया और कहा कि हम तुम्हारा घोड़ा दिलायेंगे, लेकिन तुमको अपनी जीभ काट कर इसको देनी होगी। क्योकि तुम्हारे कहने पर ही इसने घोड़े पर प्रहार किया है बिना कहे नहीं, अतः तुम्हारी जीभ ही पहले दोषी होती है, उसको उखाड़ कर अलग कर देना चाहिए। इसी प्रकार नटों को बुलाकर कहा– देखो, इसके पास कुछ भी नहीं, जो तुम को दण्ड में दिलाएँ, इन्साफ इतना ही कहता है कि जैसे – गले में पाश डालकर यह वृक्ष से तुम्हारे स्वामी पर गिरा, इसी प्रकार तुम्हारे में से कोई भी प्रधान इस पर वृक्ष से गिरे, यह नीचे सो जायगा। कुमार की ऐसी बातें सुनकर सभी चुप हो गये और वह पुण्यहीन अभियोग से मुक्त हो गया। यह

राजकुमार की वैनयिकी बुद्धि हुई।

(नन्दी सूत्र, पूज्य श्री हस्तिमल जी महाराज कृत)

संख्यारेशरनारदेन्दु गणिते वर्षे शुभे वैक्रमे।
मासे श्रावणके शनैश्चरदिने शुक्ले तृतीया तिथौ॥
आशीर्भिः प्रतिना सतां च सुधियां मोर्यस्वनिष्ठावताम्।
भाग पञ्चम एष बोलजलधे यात समाप्तिं मुदा॥

॥ इति शुभम् ॥

पुस्तक मिलने का पता—

श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया
सेठिया जैन लाईब्रेरी
बीकानेर (राजपूताना)

श्री भैरोदान सेठिया
जैन प्रेस (रानी बाजार)
बीकानेर (राजपूताना)
B. K. S. R

परिशिष्ट

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह में दिये गए गाथाओं के भावार्थ का मूल पाठ

'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' के कई बोलों में सूत्र की गाथाओं का भावार्थ दिया गया है। अस्वाध्याय काल में बाँचने से होने वाली सूत्रों की आशातना से बचने के लिए वहाँ मूल गाथाएं नहीं दी गई। यहाँ उन सब गाथाओं को दिया जाता है। पाठकों को चाहिए कि उन्हें अस्वाध्याय के समय को टाल कर पढ़ें। अस्वाध्यायों के ज्ञान के लिए नीचे सवैये दिए जाते हैं।

तारो टूटे, राति दिशा अकाल में मेह गाजे,
बीज कड़के अपार, भूमिकंप भारी है।
बाल चन्द्र, जख चेन, आकाशे अगन काय,
काली धोली धुंध और रजोघात न्यारी है ॥१॥
हाड़, मांस, लोही, राध, ठंडले मसाण बले,
चन्द्र सूर्य ग्रहण और राज मृत्यु टाली है।
थानक में मर्यो पड़यो, पंचेन्द्रिय कलेवर,
बीस बोल टाल कर ज्ञानी आज्ञा पाली है ॥२॥
आषाढ़, भादों, आसु, काती और चैती पूनम जाण,
इण थी लगती टालिए पड़वा पाँच बखाण।
पड़वा पॉच बखाण, सांझ सबेर मध्य न भणिये,
आधी रात दोष हर, सब मिल चौंतीस गिणिए ॥३॥
चौंतीस असभाई टाल के, सूत्र भणसी सोय।
ऋषि लालचंद इण परि कहे, ताके विघन न व्यापे कोय ॥४॥

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ९ उद्देशा ३

(बोल नं० ८४३)

आयरिअ अग्गिमिवाहिअग्गी, सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा ।
आलोइअं इंगिअमेव नच्चा, जो छन्दमाराहयई स पुज्जो ॥ १ ॥
आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरु तु नासाययई स पुज्जो ॥ २ ॥
रायणिएसु विणयं पउंजे, डहरावि अ जे परिआयजिट्ठा ।
नीअत्तणे वट्टई सच्चवाई, उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ ३ ॥
अन्नायउंछं चरई विसुद्धं, जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुअं नो परिदेवइज्जा, लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥ ४ ॥
संथारसिज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभेऽवि संते ।
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥ ५ ॥
सक्का सहेउ आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए, वईमए कन्नसरे स पुज्जो ॥ ६ ॥
मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया, अओमया तेऽवि तओ सुउद्धरा ।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥
समावयंता वयणाभिघाया, कन्नं गया दुम्मणिअं जणंति ।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ ८ ॥
अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पिअकारिणिं च, भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ९
अलोलुए अक्कुहए अमाई, अपिसुणे आवि अदीणवित्ती ।
नो भावए नोऽवि अ भाविअप्पा, अकोउहल्ले अ सया स पुज्जो १०
गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू ।
विआणिआ अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥ ११ ॥
तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।

नो हीलए नोऽवि अ खिंसइज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥१२॥
जे माणिआ सययं माणयंति, जत्ते ण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥१३॥
तेसिं गुरूणं गुणसायराणं, सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥
गुरुमिह सययं पडिअरिअ मुणी, जिणमयनिउणे अभिगम कुसले ।
धुणिअ रयमलं पुरेकडं, भासुरमउलं गइं वइ ॥ १५ ॥

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २०

(बोल नम्बर ८५४)

इमा हु अन्नावि अणाहया निवा, तामेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे ।
नियंठधम्मं लहियाणवी जहा, सीयंति एगे बहुकायरा नरा ॥१॥
जे पव्वइत्ताण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अणिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बंधणं से ॥२॥
आउत्तया जस्स य नत्थि कावि, इरियाइ भासाइ तहेसणाए ।
आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए, न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥ ३ ॥
चिरंपि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे ।
चिरंपि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए ॥ ४ ॥
पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयंतिते कूडकहावणे य ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ५ ॥
कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता ।
असंजए संजय लप्पमाणे, विणिघायमागच्छइ से चिरंपि ॥६॥
विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीअं ।
एसेव धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥ ७ ॥
जो लक्खणं सुविणं पउंजमाणो, निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तंमि काले ॥ ८ ॥

तमतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणी, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥९॥
उद्देसियं कीयगडं नियागं न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता, इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥१०॥
न तं अरी कंठ छित्ता करेई, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ ११ ॥
निरत्थया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठे विवयासमेइ ।
इमेवि से नत्थि परेवि लोए, दुहओऽवि से झिज्जइ तत्थ लोए ॥१२॥
एमेवऽहाछंदकुसीलरूवे, मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ ॥ १३ ॥
सुचाण मेहावि सुभासियं इमं, अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं, महानियंठाण वए पहेणं ॥ १४॥
चरित्तमायारगुणन्निए तओ, अणुत्तरं संजम पालियाणं ।
निरासवे संखवियाण कम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥१५॥

दशवैकालिक सूत्र चूलिका २

(बोल नम्बर ८६१)

चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं ।
जं सुणित्तु सपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १ ॥
अणुसोयपट्ठियबहुजणम्मि, पडिसोयलद्धलक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥ २ ॥
अणुसोय सुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहियाणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥
तम्हा आयारपरक्कमेणं, संवर समाहिबहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य, हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ४ ॥
अणिएयवासो समुयाणचरिया, अन्नायउंछं पइरिक्कया य ।

अप्पोवही कलह विवज्जणा अ, विहारचरिआ इसिणं पसत्था।। ५ ।।
आइन्नओ माणविवज्जणा अ, ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा ।। ६ ।।
अमज्जमंसासि अमच्छरीआ, अभिक्खणं निव्विगइं गया य ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ।।७।।
ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिंपि कुज्जा ।।८।।
गिहिणो वेआवडियं न कुज्जा, अभिवायणं वंदण पूअणं वा ।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ।।९।।
ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा।
इक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो।।१०।।
संवच्छरं वावि परं पमाणं, बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्जं भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ।।११।।
जो पुव्वरत्तावरत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि ।। १२ ।।
किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ।। १३ ।।
जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ।।१४।।
जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीअइ संजमजीविएणं ।। १५ ।।
अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ।।१६।।

उत्तराध्ययन अध्ययन १५

(बोल नम्बर ८६)

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं, सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने।
संथवं जहिज्ज अकामकामे, अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥१॥
राओवरयं चरिज्ज लाढे, विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥२॥
अक्कोसवहं विइत्तु धीरे, मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जो कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥३॥
पंतं सयणासणं भइत्ता, सीउण्हं विविहं च दंसमसगं।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जो कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥४॥
नो सक्कियमिच्छई न पूअं, नोवि य वंदणगं कुओ पसंसं।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥५॥
जेण पुणो जहाइ जीवियं, मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी, न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥६॥
छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं, सुविणं लक्खणं दंड वत्थुविज्जं।
अङ्गवियारं सरस्सविजयं, जो विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥७॥
मंतं मूलं विविहं विज्जचिंतं, वमणविरेयणधूमनेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥८॥
खत्तियगणउग्गरायपुत्ता, माहणभोई य विविहा य सिप्पिणो।
नो तेसिं वयई सिलोगपूअं, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥९॥
गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोयफलट्ठयाए, जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥१०॥
सयणासणपाणभोयणं, विविहं खाइमसाइमं परेसिं।
अदए पडिसेहिए नियंठे, जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ॥११॥

जं किं चाहारपाणगं विविहं, खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं ।
जो तं तिविहेण नाणुकंपे, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥१२॥
आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीरजवोदगं च ।
नो हीलए पिंडं नीरसं तु, पंतकुलाणि परिव्वए स भिक्खू ॥१३॥
सद्दा विविहा भवंति लोए, दिव्वा माणुसया तहा तिरिच्छा ।
भीमा भयभेरवा उराला, जो सुच्चा ण विहिज्जई स भिक्खू ॥१४॥
वायं विविहं समिच्च लोए, सहिए खेयाणुगए अ कोवियप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, उवसंते अविहेडए स भिक्खू ॥१५॥
असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिओ सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहु अप्पभक्खी, चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥१६॥

आचारांग श्रुतस्कंध १ अ० ९ उद्देशा २

(बोल नम्बर ८७४)

चरियासणाइं सिज्जाओ एगइयाओ जाओ वुइयाओ ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्था से महावीरे ॥१॥
आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो ।
अदुवा पलियठाणेसु पलालपुञ्जेसु एगया वासो ॥ २ ॥
आगन्तारे आरामागारे तह य नगरे व एगया वासो ।
सुसाणे सुण्णगारे वा रुक्खमूले व एगया वासो ॥ ३ ॥
एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे ।
राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ ॥ ४ ॥
णिद्दंपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए ।
जग्गावइ य अप्पाणं ईसिं साई य अपडिन्ने ॥ ५ ॥
संबुज्झमाणे पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए ।
निक्खम्म एगया राओ बहि चंकमिया मुहुत्तागं ॥ ६ ॥
सयणेहिं तत्थुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य ।

संपप्पगा य जे पाणा अदुवा पक्खिणा उवचरन्ति ॥ ७ ॥
अदु कुचरा उवचरन्ति गामरक्खा य सत्तिहत्था य ।
अदु गामिया उवसग्गा इत्थी एगइया पुरिसा य ॥ ८ ॥
इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं ।
अवि सुब्भिदुब्भिगन्धाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥ ९ ॥
अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं ।
अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाइ ॥ १० ॥
स जणेहिं तत्थ पुच्छिंसु एगचरावि एगया राओ ।
अव्वाहिए कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥ ११ ॥
अयमंतरंसि को इत्थ ? अहमंसित्ति भिक्खु आहट्टु ।
अयमुत्तमे स धम्मे, तुसिणीए कसाइए भाइ ॥ १२ ॥
जंसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते ।
तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवाय मेसन्ति ॥ १३ ॥
संघाडीओ पवेसिस्सामो एहा य समादहमाणा ।
पिहिया व सक्खामो अइदुक्खं हिमगसंफासा ॥ १४ ॥
तंसि भगवं अपडिन्ने अहे वियडे अहियासए ।
दविए निक्खम्म एगया राओ चाएति भगवं समियाए ॥१५॥
एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया ।
बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीयन्ति ॥ १६ ॥

दशवैकालिक अध्ययन ९ उद्देशा १

(बोल नम्बर ८७०)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥१॥
जे आवि मंदित्ति गुरु विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायण ते गुरूणं ॥२॥

पगईइ मंदावि भवंति एगे, डहरावि अ जे सुअबुद्धोववेआ ।
आयारमंता गुण सुट्ठिअप्पा, जे हीलिआ सिहिरिव भासकुज्जा ॥३॥
जे आवि नागं डहरंति नच्चा, आसायए से अहिआय होइ ।
एवायरियंपि हु हीलयंतो, निअच्छई जाइपहं खु मंदो ॥४॥
आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ।
आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ॥५॥
जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा, आसीविसं वावि हु कोवइज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी, एसोवमासायणया गुरूणं ॥६॥
सिआ हु से पावय नो डहिज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिआ विसं हालहलं न मारे, न आवि मुक्खो गुरु हीलणाए ॥७॥
जो पव्वयं सिरसा भित्तु मिच्छे, सुत्तं व सीहं पडिबोहइज्जा ।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं, एसोवमाऽऽसायणयागुरूणं ॥८॥
सिआ हु सीसेण गिरिं पि भिंदे, सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं, न आवि मुक्खो गुरु हीलणाए ॥९॥
आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥१०॥
जहाहिअग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरिअं उव चिट्ठइज्जा, अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥११॥
जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा अनिच्चं ॥१२॥
लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति, तेऽहं गुरू सययं पूअयामि ॥१३॥
जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासइ केवल भारहं तु ।
एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए, विरायई सुरमज्झेव इंदो ॥१४॥
जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो, नक्खत्ततारागण परिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहइ भिक्खु मज्झे ॥१५॥

महागरा आयरिआ महेसी, समाहिजोगेसुअसीलबुद्धिए ।
सुपाविउ कामे अणुत्तराइ, आराहए तोसइ धम्मकामी ॥ १६ ॥
सुचाण मेहावि सुभासिआइ, सुस्सूसए आयरिअप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे, स पावइ सिद्धिमणुत्तरं ॥ १७ ॥

आचाराग श्रुतस्कन्ध १ अ० ९ उ० ४

(बोल नम्बर ८७८)

ओमायरियं चाएइ अपुट्ठेऽवि भगवं रोगेहिं ।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा, नो से साइज्जई तेइच्छं ॥ १ ॥
संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं च सिणाणं च ।
संबाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए ॥ २ ॥
विरए गामधम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई ।
सिसिरंमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीय ॥ ३ ॥
आयावइ, य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडुए अभितावे ।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥
एयाणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठ मास अ जावय भगवं ।
अवि इत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि ॥ ५ ॥
अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा विहरित्था ।
राओवराय अपडिन्ने अन्नगिलायमेगया भुंजे ॥ ६ ॥
छट्ठेण एगया भुंजे अदुवा अट्ठमेण दसमेणं ।
दुवालसमेण एगया भुंजे पेहमाणो समाहिं अपडिन्ने ॥ ७ ॥
णच्चा णं से महावीरे नोऽवि य पावगं सयमकासी ।
अन्नेहिं वा ण कारित्था कीरंतंपि नाणुजाणित्था ॥ ८ ॥
गामं पविस्स नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए ।
सुविसुद्धमेसिया भगवं आयतजोगयाए सेवित्था ॥ ९ ॥
अदु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता ।

घासेसणाए चिट्ठन्ति सययं निवइए य पेहाए ॥ १० ॥
अदुवा माहणं च समणं वा गामपिण्डोलगं च अतिहिं वा ।
सोवागमूसियारिं वा कुक्कुरं वावि विट्ठियं पुरओ ॥ ११ ॥
वित्तिच्छेयं वज्जन्तो तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो ।
मन्दं परिक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥ १२ ॥
अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिंडं पुराणकुम्मासं ।
अदु वुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे दविए ॥ १३ ॥
अवि झाई से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने ॥ १४ ॥
अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई ।
छउमत्थोऽवि परक्कममाणो न पमायं सइंपि कुव्वित्था ॥ १५ ॥
सयमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहीए ।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ॥ १६ ॥
एस विही अणुक्कंतो माहणेण मईमया ।
बहुसो अपडिन्नेणं भगवया एवं रीयंति ॥ १७ ॥

उत्तराध्ययन अध्ययन ६

(बोल नम्बर ८६७)

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारंमि अणंतए ॥ १ ॥
समिक्ख पंडिए तम्हा, पास जाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥ २ ॥
माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे ।
छिंद गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥ ४ ॥
गवासं मणिकुंडलं, पसवो दासपोरुसं ।
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि ॥ ५ ॥
थावरं जंगमं चेव, धणं धणं उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोयणे ॥ ६ ॥
अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥ ७ ॥
आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि ।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजिज्ज भोयणं ॥ ८ ॥
इहमेगे उ मन्नंति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥ ९ ॥
भणंता अकरिंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेणं, समासासेंति अप्पयं ॥ १० ॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ ११ ॥
जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ १२ ॥
आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणंतए ।
तम्हा सव्वदिसं पस्स, अप्पमत्तो परिव्वए ॥ १३ ॥
बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥ १४ ॥
विविच्च कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए ।
मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥ १५ ॥

सन्निहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाय संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए॥ १६॥
एसणासमिओ लज्जू, गामे अनियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवातं गवेसए॥ १७॥
एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी, अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा णायपुत्ते भयवं वेसालीए वियाहिए॥ १८॥

दशवैकालिक प्रथम चूलिका

(बोल नम्बर ८६८)

इह खलु भो! पव्वइएणं उप्पन्न दुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सिगयंकुसपोअपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारस्स ठाणाइं सम्मंसं पडिलेहिअव्वाइं भवंति तंजहा– हंभो! (१) दुस्समाए दुप्पजीवी (२) लहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा (३) भुज्जो अ साइबहुला मणुस्सा (४) इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सई (५) ओमजणपुरक्कारे (६) वंतस्स य पडिआयणं (७) अहरगइवासोवसंपया (८) दुल्लहे खलु भो! गिहीणं धम्मे गिहवासमज्झे वसंताणं (९) आयंके से वहाय होइ (१०) संकप्पे से वहाय होइ (११) सोवक्केसे गिहवासे निरुवक्केसे परिआए (१२) वंधे गिहवासे मुक्खे परिआए (१३) सावज्जे गिहवासे अणवज्जे परिआए (१४) बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा (१५) पत्तेअं पुण्णपावं (१६) अणिच्चे खलु भो मणुआण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले (१७) बहुं च खलु भो! पावं कम्मं पगडं (१८) पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिन्नाणं दुप्पडि-

रताण वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता तवसा वा झोसइत्ता।
अट्ठारसमं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो—

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥ १ ॥
जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥
जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥
जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४ ॥
जया य माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो।
सिट्ठिव्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ५ ॥
जया अ थेरओ होइ, समइक्कंत जुव्वणो।
मच्छु व्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥ ६ ॥
जया अ कुकुडुंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मइ।
हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥
पुत्तदारपरिकिण्णो, मोहसंताणसंतओ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ८ ॥
अज्ज अहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ।
जइऽहं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥
देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥ १० ॥

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं, रयाण परिआए तहाऽरयाणं।
निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं, रमिज्ज तम्हा परिआए पंडिए ॥ ११ ॥

धम्मा उ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिविज्झाअमिवऽप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला, दाढुड्ढिअं घोरविसं व नागं ॥१२॥
इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ।१३।
भुंजित्तु भोगाइं पसज्झचेअसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं, बोही असे नो सुलहा पुणो पुणो ।१४
इमस्सता नेरइअस्स जंतुणो, दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ।१५
न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥१६॥
जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ, उविंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥१७॥

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ॥१८॥

पुस्तक मिलने का पताः—

श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया
श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था
मरोटियों की गुवाड़
बीकानेर (राजपूताना)

B. K S. RY.